अनुवादक की सूचना

छोटी-छोटी पुस्तकों में भी जब भूमिका देना, प्रचलित प्रथा के अनुसार, अनिवार्य समझा जाता है तब इतने बड़े ग्रन्थ के आरम्भ मे भी भूमिका का होना परमावश्यक है। किन्तु भूमिका या तो स्वय ग्रन्थकार की लिखी होनी चाहिए अथवा ग्रन्थकार से घनिष्ठ परिचय रखने वाले उसके किसी आत्मीय, सम्बन्धी अथवा मित्र की लिखी हुई। ये दोनो प्रथाएँ आज ही प्रचलित हुई हैं, यह कहना उचित न होगा। इस देश मे ये दोनो ही प्रथाएँ प्राचीन काल से प्रचलित जान पडती है। इस इतिहास-ग्रन्थ-रत्न श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण मे भी भूमिका है और यह भूमिका स्वय आदिकवि की लिखी हुई नही, प्रत्युत उनके किसी शिष्य प्रशिष्य की लिखी हुई है। वालकाण्ड के प्रथम सर्ग को छोड़, दूसरे से लेकर चौथे सर्ग तक—तीन सर्ग—आदिकाव्य के भूमिकात्मक हैं। इसको रामायण के टीकाकारो मे श्रेष्ठ, आचार्यप्रवर गोविन्दराज जी ने भी स्वीकार किया है। यथा—

"सर्गत्रयमिदं केनचिद्वाल्मीकिशिष्येण रामायण-निर्वृत्त्यनन्तरं निर्माय वैभवप्रकटनाय संगमितं। यथा याज्ञवल्क्यस्मृत्यादौ तथैव तत्र विज्ञानेश्वरेण व्याकृतं।"

उक्त तीन सर्गों में यत्र-तत्र इस अनुमान को पुष्टि करने वाले प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। यथा चतुर्थ सर्ग का प्रथम श्लोक है—

"प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवान् ऋषिः।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमात्मवान्॥

इस श्लोक में महर्षि वाल्मीकि जी के लिए "भगवान्" और "आत्मवान्" जो दो विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं, वे आदि काव्यरचयिता जैसे मार्मिक एवं सर्वज्ञ ग्रन्थ-रचयिता, शिष्टतावश स्वय अपने लिए कभी व्यवहार में नहीं ला सकते। फिर इस श्लोक के अर्थ पर ध्यान देने से भी स्पष्ट विदित होता है कि, इस श्लोक का कहने वाला ग्रन्थ-रचयिता नहीं, प्रत्युत कोई अन्य ही पुरुष है। अत ग्रन्थ की भूमिका पढ़ने के लिये उत्सुक जनों को, बालकाण्ड के दूसरे तीसरे और चौथे सर्ग को पढ़ सन्तोष कर लेना चाहिए। क्योंकि ग्रन्थ की भूमिका मे जो आवश्यक बात होनी चाहिए, वे सब इसमें पाई जाती हैं। यथा, ग्रन्थ की उत्कृष्टता का दिग्दर्शन, ग्रन्थ में निरूपित विषयों का संक्षिप्त वर्णन, ग्रन्थनिर्माण का प्रकाशन-काल और ग्रन्थ पर लोगों का सम्भाव। ये सभी बातें उक्त तीन सर्गों में पाई जाती हैं। अतएव। इसमे नयी भूमिका जोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

तब हाँ, इस ग्रन्थ के पढ़ने पर ऐतिहासिक दृष्टि से, सामाजिक दृष्टि से, धार्मिक दृष्टि से, राजनीतिक दृष्टि से पढ़ने वाले किन सिद्धान्तो पर उपनीत हो सकते हैं, यह बात दिखलाने की आवश्यकता है। प्राचीन टीकाकारों ने इस प्रयोजनीय विषय की उपेक्षा नहीं की। उन महानुभावों ने भी यथास्थान अपने स्वतंत्र विचार लिपिबद्ध किये हैं। उन्हीं के पथ का अनुसरण कर, इस ग्रंथ के अनुवादक ने भी यथास्थान अपने स्वतंत्र विचारों को व्यक्त करने में अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं की। किन्तु स्थान-स्थान पर जो विचार प्रकट किये गये हैं, वे सूत्ररूप से होने के कारण उनको विशद रूप से व्यक्त करने की आवश्यकता का अनुभव कर, अनुवादक का विचार, ग्रन्थ

के परिशिष्ट भाग में, अपने विचारो को विषयानुक्रम से विस्तार-पूर्वक लिपिबद्ध करने का है। अतएव इस ग्रन्थ के पाठकों को परिशिष्ट भाग छपने तक धैर्य धारण करने का अनुवादक की ओर से साग्रह अनुरोध है।

अनुवादक को अनुवाद के विषय मे विशेप कुछ भी वक्तव्य नही है। जो कुछ भला-बुरा अनुवाद वह कर सकता है, वह प्रकाशक महोदय की प्रेरणा से सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। हिन्दू जाति की इस शोच्य अधः पतित अवस्था मे, इस ग्रन्थरत्न के सुलभ मूल्य पर प्रचार करने से, हिन्दुओ की प्राचीन सभ्यता, प्राचीन संस्कृति और प्राचीन पद्धतिया का जीर्णोद्धार हो, इस ग्रन्थ को हिन्दी भाषा में अनुवाद कर, प्रकाशित करने का अनुवादक और प्रकाशक, दोनो ही का, यह मुख्य उद्देश्य है।

क्वाहं मन्दमतिर्गभीरहृदयं रामायणं तत्क्व च,
व्याख्यानेऽस्य परिश्रमन्नहमहो हासास्पदं धीमताम्।
को भारोऽत्र मम स्वयं कुलगुरुः को दण्डपाणिः कृपा
कूपारोऽरचयत्पदः सपदि मज्जिह्वाग्रसिंहासनः॥

दारागंज–प्रयाग
कार्त्तिक शुक्ला १४शा सं० १९८२

अनुवादक

विषयानुक्रमणिका

भेज कर विश्वामित्र का अन्य ऋषियों को बुलवाना।
वसिष्ठपुत्रों का तथा महोदय नामक ऋषि का बुलाने पर न आना। अत. विश्वामित्र का उनको शाप देना।

साठवाँ सर्ग ४०३—४१०

त्रिशकु के यज्ञ का वर्णन। यज्ञ भाग लेने के लिए उसे यज्ञ में बुलाने पर भी देवताओं का न आना। इस पर क्रुद्ध हो विश्वामित्र का अपने तपोबल से त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग भेजना। किन्तु इन्द्रादि देवताओं को त्रिशकु का सदेह स्वर्ग में आना भला न लगने पर, त्रिशंकु का पृथिवी पर गिरना और "बचाइये बचाइये" कह कर चिल्लाना। तब क्रोध मे भर विश्वामित्र का नयी सृष्टि रचने में प्रवृत्त होना। तब घबड़ा कर देवताओं का विश्वामित्र जी को मनाना। त्रिशकु सदा आकाश में सुखपूर्वक रहें, देवताओं के यह स्वीकार कर लेने पर, नयी सृष्टि रचना से विश्वामित्र का निवृत्त होना।

इकसठवाँ सर्ग ४१०—४१५

दक्षिण दिशा में तप में विघ्न होने पर विश्वामित्र जी का उस दिशा को छोड़ पश्चिम में पुष्कर में जाकर उग्र तप करना। इस बीच में अम्बरीष राजा का यज्ञ करना। उनके यज्ञपशु का इन्द्र द्वारा चुराया जाना। यज्ञ पूरा करने के लिए पुरोहित का अम्बरीष से किसी यज्ञीय नरपशु को लाने का अनुरोध करना। गौओं के लालच में आ ऋचीक का अपने बिचले पुत्र शुनःशेप को राजा के हाथ बेचना। शुनःशेप का ले राजा अम्बरीष का प्रस्थान करना।

।इति

ग्रन्थ में व्यवहृत संकेताक्षरों की व्याख्या

(गो०) गोविन्दराजीय भूषण टीका।

(रा०) नागेश भट्ट की रामाभिरामी टीका।

(शि०) शिवसहायराम की शिरोमणि टीका।

(वि०) विषमपदविवृतिटीका।

(   ) जो वाक्य ऐसे कोष्टक के भीतर हैं वे अनुवादक के अपने हैं और कथा का सङ्गति बैठाने के लिए जोड़ दिये गये हैं।

[टिप्पण] ऐसे कोष्टक के भीतर महीन अक्षरो में जो टिप्पणियाँ दी गयी हैं, वे अनुश्रादक के स्वतंत्र विचार हैं।

(शि० गो०) अनुवाद के जिस श्लोक के अन्त मे (शि०) यह (गो०) अक्षर दिये गये हैं, वहाँ समझना चाहिए कि वह श्लोक शिरोमणि टीकाकार के मतानुसार अथवा गोविन्दराजीय भूषणटीका के अनुसार अनूदित किया गया है।

(ती०) संकेत महेश्वर तीर्थ विरचित टीका के लिए है।

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—:०:—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥१

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥२

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥३॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥४॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥५॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥६॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥७॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥८॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥९॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१०॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥११॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥१२॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:०:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि य ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥२॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥३॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥४॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥५॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥६॥

भवति यदनुभावादेड मूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलि. ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥७॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥८॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥९॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥१०॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥११॥

यः पिबन् सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥१२॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥१३॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥१४॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥१५॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥१६॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥१७॥
यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥१८॥
वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१९॥
आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥२०॥
तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥२१॥
वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥
वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्मनारायणाख्यम् ॥२३॥
भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्न
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥२४॥
महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्त रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥२५॥
मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥२६॥
स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णवे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नम· ॥२७॥
वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया ।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥२८॥
सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांस· प्रीयन्ता गुरवो मम ॥२६॥
हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य नि सरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥३०॥

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधर विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥
वागीशाद्या· सुमनस· सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्या, स्युस्त नमामि गजाननम् ॥२॥
दोर्भिर्युक्ता चतुर्भि· स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्म सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

आसा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमाना समाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥४॥
वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥५॥
यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥६॥
गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥७॥
अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥८॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥९॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥१०॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥११॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥१२॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक् पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥१४॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥१५॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥१६॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१७॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥२०॥

—:०:—



आसाद्य नगरी दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मगलम ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

बालकाण्डः

ॐ

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्[1] ।
[2]नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ॥१॥

तपस्या और स्वाध्याय (वेदपाठ) में निरत और बोलने वालों में श्रेष्ठ, श्रीनारद मुनि जी से वाल्मीकि जी ने पूछा ॥१॥

को न्वस्मिन्सांप्रतं लोके गुणवान्कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥२॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान्कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥३॥

---

१ नारं ज्ञानं तद्ददातीति नारदः । यद्वा

गायन्नारायणकथा सदा पापभयापहाम् ।
नारदो नाशयन्नेति नृणामज्ञानजं तमः ॥

२ यावद्विवक्षितार्थप्रतिपादनक्षमशब्दप्रयोगविदः तेषां वरम् श्रेष्ठं (गो०)

आत्मवान्को[१] जितक्रोधो द्युतिमान्कोऽनसूयकः ।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥४॥

इस समय इस संसार में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ[२] (किये हुए उपकार को न भूलने वाले), सत्यवादी, दृढ़व्रत, अनेक प्रकार के चरित्र करने वाले, प्राणीमात्र के हितैषी, विद्वान्, समर्थ[३], अति दर्शनीय, धैर्यवान्, क्रोध को जीतने वाले, तेजस्वी, ईर्ष्या-शून्य और युद्ध में क्रुद्ध होने पर देवताओं को भी भयभीत करने वाले, कौन है ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम् ॥५॥

हे महर्षे ! यह जानने का मुझे बड़ा चाव है (उत्कट इच्छा है) और आप इस प्रकार के पुरुष को जानने में समर्थ हैं। अर्थात् ऐसे पुरुष को बतला भी सकते हैं ॥ ५ ॥

श्रुत्वा चैतत्त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः ।
श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ॥६॥

यह सुन, तीनों लोकों का (भूत, भविष्य और वर्तमान) वृत्तान्त जानने वाले देवर्षि नारद प्रसन्न हुए और कहने लगे ॥ ६ ॥

बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः ।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥७॥

---

१ आत्मवान्—धर्मवान् (गो०)

२ कई उपकारों की अपेक्षा न कर, एक ही उपकार को बहुत मानने वाले । (रा०) ।

३ लौकिक व्यवहार = प्रजारञ्जनादिक, उसमें कुशल । (रा०)

हे मुनि! आपने जिन गुणों का बखान किया है, वे सब दुर्लभ हैं, किन्तु हम अपनी समझ से ऐसे गुणों से युक्त पुरुष को बतलाते हैं, सुनिये ॥७॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो[1] नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा[2] महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्[3] वशी[4] ॥८॥

महाराज इक्ष्वाकु के वंश मे उत्पन्न श्रीरामचन्द्र जी को सब जन जानते है। वे नियतस्वभाव (मन को वश मे रखने वाले), बड़े बली, अति तेजस्वी, आनन्दरूप, सब के स्वामी ॥८॥

[5]बुद्धिमान्नीतिमान्[6] वाग्मी श्रीमाञ्शत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः[7] कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥९॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥१०॥

सर्वज्ञ, मर्यादावान्, मधुरभाषी, श्रीमान, शत्रुनाशक, विशाल कंधे वाले और गोल तथा मोटी भुजाओं वाले, शङ्ख के समान गरदन पर तीन रेखा वाले, बड़ी ठुड्डी (ठोढ़ी) वाले, चौड़ी छाती वाले और विशाल धनुपधारी हैं। उनकी गरदन की हड्डियाँ

---

१ रमन्ते योगिनोऽन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति राम पदेनासौ पर ब्रह्माभिधीयते।—अगस्त्यसंहितायाम्।

२ नियतात्मा—नियतस्वभावः (गो०) वशीकृतान्तःकरणः (रा०)

३ धृतिमान्—निरतिशयानन्दः (गो०) ४ वशी—सर्वं जगत् वशेऽस्यास्तीति वशी, सर्वस्वामीत्यर्थः (गो०)

५ बुद्धिमान्—सर्वज्ञः (गो०) ६ नीतिमान्—मर्यादावान् (गो०) ७ महाबाहुः—वृत्तपीवरबाहुः (गो०)।

(हसुली हड्डियां) मांस से छिपी हुई हैं, उनकी दोनों बाँहें घुटनों तक लटकती हैं। उनका सिर और मस्तक सुन्दर है और वे बड़े पराक्रमी हैं ॥९॥१०॥

समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
पीनवक्षा विशालाक्षो [1]लक्ष्मीवाञ्शुभलक्षणः ॥११॥

उनके समस्त अङ्ग न बहुत छोटे हैं और न बहुत बड़े हैं, (जो अग जितना लम्बा या छोटा होना चाहिए वह उतना ही लम्बा या छोटा है। उनके शरीर का चिकना सुन्दर रंग है, वे प्रतापी या तेजस्वी हैं। उनकी छाती मांसल है (अर्थात् हड्डियाँ नहीं दिखलाई पड़तीं), उनके दोनों नेत्र बड़े हैं, उनके सब अङ्ग प्रत्यङ्ग सुन्दर हैं और वे सब शुभ लक्षणों से युक्त हैं ॥११॥

धर्मज्ञः[2] सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसंपन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्[3] ॥१२॥

वे शरणागत की रक्षा करना, इस अपने धर्म को जानने वाले हैं। प्रतिज्ञा के दृढ़ (वादे के पक्के), अपनी प्रजा (रियाया) के हितैषी, अपने आश्रितों की रक्षा करने में कीर्ति प्राप्त, सर्वज्ञ, पवित्र, भक्ताधीन, आश्रितों की रक्षा के लिए चिन्तावान् अथवा आश्रितों पर ध्यान रखने वाले हैं ॥१२॥

प्रजापतिसमः श्रीमान्धाता रिपुनिषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥१३॥

---

१ लक्ष्मीवान्—अवयवशोभायुक्तः (गो०)

२ धर्मज्ञः=शरणागतरक्षणरूपं जानातीति धर्मज्ञः (गो०)

३ समाधिमान्—समाधिः आश्रितरक्षणचिन्तातद्वान् (गो०)

रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य[1] च रक्षिता ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥१४॥

वे ब्रह्मा के समान प्रजा का रक्षण करने वाले, अति शोभावान्, सब के पोषक, शत्रु का नाश करने वाले अर्थात् वेदद्रोही और धर्मद्रोही जो उनके शत्रु हैं उनका नाश करने वाले, धर्मप्रवर्तक, स्वधर्म* और ज्ञानी जन के रक्षक हैं। वेद-वेदाङ्ग के तत्त्वों को जानने वाले तथा धनुर्विद्या में अति प्रवीण हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्[2] ।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः[3] ॥१५॥

वे सब शास्त्रों के तत्त्वों को भली भांति जानने वाले,† अच्छी स्मरणशक्ति (याददाश्त) वाले, महा प्रतिभाशाली, सर्वप्रिय, परमसाधु, कभी दैन्य प्रदर्शित न करने वाले अर्थात् बड़े गम्भीर और लौकिक तथा अलौकिक क्रियाओ मे कुशल हैं ॥१५॥

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥१६॥

---

१ स्वजनः—स्वभूतोजनः स्वजनः ज्ञानी (गो०) २ प्रतिभानवान्—श्रुतस्याश्रुतस्य वा झटिति स्फुरणं प्रतिभानम् तद्वान्। (गो०) ३ विचक्षणः—लौकिकालौकिकक्रियाकुशलः (गो०)

* अपने धर्म, अर्थात् यज्ञ, अध्ययन, दान, दण्ड और युद्ध की विशेष रूप से रक्षा करने वाले हैं।

† धर्मशास्त्रपुराणं च मीमांसाऽऽन्वीक्षिकी तथा ।
चत्वार्येतान्युपाङ्गानि शास्त्रज्ञाः संप्रचक्षते ॥

जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्र तक पहुँचती हैं, उसी प्रकार सज्जन जन उन तक सदा पहुँचते हैं अर्थात् क्या अस्त्राभ्यास के समय क्या भोजन-काल में, उन तक अच्छे लोगों की पहुँच सदा रहती है। अच्छे लोगों के लिए उनके पास जाने की मनाही कभी नहीं है। वे परम श्रेष्ठ हैं, वे सबको अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—पशु, पक्षी—जो कोई उनका हो, उसको समान दृष्टि से देखने वाले हैं और सदा प्रियदर्शन हैं ॥१६॥

स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥१७॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः ।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ॥१८॥

वे सब गुणों से युक्त कौसल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं। वे गम्भीरता में समुद्र के समान, धैर्य में हिमालय की तरह, पराक्रम में विष्णु की तरह, प्रियदर्शनत्व में चन्द्रमा की तरह, क्रोध मे कालाग्नि के समान और क्षमा करने में पृथिवी के समान हैं ॥१७॥१८॥

धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः ।
तमेवंगुणसपन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ॥१९॥

वे दान देने में कुबेर के समान हैं अर्थात् जब देते हैं तब अच्छी तरह देते हैं, सत्यभाषण में मानों दूसरे धर्म हैं। ऐसे गुणों से युक्त सत्यपराक्रमी श्री रामचन्द्र जी हैं ॥१९॥

ज्येष्ठं श्रेष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम् ।
प्रकृतीनां[१] हितैर्युक्तं प्रकृतिप्रियकाम्यया ॥२०॥

---

१ प्रकृतीना...युक्त—अनेन सर्वानुकूल्यमुक्त। (गो०)

यौवराज्येन संयोक्तुमैच्छत्प्रीत्या महीपतिः ।
तस्याभिषेकसंभारान्दृष्ट्वा भार्याऽथ कैकयी ॥२१॥

(ऐसे) श्रेष्ठ गुणों से युक्त प्यारे तथा प्रजा के हित को चाहने वाले ज्येष्ठ (पुत्र) श्रीरामचन्द्र जी को, प्रजा की हितकामना के उद्देश्य से, महाराज दशरथ ने प्रीतिपूर्वक युवराज पद देना चाहा। श्रीरामाभिषेक की तैयारियाँ देख, महाराज दशरथ की प्रिय महिषी कैकेयी ने ॥२०॥२१॥

पूर्वं दत्तवरा देवी वरमेनमयाचत ।
विवासनं च रामस्य भरतस्याभिषेचनम् ॥२२॥

पहले पाये हुए दो वरदान (महाराज दशरथ से) माँगे। एक वर से श्रीरामचन्द्र जी के लिए देशनिकाला और दूसरे से (अपने पुत्र) भरत का राज्याभिषेक ॥२२॥

स सत्यवचनाद्राजा धर्मपाशेन संयतः ।
विवासयामास सुतं रामं दशरथः प्रियम् ॥२३॥

धर्मपाश से बद्ध, (अर्थात् अपनी बात के धनी होने के कारण) सत्यवादी महाराज दशरथ ने, प्राणों से भी बढ़ कर अपने प्यारे पुत्र श्रीरामचन्द्र जी को वनगमन की आज्ञा दी ॥२३॥

स जगाम वनं वीरः प्रतिज्ञामनुपालयन् ।
पितुर्वचननिर्देशात्कैकेय्याः प्रियकारणात् ॥२४॥

वीरवर श्रीरामचन्द्र जी पिता की आज्ञा का पालन करने और कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए, पिता की आज्ञानुसार वन को गये ॥२४॥

तं व्रजन्तं प्रियो भ्राता लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ।
स्नेहाद्विनयसम्पन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥२५॥

माता सुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले* स्नेह और विनय से सम्पन्न श्रीलक्ष्मण जी (भ्रातृ-स्नेह-वश)† श्रीरामचन्द्र जी के पीछे हो लिये ॥२५॥

भ्रातरं दयितो भ्रातुः सौभ्रात्रमनुदर्शयन् ।
रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता ॥२६॥
जनकस्य कुले जाता [1]देवमायेव निर्मिता ।
सर्वलक्षणसंपन्ना नारीणामुत्तमा वधूः ।
सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा ॥२७॥

दोनों भाइयों को जाते देख, श्रीराम जी की प्राणों के समान सदा हितैषिणी, राजा जनक की बेटी, साक्षात् लक्ष्मी का अवतार और स्त्रियों के सर्वोत्तम गुणों से युक्त, श्रीसीता जी भी श्रीरामचन्द्र जी के साथ वैसे ही गईं जैसे चन्द्रमा के साथ रोहिणी ॥२६॥२७॥

पौरैरनुगतो दूरं पित्रा दशरथेन च ।
शृङ्गबेरपुरे सूतं गङ्गाकूले व्यसर्जयत् ॥२८॥

इन तीनों के पीछे दूर तक महाराज दशरथ और पुरवासी भी गये। शृंगबेरपुर में पहुँच कर, गङ्गा जी के किनारे, श्रीराम

---

१ देवमायेव निर्मिता—अमृतमन्थनानन्तरमसुरमोहनार्थं निर्मिता विष्णु-मायेव स्थिता (गो०)

* विनय से सम्पन्न। † सुभ्रातृभाव का प्रदर्शन करते हुए।

चन्द्र जी ने (रथ सहित अपने) सारथी (सुमन्त) को भी लौटा दिया ॥२८॥

गुहमासाद्य धर्मात्मा निषादाधिपतिं प्रियम् ।
गुहेन सहितो रामो लक्ष्मणेन च सीतया ॥२९॥
ते वनेन वनं गत्वा नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ।
चित्रकूटमनुप्राप्य[१] भरद्वाजस्य शासनात् ॥३०॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी निषादों (मल्लाहों) के मुखिया अपने प्यारे गुह से मिले । श्रीरामचन्द्र जी, श्रीलक्ष्मण जी, श्रीसीता जी और गुह बहुत जलवाली अर्थात् बड़ी-बड़ी नदियों को पार कर, अनेक वनों में पैदल घूमे-फिरे और भरद्वाज मुनि के बतलाये हुए चित्रकूट में पहुँचे ॥२९॥३०॥

रम्यमावसथं[२] कृत्वा रममाणा वने त्रयः ।
देवगन्धर्वसंकाशास्तत्र ते न्यवसन्सुखम् ॥३१॥

उस रम्य स्थान में तीनों (श्रीराम, श्रीलक्ष्मण और सीता) रम गये अर्थात् पर्णकुटी बनाकर रहने लगे, बस गये । देवताओं और गन्धर्वों की तरह वहाँ ये तीनों सुखपूर्वक रहने लगे ॥३१॥

चित्रकूटं गते रामे पुत्रशोकातुरस्तदा ।
राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन्सुतम् ॥३२॥

---

१ एष एव बिभ्रद्वाजः प्रजा वै वाजः ता एष बिभर्ति
यद्बिभर्त्ति तस्मात् भरद्वाजः—निरुक्तमृगारण्यके ।
भरद्वाजोह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवा (पा), स । इति श्रुतेः
२ रम्यमावसथं कृत्वा पर्णशाला कृत्वा ।

श्रीरामचन्द्र जी के चित्रकूट में पहुँच जाने के बाद (उधर) अयोध्या में पुत्र-वियोग से विकल, महाराज दशरथ, हा राम! हा राम!! कह कर विलाप करते हुए, स्वर्ग को सिधारे ॥३२॥

मृते तु तस्मिन्भरतो वसिष्ठप्रमुखैर्द्विजैः ।
नियुज्यमानो राज्याय नैच्छद्राज्यं महाबलः ॥३३॥

(इस प्रकार) महाराज के स्वर्गवासी होने पर, वसिष्ठादि प्रमुख द्विजवर्यों ने, श्रीभरत जी को राजतिलक करना चाहा, किन्तु भरत जी ने यह स्वीकार न किया ॥२३॥

स जगाम वनं वीरो रामपादप्रसादकः[१] ।
गत्वा तु सुमहात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ॥३४॥

और वे पूज्य श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न कर, मनाने को उनके पास वन में गये। सत्यपराक्रमी, परम महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के पास पहुँच कर, ॥३४॥

अयाचद्[२] भ्रातरं राममार्यभावपुरस्कृतः ।
त्वमेव राजा धर्मज्ञ इति रामं वचोऽब्रवीत् ॥३५॥

उन्होंने अत्यन्त विनय भाव से प्रार्थना की—हे राम! आप धर्मज्ञ हैं (अर्थात् यह धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि, बड़े भाई के सामने छोटा भाई राज्य नहीं पा सकता) अतः आप ही राजा होने योग्य हैं ॥३५॥

---

१ रामपादप्रसादक पूज्य राम प्रसादयितुमित्यर्थः (गो०) २ अयाचत् —प्रार्थयामास (गो०)

रामोऽपि परमोदारः सुमुखः[१] सुमहायशाः[२] ।
न चैच्छत्पितुरादेशाद्राज्यं रामो महाबलः ॥३६॥

किन्तु श्रीराम जी के अति उदार, अत्यन्त प्रसन्नवदन और अति यशस्वी होने पर भी, इन महाबली श्रीराम जी ने पिता के आदेशानुकूल, राज्य करना स्वीकार नहीं किया ॥३६॥

पादुके चास्य राज्याय न्यासं दत्त्वा* पुनः पुनः ।
निवर्तयामास ततो भरतं भरताग्रजः ॥३७॥

राज्य का कार्य चलाने के लिए भरताग्रज श्रीराम जी ने अपनी (प्रतिनिधि रूपी) खड़ाऊँ (भरत को) दी और अनेक वार समझा कर भरत जी को लौटाया ॥३७॥

स काममनवाप्यैव रामपादावुपस्पृशन् ।
नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं रामागमनकाङ्क्षया ॥३८॥

भरत जी अपने मनोरथ को इस प्रकार प्राप्त कर तथा श्रीराम जी के चरणों को स्पर्श कर तथा श्रीरामचन्द्र जी के लौटने की प्रतीक्षा करते हुए, नन्दिग्राम में रह कर, राज्य करने लगे ॥३८॥

गते तु भरते श्रीमान्सत्यसंधो जितेन्द्रियः[३] ।
रामस्तु पुनरालक्ष्य नागरस्य जनस्य च ॥३९॥

---

१ सुमुखः—अर्थिजनलाभेन प्रसन्नमुखः (गो०) २ सुमहायशाः "न ह्यर्थिनः कार्यवशादुपेताः काकुत्स्थवंशे विमुखाः प्रयान्ति" विष्णुपुराणे (गो०) ३ जितेन्द्रियः—मातृभरतादिप्रार्थनाव्याजे सत्यपि राज्यभोगलौलित्यरहितः (गो०)

* पुनः पुनः इत्यनेन भरतस्य रामविरहासहिष्णुत्व द्योत्यते । (गो०)

खरं त्रिशिरसं चैव दूषणं चैव राक्षसम् ।
निजघान रणे रामस्तेषां चैव पदानुगान्[१] ॥४७॥

कामरूपिणी (अपनी इच्छानुसार अपना रूप बदलने वाली) राक्षसी सूपनखा को, उन्होंने विरूप किया। तत्पश्चात् सूपनखा के वाक्यों से उत्तेजित हो लड़ने के लिए आये हुए खरदूषण-त्रिशिरादि तथा उनके सब अनुचरों को श्रीरामचन्द्र जी ने युद्ध में मार डाला ॥४६॥४७॥

वने तस्मिन्निवसता जनस्थाननिवासिनाम् ।
रक्षसां निहतान्यासन्सहस्राणि चतुर्दश ॥४८॥

उस वन मे बसते हुए, श्रीरामचन्द्र जी ने चौदह हजार जन-स्थानवासी राक्षसो को मार डाला ॥४८॥

ततो ज्ञातिवधं श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्छितः ।
सहायं वरयायास मारीचं नाम राक्षसम् ॥४९॥

अपनी जाति वालों के वध का (यह) संवाद सुन, रावण बहुत क्रुद्ध हुआ और मारीच नाम राक्षस से सहायता माँगी ॥४९॥

वार्यमाणः सुबहुशो मारीचेन स रावणः ।
न विरोधो बलवता क्षमो रावण तेन ते ॥५०॥

मारीच ने रावण को बहुत मना किया (और कहा कि) हे रावण ! अपने से अधिक बलवान के साथ शत्रुता करनी अच्छी बात नहीं है ॥५०॥

---

१ पदानुगान्—अनुचरांश्च (गो०)

अनादृत्य तु तद्वाक्यं रावणः कालचोदितः ।
जगाम सहमारीचस्तस्याश्रमपदं तदा ॥५१॥

किन्तु कालवशवर्त्ती रावण ने मारीच की बातों का अनादर किया और उसी समय मारीच को साथ ले वह उस आश्रम में गया जहाँ श्रीरामचन्द्र जी रहते थे ॥५१॥

तेन मायाविना[1] दूरमपवाह्य नृपात्मजौ ।
जहार भार्यां रामस्य गृध्रं हत्वा जटायुषम् ॥५२॥

मारीच दोनों राजकुमारों को आश्रम से दूर ले गया। उसी समय रावण, जटायु नामक गिद्ध को मार, श्रीरामचन्द्र जी की भार्या श्रीजानकी जी को हर ले गया ॥५२॥

गृध्रं च निहतं[2] दृष्ट्वा हृतां श्रुत्वा च मैथिलीम् ।
राघवः शोकसंतप्तो विललापाकुलेन्द्रियः ॥५३॥

जटायु को मृतप्राय दशा में देख और उससे सीता जी का हरा जाना सुन, श्रीरामचन्द्र जी बहुत शोकसन्तप्त हुए और विकल हो उन्होंने विलाप किया ॥५३॥

ततस्तेनैव शोकेन गृध्रं दग्ध्वा जटायुषम् ।
मार्गमाणो वने सीतां राक्षसं संददर्श ह ॥५४॥

तत्पश्चात् उस शोक से व्याकुल श्रीराम जी ने, जटायु की दाहक्रिया कर, वन में सीता जी को ढूँढ़ते समय, एक राक्षस को देखा ॥५४॥

कबन्धं नाम रूपेण विकृतं घोरदर्शनम् ।
तं निहत्य महाबाहुर्ददाह स्वर्गतश्च सः ॥५५॥

---

१ मायाविना—मारीचेन (रा०) २ निहत—मुमूर्षु (गो०)

उस राक्षस का नाम कबन्ध था और वह बड़ा विकराल और भयङ्कर रूप का था। श्रीरामचन्द्र जी ने उसे मार कर, दग्ध किया जिससे वह स्वर्ग गया ॥५५॥

स चाऽऽस्य कथयामास शबरीं धर्मचारिणीम् ।
श्रमणीं[1] धर्मनिपुणाम[2] भिगच्छेति राघवम् ॥५६॥

स्वर्ग जाते समय कबन्ध ने तपस्विनी धर्मचारिणी शबरी के पास जाने के लिए श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥५६॥

सोऽभ्यगच्छन्महातेजाः शबरीं शत्रुसूदनः ।
शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः ॥५७॥

शत्रु के नाश करने वाले महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी शबरी के पास गये। शबरी ने दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी का भली भाँति पूजन किया ॥५७॥

पम्पातीरे हनुमता संगतो वानरेण ह[3] ।
हनुमद्वचनाच्चैव सुग्रीवेण समागतः ॥५८॥

पपासर के समीप उनकी भेंट हनुमान नामक बंदर से हुई और हनुमान जी के कहने पर, श्रीरामचन्द्र जी का सुग्रीव से समागम हुआ ॥५८॥

सुग्रीवाय च तत्सर्वं शंसद्रामो महाबलः ।
आदितस्तद्यथावृत्तं सीतायाश्च विशेषतः ॥५९॥

पराक्रमी श्रीरामजी ने आदि से लेकर और विशेष कर सीता जी के हरे जाने का, सब हाल सुग्रीव से कहा ॥५९॥

---

१ श्रमणीं—तपस्विनीम् (गो०) नृपाया वैश्यतो जातः शबरः परिकीर्त्तित. । मधूनि हसादानीय विक्रीणीते स्ववृत्तये । नारदीये २ धर्मनिपुणाम् —धर्मसूक्ष्मज्ञा (गो०) ३ ह—इति हर्षे (शि०)

सुग्रीवश्चापि तत्सर्वं श्रुत्वा रामस्य वानरः ।
चकार सख्यं रामेण प्रीतश्चैवाग्निसाक्षिकम् ॥ ६० ॥

वानर सुग्रीव ने भी श्रीरामचन्द्र जी का सारा वृत्तान्त सुन और अग्नि को साक्षी कर श्रीराम जी से मैत्री की ॥६०॥

ततो वानरराजेन वैरानुकथनं प्रति ।
रामायावेदितं सर्वं प्रणयाद्दुःखितेन च ॥६१॥

तदनन्तर वानरराज ने श्रीरामचन्द्र जी से दुःखी हो बाली के साथ शत्रुता होने का सम्पूर्ण हाल कहा ॥६१॥

प्रतिज्ञातं च रामेण तदा वालिवधं प्रति ।
वालिनश्च बलं तत्र कथयामास वानरः ॥६२॥

उसे सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने बाली के वध की प्रतिज्ञा की । तब सुग्रीव ने बाली के बल-पराक्रम का वर्णन किया ॥६२॥

सुग्रीवः शङ्कितश्चासीन्नित्यं वीर्येण राघवे ।
राघवप्रत्ययार्थं[1] तु दुन्दुभेः काय[2]मुत्तमम्[3] ॥६३॥

सुग्रीव को श्रीरामचन्द्र जी के अत्यंत बली होने में शङ्का थी, अतः श्रीरामचन्द्र जी की जानकारी के लिए दुन्दुभी राक्षस के बड़े लंबे शरीर की हड्डियों का ॥६३॥

दर्शयामास सुग्रीवो महापर्वतसंनिभम् ।
उत्स्मयित्वा महाबाहुः प्रेक्ष्य चास्थि महाबलः ॥६४॥

---

१ राघवप्रत्ययार्थं—रामविषयज्ञानार्थं (गो०) २ काय—कायाकारास्थि (गो०) ३ उत्तम—उन्नत (गो०)

ढेर, जो एक बड़े पहाड़ के समान था, सुग्रीव ने लंबी भुजाओं वाले श्रीरामचन्द्र जी को दिखलाया। उसको देख महा बलवान् श्रीरामचन्द्र जी मुसक्याए ॥६४॥

पादांगुष्ठेन चिक्षेप[1] संपूर्णं दशयोजनम् ।
बिभेद च पुनः सालान्सप्तैकेन महेषुणा ॥६५॥

और पैर के अँगूठे की ठोकर से हड्डियों के उस ढेर को वहाँ से दस योजन दूर फेंक दिया। फिर एक ही बाण सात ताल वृक्षों को छेदता हुआ, ॥६५॥

गिरिं रसातलं चैव जनयन्प्रत्ययं तदा ।
ततः प्रीतमनास्तेन विश्वस्तः स महाकपिः ॥६६॥

पहाड़ फोड़, रसातल को चला गया। तब तो सुग्रीव का संदेह दूर हो गया। तदनन्तर सुग्रीव प्रसन्न हो और विश्वास कर ॥६६॥

किष्किन्धां रामसहितो जगाम च गुहां[2] तदा ।
ततोऽगर्जद्धरिवरः सुग्रीवो हेमपिङ्गलः ॥६७॥

श्रीरामजी को साथ ले गुफा की तरह पर्वतों के बीच बसी हुई किष्किन्धा पुरी को गये। वहाँ पहुँच पीले नेत्रों वाले सुग्रीव ने जोर से गर्जना की ॥६७॥

तेन नादेन महता निर्जगाम हरीश्वरः ।
अनुमान्य[3] तदा तारां सुग्रीवेण समागतः ॥६८॥

---

१ उत्क्षिप्य चिक्षेप उद्यम्य चिक्षेप (गो०) २ गुहा—गुहावत्पर्वतमध्यवर्तिनीं पुरीं (गो०) ३ अनुमान्य—परिसान्त्व्य , सन्तोष्य (गो०)

उस महागर्जन को सुन महाबली बाली बाहर निकला। (तारा के मना करने पर) बालि ने तारा को समझाया और वह सुग्रीव से आ भिड़ा ॥६८॥

निजघान च तत्रैनं[1] शरेणैकेन राघवः।
ततः सुग्रीववचनाद्धत्वा वालिनमाहवे[2] ॥६९॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इसी बीच में एक ही बाण से युद्ध करते हुए बाली को मार डाला। तदनन्तर सुग्रीव के कहने से सुग्रीव से युद्ध करते समय वाली को मार कर, ॥६९॥

सुग्रीवमेव तद्राज्ये राघवः प्रत्यपादयत्।
स च सर्वान्समानीय वानरान्वानरर्षभः ॥७०॥

श्री रामचन्द्रजी ने किष्किन्धा का राज्य सुग्रीव को दे दिया। तब वानरों के राजा सुग्रीव ने वानरों को एकत्र कर ॥७०॥

दिशः प्रस्थापयामास दिदृक्षुर्जनकात्मजाम्।
ततो गृध्रस्य वचनात्संपातेर्हनुमान्बली ॥७१॥

उनको सीता जी को खोजने के लिए चारों ओर भेजा। तब सम्पाति नामक गृद्ध के बतलाने पर, महाबली हनुमान् ने ॥७१॥

शतयोजनविस्तीर्णं पुप्लुवे लवणार्णवम्।
तत्र लङ्कां समासाद्य पुरीं रावणपालिताम् ॥७२॥

सौ योजन चौड़े खारी समुद्र को लाँघ, रावणपालित लंकापुरी में पहुँच ॥७२॥

---

१ एवं—परेण युद्धक्तमपि वालिनम् (गो०)
२ आहवे—सुग्रीवस्य युद्धे (गो०)

दुदर्श सीतां ध्यायन्तीमशोकवनिकां गताम् ।
निवेदयित्वाऽभिज्ञानं प्रवृत्तिं च निवेद्य च ॥७३॥

अशोकवन मे श्रीरामचन्द्र जी के ध्यान में मग्न सीता जी को देखा । फिर श्रीरामचन्द्र जी की दी हुई अँगूठी सीता जी को दे दी और श्रीरामचन्द्र जी का सब हाल कह ॥७३॥

समाश्वास्य च वैदेहीं मर्दयामास तोरणम्[1] ।
पञ्च सेनाग्रगान्हत्वा सप्त मन्त्रिसुतानपि ॥७४॥

सीता जी को धीरज बँधाया । फिर अशोकवाटिका के बाहर वाले बड़े फाटक को तोड़ डाला तथा (रावण के) पांच सेनापतियों को, सात मन्त्रि-पुत्रों को ॥७४॥

शूरमक्षं च निष्पिष्य ग्रहणं समुपागमत् ।
अस्त्रेणोन्मुक्तमात्मानं ज्ञात्वा पैतामहाद्वरात् ॥७५॥

और शूरवीर (रावणपुत्र) अक्षयकुमार को पीस कर (अर्थात् मार कर) आत्मसमर्पण किया । हनुमान जी ने ब्रह्मा जी के वरदान के प्रभाव से अपने को ब्रह्मास्त्र से मुक्त जान कर भी ॥७५॥

मर्षयन्राक्षसान्वीरो यन्त्रिणस्तान्य[2]दृच्छया ।
ततो दग्ध्वा पुरीं लङ्कामृते सीतां च मैथिलीम् ॥७६॥

छूटने का कोई यत्न न किया । और अपने को रस्सी से बँधवा राक्षसो द्वारा इधर-उधर खिंचवाया । फिर श्री सीता जी के स्थान को छोड़ समस्त लंका को भस्म कर ॥७६॥

---

१ तोरण—अशोकवनिकाबहिर्द्वारम् (गो०)
२ यदृच्छया—प्रयत्न विना ।

रामाय प्रियमाख्यातुं पुनरायान्महाकपिः ।
सोऽभिगम्य महात्मानं कृत्वा रामं प्रदक्षिणम् ॥७७॥

हनुमान जी, श्रीराम जी को यह सुखदायी संवाद सुनाने को लौट आये। श्रीरामचन्द्र जी की परिक्रमा कर, बलवान हनुमान जी ने ॥७७॥

न्यवेदयदमेयात्मा[1] दृष्टा सीतेति तत्त्वतः[2] ।
ततः सुग्रीवसहितो गत्वा तीरं महोदधेः ॥७८॥

सीता जी के देखने का ज्यों का त्यों समस्त वृत्तान्त उनसे कहा। तब सुग्रीव आदि को साथ ले (श्रीरामचन्द्र जी) समुद्र के तट पर पहुँचे ॥७८॥

समुद्रं क्षोभयामास शरैरादित्यसंनिभैः ।
दर्शयामास चात्मानं समुद्रः सरितांपतिः ॥७९॥

और सूर्य के समान चमचमाते (अर्थात् पैने) बाणों से समुद्र को क्षुब्ध कर डाला। तब नदीपति समुद्र सामने आया ॥७९॥

समुद्रवचनाच्चैव नलं सेतुमकारयत् ।
तेन गत्वा पुरीं लङ्कां हत्वा रावणमाहवे ॥८०॥

समुद्र के कथनानुसार नल ने समुद्र का पुल बाँधा। उस पुल पर हो कर श्रीरामचन्द्र जी लंका पहुँचे और युद्ध में रावण का वध कर ॥८०॥

रामः सीतामनुप्राप्य परां व्रीडामुपागमत् ।
तामुवाच ततो रामः परुषं जनसंसदि[3] ॥८१॥

---

१ अमेयात्मा—अपरिमितधैर्ययत्नादिवान् (गो०) २ तत्त्वतः—यथावत् (गो०) ३ जनसंसदि—देवादिसभायां (गो०)

सीता जी को प्राप्त कर वे बहुत संकोच में पड़ गये। श्रीरामचन्द्र जी ने सब के सामने सीता जी से कठोर वचन कहे ॥८१॥

अमृष्यमाणा सा सीता विवेश ज्वलनं सती।
ततोऽग्निवचनात्सीतां ज्ञात्वा[1] विगतकल्मषाम् ॥८२॥

उन कठोर वचनों को न सह कर, सीता जी ने जलती आग में प्रवेश किया। तब अग्निदेव की साक्षी से सीता को निष्पाप जान ॥८२॥

बभौ रामः संप्रहृष्टः पूजितः सर्वदैवतैः।
कर्मणा तेन महता त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥८३॥

सब देवताओं से पूजित श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए। महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के इस कार्य से (रावणवध से) तीनों लोकों के चर, अचर ॥८३॥

सदेवर्षिगणं तुष्टं राघवस्य महात्मनः।
अभिषिच्य च लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ॥८४॥

देव और ऋषि सन्तुष्ट हुए। तदनन्तर राक्षसराज विभीषण को लंका के राजसिंहासन पर बिठा ॥८४॥

कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रमुमोद ह।
देवताभ्यो वरं प्राप्य समुत्थाप्य च वानरान् ॥८५॥

श्रीरामचन्द्र कृतार्थ हुए, निश्चिन्त हुए और हर्षित हुए। देवताओं से वर पा और मृत वानरों को फिर जीवित करा, ॥८५॥

अयोध्यां प्रस्थितो रामः पुष्पकेण सुहृद्वृतः।
भरद्वाजाश्रमं गत्वा रामः सत्यपराक्रमः ॥८६॥

---

१ विगतकल्मषा = दोष-गन्ध-रहिता (गो०)

सुग्रीव विभीषणादि सहित पुष्पक विमान में बैठ कर अयोध्या को रवाना हुए। भरद्वाज ऋषि के आश्रम में पहुँच सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने, ॥८६॥

भरतस्यान्तिकं रामो हनूमन्तं व्यसर्जयत्।
पुनराख्यायिकां[1] जल्पन्सुग्रीवसहितस्तदा ॥८७॥

हनुमान जी को भरत जी के पास भेजा फिर सुग्रीव से अपना पूर्व वृत्तान्त कहते हुए ॥८७॥

पुष्पकं तत्समारुह्य नन्दिग्रामं ययौ तदा।
नन्दिग्रामे जटां हित्वा[2] भ्रातृभिः सहितोऽनघः[3] ॥८८॥

(श्री रामचन्द्र) पुष्पक पर सवार हो, नन्दिग्राम में पहुँचे। अच्छी तरह पिता की आज्ञा पालन करने वाले श्रीरामचन्द्र जी भाइयों सहित जटा विसर्जन कर, अर्थात् बड़े बड़े बालों को कटवा ॥८८॥

रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान्।
प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः ॥८९॥

और सीता को प्राप्त कर, अयोध्या की राजगद्दी पर बिराजे। श्रीरामचन्द्र जी के राज-सिंहासनासीन होने पर, सब प्रजाजन आनन्दित, सन्तुष्ट और पुष्ट तथा सुधार्मिक हो गये हैं ॥८९॥

निरामयो[4] ह्यरोगश्च[5] दुर्भिक्षभयवर्जितः।
न पुत्रमरणं केचिद्द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित् ॥९०॥

---

१ आख्यायिका—पूर्ववृत्तकथा (गो०) २ हित्वा—शोधयित्वा (गो०) ३ अनघः—सम्यगनुष्ठितपितृवचनः ४ निरामय.—शरीररोगरहितः (गो०) ५ अरोग.—मानसव्याधिरहितः (गो०)

उनको न तो कोई शारीरिक व्यथा ही रही है और न मानसिक चिन्ता ही और न दुर्भिक्ष ही का भय रह गया। किसो पुरुष को पुत्रशोक नहीं होता है ॥६०॥

नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः ।
न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः ॥६१॥

और न कोई स्त्री कभी विधवा होती है। सब स्त्रियाँ पतिव्रता ही हैं और होंगी। न कभी किसी के घर में आग लगती है और न कोई जल मे डूब कर ही मरता है ॥६१॥

न वातजं भयं किंचिन्नापि ज्वरकृतं तथा।
न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा ॥६२॥

इस प्रकार न तो कभी आंधी-तूफान से हानि होती है और न ज्वर आदि महामारी का भय उत्पन्न होता है। न कोई भूखों मरता है और न किसी के घर चोरी होती है ॥६२॥

नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च ।
नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा ॥६३॥

राजधानी और राष्ट्र धन-धान्य से भरे पूरे रहते हैं।* सब लोग उसी प्रकार आनन्द सहित दिन बिताते हैं जैसे सत्ययुग में लोग बिताया करते हैं ॥६३॥

अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः ।
गवां कोट्ययुतं दत्त्वा ब्रह्मलोकं गमिष्यति ॥६४॥

---

* यह रामायण उस समय बनी थी जिस समय श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक हो चुका था और वे राज्य कर रहे थे। इसलिये यहाँ पर वर्त्तमानकालिक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है।

श्रीरामचन्द्र जी ने सौ अश्वमेध यज्ञ किये हैं और ढेरों सुवर्ण का दान दिया है। नारद जी वाल्मीकि जी से कहते हैं, महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी करोड़ों गौएँ देकर वैकुण्ठ में जायँगे ॥९४॥

असंख्येयं धनं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यो महायशाः ।
राजवंशाञ्शतगुणान्स्थापयिष्यति राघवः ॥९५॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी ब्राह्मणों को अपरिमित धन देकर, राजवंश की प्रथम से सौ गुनी अधिक उन्नति करेंगे ॥९५॥

चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन्स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥९६॥

और चारों वर्णों के लोगों को अपने-अपने वर्णानुसार कर्त्तव्य पालन मे लगावेंगे। ११,००० वर्षों, ॥९६॥

रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ।
इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च संमितम्[1] ॥
यः पठेद्रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥९७॥

फलस्तुति

राज्य कर, श्रीरामचन्द्र जी वैकुण्ठ जायँगे। इस पुनीत, पाप छुड़ाने वाले, पुण्यप्रद, रामचरित को जो पढ़ता है, वह सब पापों से छूट जाता है; क्योंकि यह सब वेदों के तुल्य है ॥९७॥

एतदाख्यानमायुष्यं पठन्रामायणं नरः ।
सपुत्रपौत्रः सगणः प्रेत्य स्वर्गे महीयते[2] ॥९८॥

---

१ वेदैश्च समितम्—सर्ववेदसदृशमित्यर्थः (गो०) २ महीयते—पूज्यते (गो०)

आयु बढ़ाने वाली (बालरामायण की) कथा को जो श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक पढ़ता है, वह अन्त में पुत्र-पौत्रों और नौकर चाकरों सहित स्वर्ग में पूजा जाता है ॥९८॥

पठन्द्विजो वागृषभत्वमीया[१]-
स्स्यात्क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीया-
ज्जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ॥९९॥

इति प्रथमः सर्गः

इस बालरामायण को ब्राह्मण पढ़े तो वह वेद-शास्त्रों मे पारङ्गत हो, क्षत्रिय पढ़े तो पृथ्वीपति हो, वैश्य पढ़े तो उसका अच्छा व्यापार चले और शूद्र पढ़े तो उसका महत्त्व अर्थात् अपनी जाति में श्रेष्ठत्व बढ़े या उन्नति हो ॥९९॥

बालकाण्ड का प्रथम सर्ग पूरा हुआ ।

[इन ९९ श्लोकों के प्रथम सर्ग ही का नाम "मूलरामायण" या बाल-रामायण है । इसका स्वाध्याय प्रायः आस्तिक हिन्दू नित्य किया करते हैं । इसको ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के अतिरिक्त शूद्र भी पढ़ सकते हैं, यह बात ९९वें श्लोक से स्पष्ट होती है ।]

—.०:—

द्वितीयः सर्गः

—०:—

नारदस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः[२] ।
पूजयामास धर्मात्मा सहशिष्यो महामुनिः ॥१॥

---

१ ईयात्—प्राप्नुयात् (गो०) २ वाक्यविशारदः—वाक्ये विशारदो विद्वान् (गो०)

देवर्षि नारद के मुख से यह वृत्तान्त सुन चुकने पर, महर्षि एवं विद्वान् वाल्मीकि ने अपने शिष्य भरद्वाज सहित नारद जी का पूजन किया ॥१॥

[देवर्षि होने के कारण वे महामुनि भरद्वाज के पूज्य थे ।]

यथावत्पूजितस्तेन[1] देवर्षिर्नारदस्तदा ।
आपृच्छ्यैवाभ्यनुज्ञातः स जगाम विहायसम्[2] ॥२॥

देवर्षि नारद जी वाल्मीकि जी से यथाविधि पूजित हो और उनसे जाने की अनुमति प्राप्त कर, वहाँ से आकाश की ओर चले गये ॥२॥

स मुहूर्तं गते तस्मिन्देवलोकं मुनिस्तदा ।
जगाम तमसातीरं जाह्नव्यास्त्वविदूरतः ॥३॥

वाल्मीकि जी, नारद जी के देवलोक चले जाने के दो घड़ी बाद, उस तमसा नदी के तट पर पहुँचे, जो श्रीगङ्गा जी से थोड़ी ही दूर पर थी ॥३॥

स तु तीरं समासाद्य तमसाया मुनिस्तदा ।
शिष्यमाह स्थितं पार्श्वे दृष्ट्वा तीर्थमकर्दमम् ॥४॥

नदी के तट पर पहुँच और नदी का स्वच्छ जल (अर्थात् कीचड़ रहित) देख, महर्षि वाल्मीकि जी पास खड़े हुए अपने शिष्य भरद्वाज से बोले ॥४॥

अकर्दममिदं तीर्थं भरद्वाज निशामय[3] ।
रमणीयं प्रसन्नाम्बु[4] सन्मनुष्यमनो यथा ॥५॥

---

१ 'नारदाद्या मुनर्षयः । २ विहायसम्—आकाशं जगाम (गो०)
३ निशामय—पश्य (गो०) ४ प्रसन्नाम्बु—स्वच्छजलम् (गो०)

हे भरद्वाज! देखो तो इस नदी का जल वैसा ही स्वच्छ और रम्य है जैसा सज्जन जन का मन ॥५॥

न्यस्यतां कलशस्तात दीयतां वल्कलं मम।
इदमेवावगाहिष्ये[1] तमसातीर्थमुत्तमम् ॥६॥

हे वत्स! कलसे को तो जमीन पर रख दो और हमारा वल्कल वस्त्र हमें दो। हम इस उत्तम तीर्थ तमसा नदी में, स्नान करेंगे ॥६॥

एवमुक्तो भरद्वाजो वाल्मीकेन महात्मना।
प्रायच्छत[2] मुनेस्तस्य वल्कलं नियतो[3] गुरोः ॥७॥

महर्षि वाल्मीकि के इस कथन को सुन, उनके शिष्य भरद्वाज ने उनको वल्कल (वस्त्र) दिया ॥७॥

स शिष्यहस्तादादाय वल्कलं नियतेन्द्रियः।
विचचार ह पश्यंस्तत्सर्वतो विपुलं वनम् ॥८॥

शिष्य के हाथ से वल्कल ले, महर्षि विशाल वन की शोभा निरखते हुए टहलने लगे ॥ ८ ॥

तस्या[4]भ्याशे[5] तु मिथुनं चरन्तम[6]नपायिनम्[7]।
ददर्श भगवांस्तत्र क्रौञ्चयोश्चारुनिःस्वनम् ॥९॥

---

१ अवगाहिष्ये—अत्रैव स्नास्यामि (गो०) २ प्रायच्छत—प्रादात् (गो०) ३ गुरोर्नियतः—परतन्त्रः भरद्वाज. (गो०) ४ तस्य—तीर्थस्य (गो०) ५ अभ्याशे—समीपे (गो०) ६ चरन्तम्—विहरन्तम् (रा०) विद्वान् (गो० [७ अनपा]यिनम्—वियोगशून्यम् (गो०)

नदी के समीप ही उस वन में महर्षि वाल्मीकि जी ने मीठी बोली बोलने वाले वियोगशून्य एवं विहार करते (जोड़ा खाते) हुए क्रौंच पक्षी के एक जोड़े को देखा ॥९॥

तस्मात्तु मिथुनादेकं पुमांसं पापनिश्चयः[1] ।
जघान वैरनिलयो[2] निषादस्तस्य पश्यतः ॥१०॥

इतने में पक्षियों के शत्रु एक बहेलिये ने उस जोड़े में से नर क्रौंच पक्षी को वाल्मीकि जी के सामने ही मार डाला ॥१०॥

तं शोणितपरीताङ्गं वेष्टमानं महीतले ।
भार्या तु निहतं दृष्ट्वा रुराव करुणां गिरम् ॥११॥

उस क्रौंच पक्षी की मादा अपने नर को रक्त से लथ-पथ और पृथ्वी पर छटपटाते हुए देख, करुणस्वर से विलाप करने लगी ॥११॥

वियुक्ता पतिना तेन द्विजेन[3] सहचारिणा ।
ताम्रशीर्षेण मत्तेन पत्रिणा[4] सहितेन वै ॥१२॥

वह क्रौंची अब उस लाल चोटी वाले काममत्त और सम्भोग करने के लिए पर फैलाये हुए नर-पक्षी से रहित हो गई अथवा उससे उसका वियोग हो गया ॥१२॥

तथा तु तं द्विजं दृष्ट्वा निषादेन निपातितम् ।
ऋषेर्धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत ॥१३॥

---

१ पापनिश्चयः—रतिसमयेऽपि हननकरणात् क्रूरनिश्चयः (गो०) २ वैरनिलयः—अकारणद्रोहाश्रयः (रा०) ३ द्विजेन—पक्षिणा (गो०) ४ पत्रिणा—सम्भोगार्थम् विस्तारितपत्रिणा (शि०)

बहेलिया द्वारा पक्षी को गिरा हुआ देख, धर्मात्मा ऋषि के मन मे बड़ी दया आई ॥१३॥

ततः करुणवेदित्वादधर्मोऽयमिति द्विजः ।
निशाम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिदं वचनमब्रवीत् ॥१४॥

इस पाप-पूरित हिंसा कर्म को और विलाप करती हुई क्रौंची को देख, महात्मा वाल्मीकि ने यह कहा ॥१४॥

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥१५॥

हे बहेलिये ! तूने जो इस कामोन्मत्त नरपक्षी को मारा है, इसलिए तू अनेक वर्षों तक इस वन में न आना। अथवा तुझे सुख-शान्ति न मिले ॥१५॥

तस्यैवं ब्रुवतश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः ।
शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया ॥१६॥

यह कह चुकने पर और मन में इसका अर्थ विचारने पर, वाल्मीकि जी को बड़ी चिन्ता हुई कि, इस पक्षी के कष्ट से कष्टित हो, मैंने यह क्या कह डाला ! ॥१६॥

चिन्तयन्स महाप्राज्ञश्चकार मतिमान्[1] मतिम् ।
शिष्यं चैवाब्रवीद्वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः ॥१७॥

बड़े बुद्धिमान् और शास्त्रज्ञ वाल्मीकि जी सोचने लगे, तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ ने निज शिष्य भरद्वाज से यह कहा ॥१७॥

---

१ मतिमान्—शास्त्रज्ञानवान (गो०)

पादबद्धोऽक्षरशमस्तन्त्रीलयसमन्वितः ।
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥१८॥

देखो, यह श्लोक हमने मुख से शोकार्त्त हो निकाला है, इसमें चार पाद हैं, प्रत्येक पाद में समान अक्षर हैं और वीणा पर भी यह गाया जा सकता है। अतः यह यशोरूप हो अर्थात् यह प्रसिद्ध हो कर मेरा यश बढ़ावे, अपयश नहीं ॥१८॥

शिष्यस्तु तस्य ब्रुवतो मुनेर्वाक्यमनुत्तमम् ।
प्रतिजग्राह संहृष्टस्तस्य तुष्टोऽभवद् गुरुः ॥१९॥

वाल्मीकि जी के इस वचन को सुन, उनके शिष्य भरद्वाज ने अति प्रसन्न हो वह श्लोक कण्ठाग्र कर लिया। इस पर गुरु जी शिष्य पर प्रसन्न हुए ॥१९॥

सोऽभिषेकं ततः कृत्वा तीर्थे तस्मिन्यथाविधि ।
तमेव चिन्तयन्नर्थमुपावर्तत वै मुनिः ॥२०॥

यथाविधि उस तीर्थ में स्नान कर और उसी बात को मन ही मन सोचते-विचारते ऋषिप्रवर वाल्मीकि अपने आश्रम में लौट आये ॥२०॥

भरद्वाजस्ततः शिष्यो विनीतः श्रुतवान्[1] मुनिः ।
कलशं पूर्णमादाय पृष्ठतोऽनुजगाम ह ॥२१॥

उनके पीछे-पीछे अति नम्र और शास्त्रज्ञ भरद्वाज जी भी जल का भरा कलसा लिये हुए चले आये ॥२१॥

---

१ श्रुतवान्—शास्त्रवान्, अवधृतवान्वा (गो०)

श्लोक एव त्वया बद्धो नात्र कार्या विचारणा ।
मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन्प्रवृत्तेयं सरस्वती ॥३१॥

हे ऋषिश्रेष्ठ ! यह तो तुमने श्लोक ही बना डाला है, इस पर कुछ विचार न कीजिए। मेरी ही प्रेरणा से या इच्छा से, वह श्लोक तुम्हारे मुख से निकला है ॥३१॥

रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम ।
धर्मात्मनो गुणवतो लोके रामस्य धीमतः ॥३२॥
वृत्तं कथय वीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम् ।
रहस्यं च प्रकाशं च यद्वृत्तं तस्य धीमतः ॥३३॥

लोकों में धर्मात्मा, गुणवान और बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्र जी के छिपे हुए अथवा प्रकट सम्पूर्ण चरितों का वर्णन, तुम वैसा ही करो जैसा कि, तुम नारद जी के मुख से सुन चुके हो ॥३२॥३३॥

रामस्य सह सौमित्रे राक्षसानां च सर्वशः ।
वैदेह्याश्चैव तद्वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः ॥३४॥
तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति ।
न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति ॥३५॥

श्रीरामचन्द्र, श्रीलक्ष्मण और श्रीजानकी जी के तथा राक्षसों के प्रकट अथवा गुप्त जो कुछ वृत्तान्त है, वे तुमको प्रत्यक्ष देख पड़ेंगे और इस काव्य में कहीं भी तुम्हारी कही कोई बात मिथ्या न होगी ॥३४॥३५॥

कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम् ।
यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ॥३६॥

---

१ मच्छन्दादेव—मदभिप्रायादेव (गो०)

तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ।
यावद्रामायणकथा त्वत्कृता प्रचरिष्यति ॥३७॥
तावदूर्ध्वमधश्च त्वं मल्लोकेषु निवत्स्यसि ।
इत्युक्त्वा भगवान्ब्रह्मा तत्रैवान्तरधीयत ॥३८॥

अतएव तुम श्रीरामचन्द्र की मनोहर और पवित्र कथा श्लोकबद्ध (पद्यों में) बनाओ। जब तक इस धराधाम पर पहाड़ और नदियाँ रहेंगी, तब तक इस लोक मे श्रीरामचन्द्र जी की कथा का प्रचार रहेगा और जब तक तुम्हारी रची हुई इस रामायण-कथा का प्रचार रहेगा, तब तक तुम भी मेरे बनाये हुए लोकों मे से जब तक शरीर रहेगा तब तक पृथ्वी पर तदनन्तर ऊपर के लोक में स्थिर रहोगे। यह कह कर ब्रह्मा जी वहीं अन्तर्धान हो गये ॥३६॥३७॥३८

ततः सशिष्यो भगवान्मुनिर्विस्मयमाययौ ।
तस्य शिष्यास्ततः सर्वे जगुः[1] श्लोकमिमं पुनः ॥३९॥

यह देख महर्षि को तथा उनके शिष्यों को बड़ा आश्चर्य हुआ। महर्षि के शिष्य प्रसन्न हो, बार बार उस श्लोक को पढ़ने लगे ॥३९॥

मुहुर्मुहुः प्रीयमाणा प्राहुश्च भृशविस्मिताः ।
समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो[2] महर्षिणा ॥४०॥
सोऽनुव्याहरणाद्भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ।

वे प्रसन्न हो और बड़े विस्मित हो, आपस मे कहने लगे कि, महर्षि ने समान अक्षरों और चार पद वाले जिस श्लोक में महाशोक

१ पुनर्जगुः—पुनः कथितवन्तः । २ गीतः—उक्तः (गो०)

प्रकट किया है, उसको बार-बार पढने से वह तो श्लोक ही बन गया है ॥४०॥

यस्य बुद्धिरियं जाता वाल्मीकेर्भावितात्मनः[१] ।
कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम् ॥४१॥

तदनन्तर अपने मन मे परमात्मा का चिन्तन करते हुए, वाल्मीकि जी की समझ में यह बात आई कि, इसी ढग के श्लोकों में, मैं सारा रामायण काव्य बनाऊँ ॥४१॥

उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमै-
स्ततः स रामस्य चकार कीर्तिमान् ।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो
यशस्करं काव्यमुदारधीर्मुनिः ॥४२॥

यह विचार यशस्वी वाल्मीकि जी परम उदार और अति मनोहर श्रीरामचन्द्र जी का चरित, समान अक्षर वाले तथा यश को बढ़ाने वाले सैकड़ो श्लोकों में वर्णन करने लगे ॥४२॥

तदुपगतसमाससंधियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥४३॥

इति द्वितीयः सर्गः

सन्धियों, समासों तथा अन्य व्याकरण के अगों से सम्पन्न, मधुर और प्रसन्न करने वाले वाक्यों से युक्त, श्रीरामचरित

१ भावितात्मनः—चिन्तितपरमात्मनः (गो०)

ावणवध रूपी काव्य को, महर्षि वाल्मीकि जी ने लोकोपकारार्थ रचा ॥४३॥

वालकाण्ड का दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥

—:o:—

तृतीयः सर्गः

—:o:—

श्रुत्वा वस्तु[१] समग्रं तद्धर्मात्मा धर्मसंहितम्[२] ।
व्यक्तमन्वेषते भूयो यद्वृत्तं तस्य धीमतः ॥१॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का देने वाला, बुद्धिमान् श्रीराम-जी का चरित, नारद जी के मुख से सुन और उससे भी अधिक चरित जानने की कामना से ॥१॥

उपस्पृश्योदकं सम्यङ्मुनिः स्थित्वा कृताञ्जलिः ।
प्राचीनाग्रेषु दर्भेषु धर्मेण[३] न्वीक्षते गतिम्[४] ॥२॥

जल से हाथ-पैर धो, आचमन कर, हाथ जोड़, कुशासन पर पूर्व की ओर मुख कर बैठे हुए महर्षि, योगबल से श्रीरामचन्द्रादि के चरितों को देखने लगे ॥२॥

रामलक्ष्मणसीताभी राज्ञा दशरथेन च ।
सभार्येण सराष्ट्रेण यत्प्राप्तं तत्र तत्त्वतः ॥३॥
हसितं भाषितं चैव गतिर्या यच्च चेष्टितम् ।
तत्सर्वं धर्मवीर्येण[५] यथावत्संप्रपश्यति ॥४॥

---

१ वस्तु—कथाशरीर (गो०) २ धर्मसंहितम्—धर्मसहितम् (गो०) ३ धर्मेण—ब्रह्मप्रसादरूपश्रेयस्साधनेन (गो०), योगजबलेन (रा०) ४ गतिम्—रामादिवृत्त (गो०) ५ धर्मवीर्येण—ब्रह्मवरप्रसादशक्त्या (गो०)

स्त्रीतृतीयेन च तथा यत्प्राप्तं चरता वने ।
सत्यसंधेन रामेण तत्सर्वं चान्ववेक्षितम् ॥५॥

श्री रामचन्द्र, लक्ष्मण, सीता और कौशल्यादि सहित महाराज दशरथ का और सम्पूर्ण राज्यमण्डल का जो कुछ हँसना, बोलना आदि वृत्तान्त और चरित थे और सत्यव्रत श्रीरामचन्द्र जी ने वन में जो कुछ चरित किये थे वे सब महर्षि वाल्मीकि को, ब्रह्मा जी के वरदान के प्रभाव से, ज्यों के त्यों देख पड़ने लगे ॥३॥ ॥४॥

ततः पश्यति धर्मात्मा त सर्वं योगमास्थितः ।
पुरा यत्तत्र निर्वृत्तं पाणावामलकं यथा ॥६॥

योगाभ्यास द्वारा महर्षि वाल्मीकि ने उन सब चरितों को जो पहले हो चुके थे, हथेली पर रखे हुए आँवले की तरह देखा ॥६॥

तत्सर्वं तत्त्वतो दृष्ट्वा धर्मेण स महाद्युतिः ।
अभिरामस्य रामस्य चरितं कर्तुमुद्यतः ॥७॥

सब वृत्तान्तों को ब्रह्मा जी के वरदान के प्रभाव से यथार्थतः (ज्यों का त्यों) जान लेने के पश्चात, महाद्युतिमान् महर्षि वाल्मीकि लोकाभिराम श्रीराम जी के चरितों को श्लोकवद्ध करने के लिए तत्पर हुए ॥७॥

कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थगुणविस्तरम् ।
समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुतिमनोहरम् ॥८॥
स यथा कथितं पूर्वं नारदेन महर्षिणा ।
रघुनाथस्य चरितं चकार भगवानृषिः ॥९॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देने वाला, समुद्र की तरह रत्नों से भरा पूरा और सुनने पर मन को प्रसन्न करने वाला,

श्री रामचन्द्र जी का चरित जैसा कि नारद जी से सुन चुके थे, वैसा ही, महर्षि वाल्मीकि जी ने बनाया ॥८॥६॥

जन्म रामस्य सुमहद्वीर्यं सर्वानुकूलताम् ।
लोकस्य प्रियतां क्षान्तिं सौम्यतां सत्यशीलताम् ॥१०॥
नानाचित्रकथाश्चान्या विश्वामित्रसहासने ।
जानक्याश्च विवाहं च धनुषश्च विभेदनम् ॥११॥

श्रीरामचन्द्र का जन्म, उनका पराक्रम, सब का उन पर प्रसन्न रहना, उनके किये लोक-प्रिय कार्य, उनकी क्षमा, सौम्यता, सत्य-शीलता, गुण-सम्पन्नता, विश्वामित्र की सहायता करना, विश्वा-मित्र का श्रीरामचन्द्र जी से नाना प्रकार की कथाएँ कहना वा उनका सुनना, धनुष का तोड़ना, जानकी जी के साथ उनका विवाह होना, ॥१०॥११॥

रामरामविवादं च गुणान्दाशरथेस्तथा ।
तथा रामाभिषेकं च कैकेय्या दुष्टभावताम्[१] ॥१२॥

श्रीरामचन्द्र जी व परशुराम जी का वादविवाद श्रीरामचन्द्र जी के गुण तथा उनके राज्याभिषेक की तैयारियाँ, कैकेयी की दुष्ट भावना ॥१२॥

विघातं चाभिषेकस्य रामस्य च विवासनम् ।
राज्ञः शोकविलापं च परलोकस्य चाश्रयम् ॥१३॥

तथा अभिषेक के कार्य मे विघ्न का पड़ना, श्रीरामचन्द्र जी का वनगमन, महाराज दशरथ का विलाप तथा उनका परलोक-गमन, ॥१३॥

ऋष्यमूकस्य गमनं सुग्रीवेण समागमम् ।
प्रत्ययोत्पादनं सख्यं वालिसुग्रीवविग्रहम् ॥२३॥

ऋष्यमूक पर्वत पर गमन, सुग्रीव से समागम, सुग्रीव को वालिवध का विश्वास दिला, उसके साथ मैत्री का होना, वालि-सुग्रीव की लड़ाई, ॥ २३ ॥

वालिप्रमथनं चैव सुग्रीवप्रतिपादनम् ।
ताराविलापं समयं वर्षरात्रनिवासनम्[१] ॥२४॥

वालि का वध, सुग्रीव का राज्याभिषेक, तारा का विलाप, वर्षाऋतु में पर्वत पर श्रीरामचन्द्र जी का निवास, ॥ २४ ॥

कोपं राघवसिंहस्य बलानामुपसंग्रहम् ।
दिशः प्रस्थापनं चैव पृथिव्याश्च निवेदनम् ॥२५॥

सुग्रीव पर श्रीरामचन्द्र जी का कोप, वानरी सेना को जमा करना, वानरों का सीता जी का पता लगाने के लिए, भूमण्डल का वृत्तान्त समझा कर, भेजा जाना, ॥ २५ ॥

अंगुलीयकदानं च ऋक्षस्य बिलदर्शनम् ।
प्रायोपवेशनं चापि संपातेश्चैव दर्शनम् ॥२६॥

श्रीरामचन्द्र जी का हनुमान जी को अँगूठी देना, वानरों का (स्वयप्रभा के) बिल में प्रवेश, उपवासादि कर समुद्रतट पर मृत्यु की आकाङ्क्षा करना, सम्पाति से भेंट होना, ॥ २६ ॥

पर्वतारोहणं चैव सागरस्य च लङ्घनम् ।
समुद्रवचनाच्चैव मैनाकस्यापि दर्शनम् ॥२७॥

---

१ वर्षरात्रनिवासनं = वर्षे वृष्टिस्तद्युक्ता रात्रयो वर्षरात्राः (गो०)

पर्वत पर हनुमान जी का चढ़ना और सागर का लाँघना, समुद्र के कथनानुसार मैनाक पर्वत का समुद्र जल के ऊपर दिखलाई पड़ना, ॥ २७ ॥

सिंहिकायाश्च निधनं लङ्कामलयदर्शनम् ।
रात्रौ लङ्काप्रवेशं च एकस्यापि विचिन्तनम् ॥२८॥

छाया ग्रहण करने वाली सिंहिका राक्षसी का वध, लङ्का को देखना, रात्रि में हनुमान जी का लङ्का में प्रवेश करना, अकेले सोचना, ॥ २८ ॥

दर्शनं रावणस्यापि पुष्पकस्य च दर्शनम् ।
आपानभूमिगमनमवरोधस्य[1] दर्शनम् ॥२९॥

रावण को देखना, पुष्पक विमान को देखना, जहाँ रावण शराब पीता था उस घर में हनुमान जी का जाना और अन्त पुर अर्थात् रावण की स्त्रियों के रहने की जगह का अवलोकन, ॥२९॥

अशोकवनिकायानं सीतायाश्चापि दर्शनम् ।
राक्षसीतर्जनं चैव त्रिजटास्वप्नदर्शनम् ॥३०॥

अशोकवाटिका में जा कर सीता जी का दर्शन करना, राक्षसियों का सीता जी को डराना, त्रिजटा राक्षसी का स्वप्न देखना, ॥३०॥

अभिज्ञानप्रदानं च सीतायाश्चाभिभाषणम् ।
मणिप्रदानं सीताया वृक्षभङ्गं तथैव च ॥३१॥

हनुमान जी का सीता जी को चिन्हानी की अँगूठी देना, सीता जी के साथ हनुमान जी की बातचीत, सीता जी का हनुमान जी को चूड़ामणि देना, हनुमान जी द्वारा अशोकवाटिका के वृक्षों का नष्ट किया जाना, ॥३१॥

---

१ अवरोधस्य—अन्तःपुरस्य (गो०)

राक्षसीविद्रवं चैव किङ्कराणां निबर्हणम् ।
ग्रहणं वायुसूनोश्च लङ्कादाहाभिगर्जनम् ॥३२॥

राक्षसियों का भागना और रावण के नौकरों का मारा जाना, हनुमान जी का पकडा जाना तथा हनुमान जी के द्वारा गरज कर, लङ्का का दग्ध किया जाना, ॥३२॥

प्रतिप्लवनमेवाथ मधूनां हरणं तथा ।
राघवाश्वासनं चैव मणिनिर्यातनं[1] तथा ॥३३॥

समुद्र को पुनः लाँघना, मधुवन के मधु फलों को खाना, श्री रामचन्द्र जी को धीरज बँधाना तथा उनको चूड़ामणि का दिया जाना, ॥३३॥

संगमं च समुद्रेण नलसेतोश्च बन्धनम् ।
प्रतारं च समुद्रस्य रात्रौ लङ्कावरोधनम् ॥३४॥

श्रीरामचन्द्र जी का समुद्र-तट पर पहुँचना और नल-नील का समुद्र पर पुल बाँधना, समुद्र के पार होना, रात्रि में लङ्का को घेरना, ॥३४॥

विभीषणेन संसर्गं वधोपायनिवेदनम् ।
कुम्भकर्णस्य निधनं मेघनादनिबर्हणम् ॥३५॥

रावण के भाई विभीषण का श्रीरामचन्द्र जी से समागम होना, और रावण के वध का उपाय बतलाना, कुम्भकर्ण का मारा जाना और मेघनाद का वध, ॥३५॥

[टिप्पणी—ऊपर के दो श्लोकों में वर्णित घटनाओं के क्रम में तारतम्य है । यथा—लंका-दहन के पूर्व समुद्र के इस पार विभीषण और

---

१ मणिनिर्यातनम्—रामाय चूडामणिप्रदानम् (गो०)

राम का समागम हुआ था, किन्तु यहाँ लंका अवरोध के पश्चात् दिखाया गया है।]

रावणस्य विनाशं च सीतावाप्तिमरेः[1] पुरा।
विभीषणाभिषेकं च पुष्पकस्य निवेदनम् ॥३६॥

रावण का नाश तथा शत्रुपुरी लङ्का मे सीता जी का मिलना, विभीषण का लङ्का को राजगद्दी पर अभिषेक, पुष्पक विमान का विभीषण द्वारा श्रीरामचन्द्र जी को भेंट दिया जाना, ॥३६॥

अयोध्यायाश्च गमनं भरतेन समागमम्।
रामाभिषेकाभ्युदयं सर्वसैन्यविसर्जनम् ॥३७॥

श्रीरामचन्द्र जी का अयोध्यागमन, वहाँ भरत से समागम, श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक तथा वानरी सेना की विदाई, ॥३७॥

स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम्।
अनागतं च यत्किंचिद्रामस्य वसुधातले।
तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥३८॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

श्रीराम जी का राज्यसिंहासनासीन होने पर प्रजाजन को प्रसन्न करना, वैदेही का त्याग। इनके अतिरिक्त श्रीरामचन्द्र जी ने इस भूमण्डल पर और जो-जो चरित आगे किये, उन सब का वर्णन भी इस काव्य में भगवान् वाल्मीकि जी ने किया ॥३८॥

बालकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ।

---

१ अरेः पुर इति शौर्यातिशयोक्तिः उत्तरत्रचान्वयः (गो०)

चतुर्थः सर्गः

—:o:—

प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः ।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमात्मवान् ॥१॥

जब श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या के राज-सिंहासन पर आसीन हो चुके थे, तब महर्षि वाल्मीकि जी ने विचित्र पदो से युक्त इस सम्पूर्ण काव्य की रचना की ॥१॥

[टिप्पणी—इस श्लोक से स्पष्ट है कि, यह इतिहास श्रीरामचन्द्र जी का समकालीन इतिहास है ।]

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः ।
तथा सर्गशतान्पञ्च षट् काण्डानि तथोत्तरम् ॥२॥

चोबीस हजार श्लोक, पांच-सौ सर्ग, छ काण्ड और साथ ही उत्तरकांड की भी रचना महर्षि ने की ॥२॥

कृत्वापि तन्महाप्राज्ञः सभविष्यं सहोत्तरम् ।
चिन्तयामास को न्वेतत्प्रयु[१]ञ्जीयादिति प्रभुः ॥३॥

इस प्रकार जब वे छ कांड और उत्तरकाण्ड बना चुके, तब वे विचारने लगे कि यह काव्य पढावें किसे ? ॥३॥

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगृह्णीतां ततः पादौ मुनिवेषौ कुशीलवौ ॥४॥

वे यह सोच ही रहे थे कि, इतने में मुनिवेषधारी कुश और लव ने आकर महर्षि वाल्मीकि जी के दोनों चरण छुये ॥४॥

---

१ प्रयुञ्जीयात्—वाग्विधेय कुर्यात् इतिचिन्तयामास (गो०)

कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
भ्रातरौ स्वरसंपन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ॥५॥

उन यशस्वी धर्मात्मा दोनों राजपुत्रों (श्रीरामचन्द्र जी के पुत्रों) को महर्षि ने देखा, जिनका कण्ठस्वर बड़ा मधुर था और जो उन्हीं के आश्रम मे उन दिनों वास करते थे ॥५॥

स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥६॥

बुद्धिमान् और वेदो में निष्ठा रखने वाले जान कर, वेद के अर्थ को श्लोको मे प्रकट कर, महर्षि ने उन दोनों को वह काव्य पढ़ाया ॥६॥

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् ।
पौलस्त्यवधमित्येव चकार चरितव्रतः ॥७॥

महर्षि ने सीताराम के सम्पूर्ण चरित्र और रावणवध के वृत्तान्त सहित, इस काव्य का नाम "पौलस्त्य-वध" काव्य रखा ॥७॥

[टिप्पणी—रावण का जन्म पुलस्त्य ऋषि के वंश में हुआ था, अतः रावण को पौलस्त्य भी कहते हैं। पौलस्त्य-वध अर्थात् रावण का वध, जिसमें वर्णन किया गया, वह पौलस्त्य-वध काव्य कहलाया ।]

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ।
जातिभिः सप्तभिर्बद्धं तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥८॥

यह चरित पढने तथा गाने में मधुर, तीनों प्रमाणों से युक्त (अर्थात् द्रुत, मध्य, विलंबित सहित) सातों स्वरों से बंधा हुआ और वीणादि बजा कर गाने योग्य है ॥८॥

हास्यशृङ्गारकारुण्यरौद्रवीरभयानकैः ।
वीभत्सादद्भुतसंयुक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥९॥

शृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक, वीर, वीभत्स, अद्भुत शान्त, इन नवरसों से युक्त काव्य को कुश और लव ने गाया ॥९॥

[नोट—किसी भी उच्चकोटि के काव्य ग्रन्थ मे इन नवरसो का होना आवश्यक माना जाता है ।]

तौ तु गान्धर्वतत्त्वज्ञौ मूर्छनास्थानकोविदौ ।
भ्रातरौ स्वरसंपन्नौ गन्धर्वाविव रूपिणौ ॥१०॥

वे दोनों राजकुमार गान विद्या में निपुण, ताल और स्वर को भली भाँति जानने वाले, स्वरसम्पन्न और गन्धर्वों की तरह सुन्दर थे ॥१०॥

रूपलक्षणसंपन्नौ मधुरस्वरभाषिणौ ।
बिम्बादिवोद्धृतौ बिम्बौ रामदेहात्तथापरौ ॥११॥

सुस्वरूप और सुलक्षणों से सम्पन्न, मीठे कठ वाले दोनो राजकुमार ऐसे जान पडते थे, मानो श्रीरामचन्द्र की देह के वे दो प्रतिबिम्ब हों ॥११॥

तौ राजपुत्रौ कार्त्स्न्येन धर्म्याख्यानमनुत्तमम् ।
वाचो विधेयं[1] तत्सर्वं कृत्वा काव्यमनिन्दितौ ॥१२॥

प्रशसनीय उन दोनों राजकुमारों ने अत्युत्तम धर्म को बतलाने वाले रामायण काव्य को बार-बार पढ कर, कण्ठाग्र कर डाला ॥१२॥

ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे ।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ ॥१३॥

---

१ वाचोविधेय—आवृत्तिबाहुल्येन वाग्वशवर्तिकृत्वा (गो०)

वे ऋषियों, ब्राह्मणों और साधुओं के सामने रामचरित को, जैसा कि उन्हें बतलाया गया था, बड़ी सावधानी से गाया करते थे ॥१३॥

महात्मानौ महाभागौ सर्वलक्षणलक्षितौ ।
तौ कदाचित्समेतानामृषीणां भावितात्मनाम्[1] ॥१४॥
आसीनानां समीपस्थाविदं काव्यमगायताम् ।
तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे बाष्पपर्याकुलेक्षणाः ॥१५॥

एक बार अर्थात् श्री रामचन्द्र जी के अश्वमेध यज्ञ में, महात्मा महाभाग तथा सर्वलक्षणयुक्त दोनों भाइयों ने प्रौढ़-विचार-सम्पन्न महात्मा ऋषियों की सभा मे वैठ कर यह काव्य गाया, जिसको सुन कर मुनियों के शरीर रोमाञ्चित हो गए और उनके नेत्रों में आँसू भर आए ॥१४॥१५॥

साधु साध्विति चाप्यूचुः परं विस्मयमागताः ।
ते प्रीतमनसः सर्वे मुनयो धर्मवत्सलाः ॥१६॥

आश्चर्य-चकित हो और "साधु साधु" कह कर, उन दोनों राजकुमारों की प्रशंसा करते हुए वे धर्मवत्सल ऋषि, अत्यानन्दित हुए ॥१६॥

प्रशशंसुः प्रशस्तव्यौ गायन्तौ तौ कुशीलवौ ।
अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः ॥१७॥

उन गाते हुए एवं प्रशंसा करने योग्य राजकुमारों की प्रशंसा कर, वे वोले कि, गान बड़ा ही मधुर है और श्लोकों का माधुर्य तो वहुत अधिक चढ़ बढ़ कर है ॥१७॥

---

१ भावितात्मनाम्—निश्चितधियाम् (गो०)

चिरनिर्वृत्तमप्येतत्प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ।
प्रविश्य तावुभौ सुष्ठु तथा भावमगायताम् ॥१८॥

क्योंकि बहुत दिनों की बीती घटनाएँ प्रत्यक्ष-सी दिखलाई पड़ती हैं। इस प्रकार ऋषियों द्वारा प्रशंसित दोनों राजकुमार उनके मन के भावानुकूल ॥१८॥

सहितौ मधुरं रक्तं[1] संपन्नं स्वरसम्पदा ।
एवं प्रशस्यमानौ तौ तपःश्लाघ्यैर्महात्मभिः ॥१९॥

अति मधुर वाणी मे अर्थात् राग से उस काव्य को गाने लगे। उसे सुन ऋषियों ने उन गाने वालों की बड़ी बड़ाई की ॥१९॥

संरक्ततरमत्यर्थं मधुरं तावगायताम् ।
प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां संस्थितः[2] कलशं ददौ ॥२०॥
प्रसन्नो वल्कलं कश्चिद्ददौ ताभ्यां महातपाः ।
*अन्यः कृष्णाजिनं प्रादान्मौञ्जीमन्यो महामुनिः ॥२१॥
बृसीमन्यः तदा प्रादात्कौपीनमपरो मुनिः ।
ताभ्यां ददौ तदा हृष्टः कुठारमपरो मुनिः ॥२२॥
काषायमपरो वस्त्रं चीरमन्यो ददौ मुनिः ।
जटाबन्धनमन्यस्तु काष्ठरज्जुं मुदान्वितः ।
यज्ञभाण्डमृषिः कश्चित्काष्ठभारं तथा परः ॥२३॥

---

१ रक्त —रागयुक्तं (गो०)

२ संस्थित —उत्थित. (गो०)

* २१, २२, २३, २४ और २५ का प्रथम चरण भूषण टीकाकार ने "अधिक पाठ" माना है।

कश्चित्कमण्डलुं प्रादाद्यज्ञसूत्रमथापरः ।
औदुम्बरीं वृसीमन्यो जपमालामथापरः ॥२४॥
आयुष्यमपरे चोचुर्मुदा तत्र महर्षयः ।
आश्चर्यमिदमाख्यानं मुनिना संप्रकीर्तितम् ॥२५॥

राग सहित मधुर कण्ठ से गाने वाले उन राजकुमारों के मधुर गान पर प्रसन्न हो, सुनने वालों में से किसी ने उठा कर उनको कलसा, किसी ने वल्कल, किसी ने मृगचर्म, किसी ने मौंजी-मेखला, किसी ने कमण्डलु, किसी ने यज्ञोपवीत, किसी ने गूलर का आसन, किसी ने जपमाला, किसी ने कौपीन, किसी ने कुठार, किसी ने काषाय वस्त्र, किसी ने चीर, किसी ने जटा बाँधने का डोरा, किसी ने कोई यज्ञपात्र, और किसी ने माला दी। किसी ने प्रसन्न हो कर स्वस्ति और आयुष्मान् कह कर आशीर्वाद ही दिया। इस आश्चर्यप्रद काव्य के प्रणेता की प्रशंसा कर वे कहने लगे, ॥२०॥२१॥२२॥२३॥२४॥२५॥

परं कवीनामाधारं समाप्तं च यथाक्रमम् ।
अभिगीतमिदं गीतं सर्वगीतेषु कोविदौ ॥२६॥

यह काव्य पीछे के कवियों का आधार-स्वरूप है और यथाक्रम समाप्त किया गया है। यह ग्रन्थ जैसा अद्भुत है वैसा ही गीत-विशारद इन दोनों राजकुमारों ने इसे गाया भी है ॥२६॥

आयुष्यं पुष्टिजनकं सर्वश्रुतिमनोहरम् ।
प्रशस्यमानौ सर्वत्र कदाचित्तत्र गायनौ ॥२७॥

यह काव्य श्रोताओं की आयु बढ़ाने वाला तथा उनकी पुष्टि करने वाला और सुनने से सबके मन को हरने वाला है। इस प्रकार मुनियों से प्रशंसित दोनों राजकुमारों को, ॥२७॥

रथ्यासु राजमार्गेषु ददर्श भरताग्रजः ।
स्ववेश्म चानीय ततो भ्रातरौ च कुशीलवौ ॥२८॥

राजमार्ग पर जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने देखा और वे उन दोनों भाइयों कुश और लव को अपने निवासस्थान पर लिवा ले गए ॥२८॥

पूजयामास पूजार्हौ रामः शत्रुनिबर्हणः ।
आसीनः काञ्चने दिव्ये स च सिंहासने प्रभुः ॥२९॥

शत्रु का नाश करने वाले श्रीराम जी ने डेरे पर उन सत्कार करने योग्य दोनों कुमारों का भली भाँति आदर-सत्कार किया और आप सुवर्ण के दिव्य सिंहासन पर बैठे ॥२९॥

उपोपविष्टः सचिवैर्भ्रातृभिश्च परंतपः ।
दृष्ट्वा तु रूपसंपन्नौ तावुभौ नियतस्तदा ॥३०॥

मंत्रियों व भाइयो सहित बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी उन रूपवान और सुशिक्षित दोनों भाइयों को देखकर ॥३०॥

उवाच लक्ष्मणं रामः शत्रुघ्नं भरतं तथा ।
श्रूयतामिदमाख्यानमनयोर्देववर्चसोः[१] ॥३१॥

लक्ष्मण, शत्रुघ्न और भरत से कहने लगे कि, इन देव के समान तेजस्वी, गायकों के गान किए हुए इतिहास को सुनो ॥३१॥

विचित्रार्थपदं सम्यग्गायनौ समचोदयत् ।
तौ चापि मधुरं व्यक्तं स्वञ्चितायतनिःस्वनम् ।
तन्त्रीलयवदत्यर्थं विश्रुतार्थमगायताम् ॥३२॥

---

१ देववर्चसो.—देवतुल्यतेजसो. (गो०)

इसमे नाना प्रकार के विचित्र अर्थ सहित पद हैं, यह कह उन्होंने उन बालकों को अच्छे प्रकार गाने की आज्ञा दी। तब उन दोनों ने उस भली भाँति सीखे हुए काव्य को वीणा के साथ स्वर मिला कर, ऊँचे स्वर मे स्पष्ट गाया ॥३२॥

ह्लादयत्सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च।
श्रोत्राश्रयसुखं गेयं तद्बभौ जनसंसदि ॥३३॥

उस सभा में बैठे हुए लोगों के मन और हृदय उस गान को सुन कर अत्यन्त आह्लादित हो गए ॥३३॥

इमौ मुनी पार्थिवलक्षणान्वितौ
कुशीलवौ चैव महातपस्विनौ।
ममापि तद्भूतिकरं प्रचक्षते
महानुभावं चरितं निबोधत ॥३४॥

श्रीरामचन्द्र जी भी कहने लगे कि, राजलक्षणों से युक्त इन बड़े तपस्वी कुश और लव ने प्रभावोत्पादक जो चरित गाए हैं वे मुझे बहुत अच्छे जान पड़ते हैं ॥३४॥

ततस्तु तौ रामवचःप्रचोदिता-
वगायतां मार्गविधानसंपदा।
स चापि रामः परिषद्गतः शनै-
र्बुभूषया सक्तमना बभूव ह ॥३५॥

इति चतुर्थः सर्गः॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी द्वारा प्रोत्साहित हो, दोनों भाई, गायन विद्या की रीति को सरसा कर, बड़ी अच्छी तरह गाने लगे।

सभा में बैठे श्रीरामचन्द्र उनका गान सुन धीरे-धीरे उनके गान पर मोहित हो गए ॥३५॥

चौथा सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

पञ्चमः सर्गः

—:o:—

सर्वा पूर्व[1]मियं येषामासीत्कृत्स्ना वसुंधरा।
प्रजापतिमुपादाय[2] नृपाणां जयशालिनाम् ॥१॥

राजा वैवस्वत मनु आदि जयशाली राजाओं के समय से यह सप्तद्वीपात्मिका अखिल पृथ्वी, अपूर्व ही चली आती है, अथवा महात्मा मनु जी से लेकर जयशाली राजाओं के समय से इस सप्तद्वीपात्मिका समस्त पृथिवीमण्डल पर एकछत्र शासन रहा है ॥१॥

येषां स सगरो नाम सागरो येन खानितः।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि यं यान्तं पर्यवारयन्[3] ॥२॥

जिस वंश में वे सगर नाम के राजा हुए, जिनके पीछे-पीछे साठ हजार पुत्र चला करते थे और जिन्होंने समुद्र खोदा था (समुद्र का सागर नाम सगर राजा ही से हुआ है) ॥२॥

इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम्।
महदुत्पन्नमाख्यानं[4] रामायणमिति श्रुतम् ॥३॥

---

१ अपूर्व—दुर्लभ (गो०) २ उपादाय—आरभ्य (गो०) ३ पर्यवारयन्—परितोऽगच्छन् (गो०) ४ राममयनि ज्ञापयतीति रामायणम् (तत्त्वदीपिका टीका)

उन महात्मा इक्ष्वाकुवंश वाले राजाओं के वंश में यह महा-कथा उत्पन्न हुई है, जो रामायण के नाम से जगत् में प्रसिद्ध है (अर्थात् इसमे उन्हीं सगर राजा के वंश वालों का इतिहास दिया गया है) ॥३॥

तदिदं वर्तयिष्यामि[1] सर्वं निखिलमादितः ।
धर्मकामार्थसहितं श्रोतव्य[2]मनसूयया[3] ॥४॥

उसी रामायण की कथा को हम आद्यन्त (आदि से अन्त तक) कहेंगे। अतः इसे ईर्ष्या अर्थात् डाह को छोड़ अर्थात् श्रद्धा सहित सुनना चाहिए* ॥४॥

कोसलो नाम मुदितः[4] स्फीतो[5] जनपदो महान् ।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥५॥

सरयू नदी के तट पर सन्तुष्ट जनों से पूर्ण धनधान्य से भरा पूरा, उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त, कोसल नामक एक बड़ा देश था ॥५॥

अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥६॥

---

१ वर्तयिष्यामि = प्रवर्तयिष्यामि (गो०) २ श्रोतव्य—नतु स्वय लिखित-पाठेन निरीक्षितव्य (गो०) ३ अनसूयया—असूयाभिन्नया श्रद्धयेत्यर्थः (गो०)

* इस श्लोक का भाव यह है कि, यह ग्रन्थ ब्रह्मा जी का बनाया हुआ होने के कारण, मुझे केवल इसके प्रचार करने का अधिकार है। अतः विचारशीलों को इसे मेरा बनाया हुआ समझ, इस ग्रन्थ से डाह न करना चाहिए, किन्तु श्रद्धा-भक्ति के साथ इसे सुनना चाहिए।

४ मुदितः = सन्तुष्टजनः (गो०) ५ स्फीतः = समृद्धः (गो०)

इसी देश में मनुष्यों के आदि राजा प्रसिद्ध महाराज मनु की बसाई हुई, तीनों लोकों में विख्यात अयोध्या नामक एक नगरी थी ॥६॥

आयता[1] दश च द्वे च योजनानि महापुरी ।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥७॥

यह महापुरी बारह योजन (४८ कोस यानी ९६ मील) चौड़ी थी। (अर्थात् इस महापुरी का घेरा ९६ मील का था) नगरी में बड़ी सुन्दर लंबी और चौड़ी सड़कें थीं ॥७॥

राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता ।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः ॥८॥

वह पुरी चारों ओर फैली हुई बड़ी-बड़ी सड़कों से सुशोभित थी। सड़कों पर नित्य जल छिड़का जाता था और फूल बिछाये जाते थे ॥८॥

तां तु राजा दशरथो महान्राष्ट्रविवर्धनः ।
पुरीमावासयामास दिवं देवपतिर्यथा ॥९॥

इन्द्र की अमरावती पुरी की तरह महाराज दशरथ ने उस पुरी को सजाया था। इस पुरी में राज्य को खूब बढ़ाने वाले महाराज दशरथ उसी प्रकार वास करते थे, जिस प्रकार स्वर्ग में इन्द्र वास करते हैं ॥९॥

कवाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम् ।
सर्व[2]यन्त्रायुध[3]वतीमुपेतां सर्वशिल्पिभिः ॥१०॥

---

१ आयता = दीर्घा (गो०) मण्डलप्रमाणमिदम् (गो०) २ यन्त्राणि = शिलाक्षेपणीप्रभृतीनि । (गो०) ३ आयुधानि—बाणादयः (गो०)

इस पुरी में बड़े-बड़े तोरण द्वार (पौलें), सुन्दर बाजार और नगरी की रक्षा के लिए चतुर शिल्पियों द्वारा बनाए हुए सब प्रकार के यंत्र (शिला फेंकने की तोपें) और बाण आदि जो आयुध उस काल में संसार में प्रचलित थे, वे सब रखे हुए थे ॥१०॥

सूतमागध[१]संबाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम् ।
उच्चाट्टालध्वजवतीं [२]शतघ्नीशतसंकुलाम् ॥११॥

उस में सूत, मागध, बन्दीजन भी रहते थे। वहाँ के निवासी अतुल धन-सम्पन्न थे, उसमें बड़ी बड़ी ऊँची अटारियों वाले मकान, जो ध्वजापताकाओ से शोभित थे, बने हुए थे और परकोटे की दीवालों पर सैकड़ों तोपें चढ़ी हुई थीं ॥११॥

वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम् ।
उद्यानाम्रवणोपेतां महतीं सालमेखलाम् ॥१२॥

स्त्रियो की नाट्य समितियों की भी उसमे कमी नहीं थी और सर्वत्र जगह-जगह उद्यान थे और आम के बाग़ नगरी की शोभा बढ़ा रहे थे। नगर के चारो ओर साखुओ के लम्बे-लम्बे वृक्ष लगे हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानो अयोध्यारूपिणी स्त्री करधनी पहने हो ॥१२॥

दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम् ।
वाजिवारणसंपूर्णां गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा ॥१३॥

यह नगरी दुर्गम किलो और खाइयो से युक्त थी तथा उस पर शत्रु किसी प्रकार भी अपने हाथ नहीं लगा सकते थे। हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट और खच्चर जगह जगह देख पड़ते थे ॥१३॥

---

१ मागधा'—राजप्रबोधकाः (गो०)

२ शतघ्नी तु चतुस्ताला लोहकटकसञ्चिता—इतियादवः ।

सामन्त[1]राजसंघैश्च बलिकर्मभिरावृताम् ।
नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम् ॥१४॥

करद राजाओं और पहलवानों का यहाँ सदा जमाव रहता था। उस पुरी में अनेक देशों के लोग व्यापारादि धंधों के लिए बसते थे ॥१४॥

प्रासादैः रत्नविकृतैः पर्वतैरुपशोभिताम् ।
कूटागारैश्च[2] संपूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ॥१५॥

रत्नखचित महलों और पर्वतों से वह पुरी शोभायमान हो रही थी। वहाँ पर स्त्रियों के क्रीड़ागृह भी बने हुए थे, जिनकी सुन्दरता देख यही जान पड़ता था, मानों यह दूसरी इन्द्र की अमरावती पुरी है ॥१५॥

चित्रा[3]मष्टा[4]पदाकारां वरनारीगणैर्युताम् ।
सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम् ॥१६॥

राजभवनों का सुनहला रंग था। नगरी में सुन्दर स्वरूपवती स्त्रियाँ रहती थीं। रत्नों के ढेर वहाँ लगे रहते थे और आकाशस्पर्शी सतखने मकान (विमान गृह) जहाँ देखो वहाँ दिखलाई पड़ते थे ॥१६॥

गृहगाढामविच्छिद्रां समभूमौ निवेशिताम् ।
शालितण्डुलसंपूर्णामिक्षुदण्डरसोदकाम् ॥१७॥

उसमें चौरस भूमि पर बड़े मजबूत और सघन मकान थे अर्थात् बड़ी सघन बस्ती थी। नगरी में साठी चावलों के ढेर

---

१ सामन्त = सामन्ता राज्यसन्निस्थाः—वैजयन्ती २ कूटागारै. = स्त्रीणा क्रीडागृहै. (गो०) ३ चित्रा—नानाराजगृहवर्ती (गो०) ४ अष्टापदाकारा—अष्टापदं सुवर्णं तज्जलेन कृत. आकारः अलङ्कारो यस्या इत्येके (रा०)

लगे हुए थे और कुओं में गन्ने के रस जैसा मीठा जल भरा हुआ था ॥१७॥

दुन्दुभीभिर्मृदङ्गैश्च वीणाभिः *पणवैस्तथा ।
नादितां भृशमत्यर्थं पृथिव्यां तामनुत्तमाम् ॥१८॥

नगाड़े, मृदङ्ग, वीणा, पणव आदि बाजो की ध्वनि से नगरी सदा प्रतिध्वनित हुआ करती थी। पृथ्वीतल पर तो इसकी टक्कर की दूसरी नगरी थी ही नहीं ॥१८॥

विमानमिव सिद्धानां तपसाधिगतं दिवि ।
सुनिवेशित[1] वेश्मान्तां नरोत्तमसमावृताम् ॥१९॥

उस पुरी मे, तप द्वारा स्वर्ग मे गए हुए सिद्ध पुरुषों के विमानों जैसे सुन्दर घर बने हुए थे, जिनमें उत्तम कोटि के मनुष्य रहा करते थे ॥१९॥

ये च बाणैर्न विध्यन्ति विविक्तमपरावरम् ।
[2]शब्दवेध्यं च विततं[3] लघुहस्ता विशारदाः ॥२०॥

उसमें ऐसे भी वीर थे जो असहाय और युद्ध छोड़ कर भागने वाले शत्रु का कभी बध नहीं करते थे, जो शब्दवेधी बाण चलाते थे, जो बाण चलाने में बड़े फुर्तीले थे तथा जो अस्त्र-शस्त्र-विद्या में पूर्ण निपुण थे ॥२०॥

---

* पणव उस ढोल को कहते हैं जो लकड़ी से बजाया जाता है।

१ सुनिवेशिताः—सुष्ठुनिर्मिताः (गो०)

२ शब्दवेधी बाण वह है जो शब्द की सीध पर छोड़ा जाय और अदृश्य लक्ष्य को वेधे।

३ विततं—पलायितं च (गो०)

सिंहव्याघ्रवराहाणां मत्तानां नर्दतां वने ।
हन्तारो निशितैर्बाणैर्बलाद्बाहुबलैरपि ॥२१॥

सिंह, व्याघ्र, वराह आदि वन्य पशु जो वनों में दहाड़ते हुए घूमा करते थे, उनको अस्त्रों-शस्त्रों से तथा उनके साथ मल्लयुद्ध करके उनको मारने वाले भी वीर इस नगरी में अनेक थे। अर्थात् हस्तलाघवता में तथा शारीरिक बल में यहाँ के वीरगण बहुत चढ़े बढ़े थे ॥२१॥

तादृशानां सहस्रैस्तामभिपूर्णां महारथैः ।
पुरीमावासयामास राजा दशरथस्तदा ॥२२॥

ऐसे हजारों महारथी वहाँ रहते थे। महाराज दशरथ ने इस प्रकार से अयोध्यापुरी बसायी थी ॥२२॥

तामग्निमद्भिर्गुणवद्भिरावृतां
　　द्विजोत्तमैर्वेदषडङ्गपारगैः ।
सहस्रदैः सत्यरतैर्महात्मभि-
　　र्महर्षिकल्पैर्ऋषिभिश्च केवलैः[1] ॥२३॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

अयोध्यापुरी में सहस्रों साग्निक (नित्य अग्निहोत्र करने वाले द्विज), सब प्रकार के गुणी, षडङ्ग वेद का पारायण करने वाले विद्वान् ब्राह्मण, सत्यवादी महात्मा और जप-तप में निरत हजारों ऋषि महात्मा ही मुख्यतया वास करते थे ॥२३॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

१ केवलैः—मुख्यैः (वि०)

षष्ठः सर्गः

—:०:—

तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित्सर्वसंग्रहः ।
दीर्घदर्शी[1] महातेजाः पौरजानपदप्रियः ॥१॥
इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मरतो वशी ।
महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥२॥
बलवान्निहतामित्रो मित्रवान्विजितेन्द्रियः ।
धनैश्च संचयैश्चान्यैः शक्रवैश्रवणोपमः ॥३॥
यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता ।
तथा दशरथो राजा वसञ्जगदपालयत् ॥४॥

उस अयोध्यापुरी में वेदवेदार्थ जानने वाले, सब वस्तुओं का संग्रह करने वाले (सत्यसंग्रहः—धर्म का विचार रखते हुए सब को संग्रह करने वाले। सत्यप्रतिज्ञ, दूरदर्शी, महातेजस्वी, प्रजाप्रिय, इक्ष्वाकुवंश में महारथी, अनेक यज्ञ करने वाले, धर्म में रत सब को अपने वश मे रखने वाले, महर्षियो के समान, राजर्षि, तीनों लोको में प्रसिद्ध, बलवान् , शत्रुरहित, सब के मित्र, इन्द्रियों को वश में रखने वाले धनादि तथा अन्य वस्तुओ के सञ्चय करने मे इन्द्र और कुबेर के समान, महाराज दशरथ ने, अयोध्यापुरी में राज्य करते हुए उसी प्रकार प्रजापालन किया जिस प्रकार महाराज मनु किया करते थे ॥१॥२॥३॥४॥

---

१ दीर्घदर्शी—चिरकालभाविपदार्थं द्रष्टुं शीलमस्यास्तीति तथा (गो०)

तेन सत्याभिसन्धेन त्रिवर्गमनुतिष्ठता ।
पालिता सा पुरी श्रेष्ठा इन्द्रेणेवामरावती ॥५॥

सत्यसन्ध तथा त्रिवर्ग-प्राप्ति (धर्म, अर्थ और काम) के लिए अनुष्ठानादि करने वाले महाराज दशरथ, अयोध्यापुरी का पालन उसी प्रकार करते थे जिस प्रकार इन्द्र अपनी अमरावती पुरी का करते हैं ॥५॥

तस्मिन्पुरवरे हृष्टाः[१] धर्मात्मानो बहुश्रुताः ।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः ॥६॥

उस श्रेष्ठ अयोध्यापुरी में सुख से बसने वाले, धर्मात्मा बहुश्रुत अर्थात् बहुत सा जमाना देखे-भाले हुए, अपने-अपने धन से सन्तुष्ट, निर्लोभी तथा सत्यवादी पुरुष रहते थे ॥६॥

नाल्पसन्निचयः कश्चिदासीत्तस्मिन्पुरोत्तमे ।
कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधनधान्यवान् ॥७॥

उस उत्तम पुरी में गरीब यानी धनहीन तो कोई था ही नहीं, बल्कि कम धन वाला भी कोई न था। वहाँ जितने कुटुम्ब वाले लोग बसते थे, उन सब के पास धन, धान्य, गाय, बैल और घोड़े थे ॥७॥

[टिप्पणी—किन्तु अयोध्याकाण्ड के सर्ग ३२ में त्रिजट नामक एक दरिद्र ब्राह्मण की चर्चा की गई है। लिखा है—

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान्न च नास्तिकः ॥८॥

अयोध्यापुरी में लम्पट, कायर, नृशंस, मूर्ख और नास्तिक आदमी तो ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते थे ॥८॥

---

१ हृष्टाः—वाससौख्येन प्रीताः (गो०)

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः ।
उदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः ॥६॥

अयोध्यावासी क्या स्त्री और क्या पुरुष सब के सब धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे। वे अपने शुद्ध और निष्कलङ्क आचरणों में निष्पाप महर्षियों से टक्कर लेते थे अर्थात् इन बातों में वहाँ के-रहने वाले सब लोग ऋषियों के समान थे ॥६॥

नाकुण्डली नामुकुटी नास्रग्वी नाल्पभोगवान्[1] ।
नामृष्टो[2] नानुलिप्ताङ्गो नासुगन्धश्च विद्यते ॥१०॥

वहाँ ऐसा एक भी जन नहीं था जो कानों में कुण्डल, सिर पर मुकुट तथा गले में पुष्पमाला धारण न करता हो और जो तेल-फुलेल, चन्दन न लगाता हो या जो हर प्रकार से सुखी न हो। ऐसा तो कोई भी न था जिसके (स्वच्छता न रहने के कारण) शरीर से बदबू निकलती हो ॥१०॥

नामृष्ट[3]भोजी नादाता नाप्यनङ्गदनिष्कधृक् ।
नाहस्ताभरणो वाऽपि दृश्यते नाप्यनात्मवान् ॥११॥

वहाँ ऐसा एक भी जन न था, जो *अशुद्ध अन्न खाता हो (या अच्छे पदार्थ न खाता हो) या जो भूखे को अन्न न देता हो या जिसके बाजूबंद और हाथों में सोने के कड़े न हो या जिसने अपने मन को न जीत रखा हो ॥११॥

---

१ अल्पभोगवान्—अल्पसुखवान् (गो०) २ मृष्टः—अभ्यङ्गस्नान-शुद्धः (गो०) ३ नामृष्टभोजी—अशुद्धान्नभोजी (शि०)

* बलिवैश्वदेवादि कर्म किए बिना अन्न शुद्ध नहीं होता।

नानाहिताग्निर्नायज्वा[1] न क्षुद्रो वा न तस्करः ।
कश्चिदासीदयोध्यायां न च निर्वृत्तसंकरः[2] ॥१२॥

अयोध्या में न तो कोई पुरुष ऐसा ही था जिसे अग्निहोत्र बलि वैश्वदेव करना चाहिए और न करता हो या जो क्षुद्रचेता या नीच स्वभाव का हो या चोर हो या वर्णसङ्कर हो ॥१२॥

स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः ।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे ॥१३॥

वहाँ पर तो अपने-अपने वर्णाश्रम धर्मों का नित्य अनुष्ठान करने वाले, जितेन्द्रिय, दान और अध्ययनशील तथा दान (प्रतिग्रह) लेने में हिचकने वाले ब्राह्मण ही बसते थे ॥१३॥

न नास्तिको नानृतको न कश्चिदबहुश्रुतः ।
नासूयको न चाऽशक्तो नाविद्वान्विद्यते क्वचित् ॥१४॥

अयोध्या में न तो कोई नास्तिक ही था, न कोई असत्यवादी था, न कोई अल्प अनुभवी था, न कोई परनिन्दाप्रिय था, न कोई अशक्त था और न कोई अशिक्षित मूर्ख ही था ॥१४॥

नाषडङ्ग[3] विदत्रासीन्नाव्रतो[4] नासहस्रदः[5] ।
न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन ॥१५॥

वहाँ न कोई ऐसा ही द्विज था जो नित्य षडङ्ग वेद का स्वाध्याय

---

१ नायज्वा—सोमयागरहितश्च (शि०) २ निर्वृत्तसङ्करः=निर्वृत्तः अनुष्ठितः, सङ्कर परक्षेत्रे वीजावापादिर्येन सः (गो०)

३ षडङ्ग वेद के छः अङ्ग :—

१ शिक्षा, २ कल्प, ३ सूत्र, ४ निरुक्त, ५ ज्योतिष और ६ पिंगल ।

४ एकादश्यादिव्रतरहितः (वि०) । ५ नासहस्रदः=अबहुप्रदः (गो०)

न करता हो या जो एकादशी आदि व्रतों को न रखता हो, या जो देने में कोताई करता हो या दीन हो या पागल हो या व्यथित हो अथवा दुखिया हो ॥१५॥

कश्चिन्नरो वा नारी वा नाश्रीमान्नप्यरूपवान् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान् ॥१६॥

अयोध्या मे बसने वाले क्या पुरुष और क्या स्त्रियाँ, कोई भी निर्धन और कुरूप न थीं। उस पुरी में ऐसा भी कोई पुरुष नहीं देख पड़ता था, जो राजभक्त न होकर राजद्रोही हो ॥१६॥

वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः ।
*कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः ॥१७॥

वहाँ तो चारों वर्ण वाले लोग बसते थे, जो देवताओं और अतिथियों का पूजन किया करते थे, जो कृतज्ञ, वदान्य, (वचन को पूरा करने वाले,) दाननिपुण शूरवीर और विक्रमशाली थे ॥१७॥

दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः ।
सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे ॥१८॥

सब लोग अयोध्यावासी दीर्घ आयु वाले, धर्म और सत्य का आश्रय लेने वाले, पुत्र पौत्र और स्त्रियों से भरे पूरे थे ॥१८॥

* किए हुए उपकार को मानने वाले।

क्षत्रं ब्रह्ममुखं[1] चासीद्वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः ।
शूद्राः स्वधर्मनिरतास्त्रीन्वर्णानुपचारिणः ॥१६॥

वहाँ के क्षत्रियगण ब्राह्मणों के आज्ञाकारी, वैश्यगण क्षत्रियों के अनुवर्ती (अर्थात् कहने में चलने वाले) और शूद्रगण अपने वर्ण के धर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति के लोगों की सेवा करने वाले थे ॥१६॥

सा तेनेक्ष्वाकुनाथेन पुरी सुपरिरक्षिता ।
यथा पुरस्तान्मनुना मानवेन्द्रेण धीमता ॥२०॥

महाराज दशरथ उसी प्रकार अयोध्यापुरी का पालन किया करते थे, जिस प्रकार उनके पूर्वज बुद्धिमान् नरेन्द्र महाराज मनु कर चुके थे ॥२०॥

योधानामग्निकल्पानां पेशलानां[2] अमर्षिणाम् ।
संपूर्णा कृतविद्यानां गुहा केसरिणामिव ॥२१॥

अग्नि के समान तेजस्वी, सरलचित्त, शत्रु-बल को न सहने वाले, अस्त्र-शस्त्र-परिचालन में निपुण योद्धाओं से अयोध्यापुरी उसी प्रकार भरी पूरी थी, जिस प्रकार पर्वत-कन्दराएँ सिंहों से भरी हुई होती हैं ॥२१॥

कम्बोजविषये जातैर्बाह्लीकैश्च हयोत्तमैः ।
वनायुजैर्नदीजैश्च पूर्णा हरिहयोत्तमैः ॥२२॥

---

१ ब्रह्ममुख = ब्राह्मणप्रधानमासीत् (गो०) २ पेशलानाम्—अकुटिलानाम् ।

इन्द्र के घोड़ों के समान कम्बोज, वाह्लीक, बनायुज और सिन्धु नदी के समीपवर्ती देशों में उत्पन्न हुए घोड़ों की जाति के उत्तमोत्तम घोड़ों से अयोध्यापुरी सुशोभित थी ॥२२॥

विन्ध्यपर्वतजैर्मत्तैः पूर्णा हैमवतैरपि ।
मदान्वितैरतिबलैर्मातङ्गैः पर्वतोपमैः ॥२३॥

ऐरावतकुलीनैश्च महापद्मकुलैस्तथा ।
अञ्जनादपि निष्पन्नैर्वामनादपि च द्विपैः ॥२४॥

भद्रैर्मन्द्रैर्मृगैश्चैव भद्रमन्द्रमृगैस्तथा ।
भद्रमन्द्रैर्भद्रमृगैर्मृगमन्द्रैश्च सा पुरी ॥२५॥

नित्यमत्तैः सदा पूर्णा नागैरचलसंनिभैः ।
सा योजने च द्वे [१] भूयः सत्यनामा प्रकाशते ॥२६॥

विन्ध्याचल और हिमालय पर्वतों में उत्पन्न मदमस्त, अति बलशाली तथा पहाड़ों की नाईं ऊँचे और महापद्म कुल वाले; भद्र, मन्द्र और मृग जाति वाले और इन तीनों जातियों के मिश्रित लक्षणयुक्त, भद्रमन्द्र, भद्रमृग और मृगमन्द्र—इन दो दो जातियों के मिश्रित लक्षण युक्त, पर्वताकार हाथियों से भरी‌ दो योजन वाली, अपने नाम को सार्थक करने वाली अयोध्यापुरी थी। (अयोध्या का अर्थ है—जिससे कोई युद्ध न कर सके अर्थात् अजेया) ॥२३॥२४॥२५॥२६॥

[नोट—१ श्लोक ७ सर्ग ५ में—"दशद्वेच योजनानि" कहकर अयोध्या का विस्तार १२ योजन का बतलाया जा चुका है। किन्तु इस श्लोक में वह विस्तार केवल २ योजन ही रह गया है।]

यस्यां दशरथो राजा वसञ्जगदपालयत् ।
तां पुरीं स महातेजा राजा दशरथो महान् ।
शशास शमितामित्रो नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥२७॥

इस प्रकार की अयोध्या नगरी में महाराज दशरथ रह कर राज्य करते थे। उस पुरी में महाराज दशरथ राज्य करते हुए उसी प्रकार शोभायमान होते थे, जिस प्रकार नक्षत्रों के बीच में चन्द्रमा ॥२७॥

तां सत्यनामां दृढतोरणार्गलां
गृहैर्विचित्रैरुपशोभितां शिवाम् ।
पुरीमयोध्यां नृसहस्रसंकुलां
शशास वै शक्रसमो महीपतिः ॥२८॥

अपने नाम को चरितार्थ करने वाली अयोध्यापुरी में, जो दृढ़ तोरण अर्गलादि से युक्त थी, जिसमें चित्र विचित्र घर बने हुए थे और जिसमें हजारों धनी मनुष्य वास करते थे, महाराज दशरथ इन्द्र की तरह राज्य करते थे ॥२८॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

तत्रासीत् पिङ्गलोगार्ग्यस्त्रिजटोनाम वै द्विजः ।
उञ्छवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गलः ॥२९॥
तं वृद्धं तरुणी भार्या बालानादाय दारकान् ।
अब्रवीद्ब्राह्मणं वाक्यं दारिद्र्येणाभिपीडिता ॥३०॥
(इनके अर्थ के लिए अयोध्याकाण्ड देखो)

इससे विदित होता है कि, यह बात नहीं थी कि अयोध्या मे कोई गरीब या निर्धन था ही नहीं।

बालकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

सप्तमः सर्गः

—o:—

तस्यामात्या गुणैरासन्निक्ष्वाकोस्तु महात्मनः।
मन्त्रज्ञाश्चेङ्गितज्ञाश्च नित्यं प्रियहिते रताः ॥१॥

उन इक्ष्वाकुवंशोद्भव महाराज दशरथ के मंत्रिगण, सर्वगुणसम्पन्न, सत्परामर्श देने मे निपुण, अपने स्वामी (अर्थात् महाराज दशरथ) के मन की गति को समझने वाले, अर्थात् इशारों पर काम करने वाले और महाराज की सदा भलाई चाहने वाले थे ॥१॥

अष्टौ बभूवुर्वीरस्य तस्यामात्या यशस्विनः।
शुचयश्चानुरक्ताश्च राजकृत्येषु नित्यशः ॥२॥

महाराज दशरथ के मंत्रिमण्डल मे आठ मंत्री थे। वे सब बड़े यशस्वी, ईमानदार और नित्य (सदा) राजकार्य में निरत रहने वाले थे ॥२॥

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सिद्धार्थो ह्यर्थसाधकः।
अशोको मन्त्रपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽभवत् ॥३॥

आठ मन्त्रियों के नाम ये थे—(१) धृष्टि, (२) जयन्त (३) विजय, (४) सिद्धार्थ, (५) अर्थसाधक, (६) अशोक, (७) मंत्रपाल और (८) सुमन्त्र ॥३॥

ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे ॥४॥

इनके अतिरिक्त ऋषिवर्य वसिष्ठ और वामदेव* महाराज को यज्ञादि कर्म कराते थे और मन्त्री भी उनके मतानुसार यज्ञादि कर्मों मे उनका हाथ बँटाते थे ॥४॥

विद्याविनीता ह्रीमन्तः कुशला नियतेन्द्रियाः ।
परस्परानुरक्ताश्च नीतिमन्तो बहुश्रुताः ॥५॥

श्रीमन्तश्च महात्मानः[१] शास्त्रज्ञो दृढविक्रमाः ।
कीर्त्तिमन्तः प्रणिहिता[२] यथावचनकारिणः ॥६॥

तेजःक्षमायशःप्राप्ताः स्मितपूर्वाभिभाषिणः ।
क्रोधात्कामार्थहेतोर्वा न ब्रूयुरनृतं वचः ॥७॥

तेषामविदितं किंचित्स्वेषु नास्ति परेषु वा ।
क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकीर्षितम् ॥८॥

कुशला व्यवहारेषु सौहृदेषु[३] परीक्षिताः ।
प्राप्तकालं तु ते दण्डं धारयेयुः सुतेष्वपि ॥९॥

---

१ महात्मानः = महाबुद्धयः (गो०)

२ प्रणिहिता = राज्यकृत्येष्वप्रमत्ताः (गो०)

३ सौहृदेषु = विषयेषु (गो०)

* किसी-किसी रामायण की पुस्तक में सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, गौतम, मार्कण्डेय और कात्यायन महर्षियों को भी कुलपरम्परा से महाराज दशरथ के मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित बतलाया है ।

ये सब मन्त्री विद्या-विनय-सम्पन्न, सलज्ज, कार्य-कुशल, जितेन्द्रिय, आपस मे सद्भाव रखने वाले, नीतिविशारद, वड़े अनुभवी, धन-सम्पत्ति से भरे पूरे, बड़े बुद्धिमान्, शास्त्र के मर्म को जानने वाले, बड़े पराक्रमी, प्रसिद्ध, (जागरूक) सावधान, राजा के राजकार्य मे प्रमाद न करने वाले अथवा अपनी बात के धनी (जो कहें वही करें भी), तेजस्वी, क्षमावान, यशस्वी और सदा प्रसन्न मुख हो वचन कहने वाले, क्रोध अथवा लोभवश हो कभी झूठ न बोलने वाले थे। अपनी प्रजा तथा दूसरे राज्यो की प्रजा का कोई भी हाल इन मन्त्रियों से छिपा न था, क्योकि वे चरो द्वारा सब वृत्तान्त जानते रहते थे। वे व्यवहारकुशल, अपने अपने विभागों की पूर्ण जानकारी रखने वाले और अन्याय कार्य करने पर अपने पुत्र को भी न्यायोचित दंड देने वाले थे ॥५॥६॥७॥८॥९॥

कोशसंग्रहणे युक्ता बलस्य च परिग्रहे[1]।
अहितं वापि पुरुषं न विहिंस्युरदूषकम् ॥१०॥

वे सब मन्त्री अर्थ की, और सैन्य को समय पर वेतनादि देने की व्यवस्था रख, सेना को अपने पक्ष मे रखने वाले और निरपराध शत्रु को भी न सताने वाले थे ॥१०॥

वीराश्च नियतोत्साहा राजशास्त्रमनुष्ठिताः।
शुचीनां रक्षितारश्च नित्यं विषयवासिनाम् ॥११॥

वे वीर और उत्साह को नियमित रखने वाले, राजनीति का व्यवहार करने वाले और राज्य में बसने वाले पवित्रात्माओं की सदा रक्षा करने वाले थे ॥११॥

---

१ परिग्रहे = अर्थप्रदानेन संरक्षणे च युक्ताः (गो०)

ब्रह्मक्षत्रमहिंसन्तस्ते कोशं समवर्धयन् ।
सुतीक्ष्णदण्डाः संप्रेक्ष्य पुरुषस्य बलाबलम् ॥१२॥

वे ब्राह्मणों और क्षत्रियों को बिना सताए ही राजकोष की वृद्धि करने वाले थे और अपराधी का बलाबल विचार कर, कठोर दण्ड की व्यवस्था करने वाले थे ॥१२॥

शुचीनामेकबुद्धीनां सर्वेषां संप्रजानताम्[1] ।
नासीत्पुरे वा राष्ट्रे वा मृषावादी नरः क्वचित् ॥१३॥

कश्चिन्न दुष्टस्तत्रासीत्परदाररतो नरः ।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद्राष्ट्रं पुरवरं च तत् ॥१४॥

मन्त्रियों में राज्यतन्त्र सम्बन्धी कामों में, परस्पर मतैक्य रहता था और (उनका आतङ्क ऐसा था कि) राजधानी और राज्य भर में न तो कोई झूठा और न कोई लम्पट और न दुराचारी मनुष्य रहने पाता था। राज्य भर में अमनचैन विराजता था ॥१३॥१४॥

सुवाससः सुवेषाश्च ते च सर्वे सुशीलिनः ।
हितार्थं च नरेन्द्रस्य जाग्रतो नयचक्षुषा[2] ॥१५॥

वे लोग अच्छे वस्त्र पहनते थे और अच्छी वेशभूषा रखते थे तथा बड़े सुशील थे। वे सदा राजा का हित चाहने वाले और नीति पर बड़ा ध्यान देने वाले थे ॥१५॥

---

१ संप्रजानताम्=राज्यतन्त्र विचारयताम् (गो०)

२ नयचक्षुषा जाग्रतः=सर्वदा नीतिषु दत्तावधाना (गो०)

गुरौ गुणगृहीताश्च प्रख्याताश्च पराक्रमे ।
विदेशेष्वपि विख्याताः सर्वतो बुद्धिनिश्चयात् ॥१६॥

वे अच्छे गुणों के ग्राहक और प्रसिद्ध पराक्रमी थे। वे अपने बुद्धिबल से विदेशस्थ पुरुषों के भी गुण-दोष ताड़ लेने के लिए विख्यात थे ॥१६॥

संधिविग्रहतत्त्वज्ञाः प्रकृत्या संपदान्विताः ।
मन्त्रसंवरणे युक्ताः श्लक्ष्णाः सूक्ष्मासु बुद्धिषु ॥१७॥

वे सन्धि और विग्रह की नीति के मर्मज्ञ, वास्तविक संपत्ति वाले, राजकाज सम्बन्धी सलाह को छिपा कर रखने वाले, प्रतिभावान् और सूक्ष्म विचार करने के लिए सदा तत्पर रहते थे ॥१७॥

नीतिशास्त्रविशेषज्ञाः सततं प्रियवादिनः ।
ईदृशैस्तैरमात्यैश्च राजा दशरथोऽनघः ॥१८॥
उपपन्नो गुणोपेतैरन्वशासद्वसुंधराम् ।
अवेक्षमाणश्चारेण प्रजा धर्मेण रञ्जयन् ॥१९॥

वे नीतिशास्त्र के विशेषज्ञ और सदैव प्रिय वचन बोलने वाले थे। इस प्रकार के गुणयुक्त मन्त्रिमण्डल से युक्त, महाराज दशरथ भेदिया पुलिस द्वारा राज्य के समाचार जान कर, प्रजा का मनोरंजन करते हुए, पृथ्वी पर राज्य करते थे ॥१८॥१९॥

प्रजानां पालनं कुर्वन्नधर्मं परिवर्जयन् ।
विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु वदान्यः सत्यसंगरः ॥२०॥

वे अधर्म त्याग कर प्रजा का पालन करते थे। वे सत्य बोलने और दानशीलता के लिए तीनों लोकों में विख्यात थे ॥२०॥

स तत्र पुरुषव्याघ्रः शशास पृथिवीमिमाम् ।
नाध्यगच्छद्विशिष्टं वा तुल्यं वा शत्रुमात्मनः ॥२१॥

वे पुरुषसिंह महाराज दशरथ इस पृथ्वी का शासन करते हुए, अपने से अधिक व अपने समान शत्रु को कभी न देखते थे ॥२१॥

मित्रवान्नतसामन्तः प्रतापहतकण्टकः ।
स शशास जगद्राजा दिवं देवपतिर्यथा ॥२२॥

अपने अधीनस्थ छोटे राजाओं से सम्मानित और मित्रों से युक्त महाराज दशरथ, अपने प्रताप से इन्द्र की तरह राज्य करते थे ॥२२॥

तैर्मन्त्रिभिर्मन्त्रहिते नियुक्तै-
र्वृतोऽनुरक्तैः कुशलैः समर्थः ।
स पार्थिवो दीप्तिमवाप युक्त-
स्तेजोमयैर्गोभिरिवोदितोऽर्कः ॥२३॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

हितकारी, तेजस्वी, समर्थ और अनुरागी मन्त्रियो सहित महाराज दशरथ अयोध्या की रक्षा करते हुए, सूर्य की तरह तपते थे ॥२३॥

बालकाण्ड का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

अष्टमः सर्गः

—o—

तस्य त्वेवंप्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः ।
सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद्वंशकरः सुतः ॥१॥

ऐसे प्रतापी, धर्मज्ञ महाराज दशरथ के तपस्या करने पर भी उनके वंश की वृद्धि करने वाला कोई पुत्र न था ॥१॥

चिन्तयानस्य तस्येयं बुद्धिरासीन्महात्मनः ।
सुतार्थी वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम् ॥२॥

तब पुत्रोत्पत्ति का उपाय खोजते हुए महाराज दशरथ ने मन मे सोचा कि मैं पुत्र-प्राप्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ क्यो न करूँ ? ॥२॥

स निश्चितां मतिं कृत्वा यष्टव्यमिति बुद्धिमान् ।
मन्त्रिभिः सह धर्मात्मा सर्वैरेव कृतात्मभिः ॥३॥

इस प्रकार यज्ञ करने का भली भाँति निश्चय करके, परम ज्ञानी महाराज ने अपने बुद्धिमान् मन्त्रियों को बुलाया ॥३॥

ततोऽब्रवीदिदं राजा सुमन्त्रं मन्त्रिसत्तमम् ।
शीघ्रमानय मे सर्वान्गुरूंस्तान्सपुरोहितान् ॥४॥

सब मन्त्रियो मे श्रेष्ठ सुमन्त से महाराज दशरथ ने कहा कि, तुम हमारे सब गुरुओ और पुरोहितों को शीघ्र बुला लाओ ॥४॥

ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः ।
समानयत्स तान्सर्वान्गुरूंस्तान्वेदपारगान् ॥५॥

शीघ्रगामी सुमन्त्र अति शीघ्र उन सब वेद पारग गुरुओं को बुला लाए ॥५॥

सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम् ।
पुरोहितं वसिष्ठं च ये चान्ये द्विजसत्तमाः ॥६॥

सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप और पुरोहित वसिष्ठ के अतिरिक्त अन्य उत्तम ब्राह्मणों को भी सुमन्त्र बुला ले गए ॥६॥

तान्पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ।
इदं धर्मार्थसहितं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥७॥

उन सब का धर्मात्मा महाराज दशरथ ने सम्मान किया और धर्म और अर्थ युक्त उनसे यह मधुर वचन कहे ॥७॥

मम लालप्यमानस्य[1] पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम् ।
तदर्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम ॥८॥

पुत्र के लिए बहुत दुःखी होने पर भी, मुझे पुत्रसुख प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए पुत्रप्राप्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ करने की मेरी इच्छा है ॥८।

तदहं यष्टुमिच्छामि शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
कथं प्राप्स्याम्यहं कामं बुद्धिरत्र विचार्यताम् ॥९॥

किन्तु मैं शास्त्र की विधि के अनुसार यज्ञ करना चाहता हूँ। आप लोग सोच विचार कर, बतलावें कि हमारी इष्टसिद्धि किस प्रकार हो सकती है ॥९॥

ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन् ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखेरितम् ॥१०॥

महाराज के यह वचन सुन कर, सब उपस्थित ब्राह्मणों ने महाराज के विचार की प्रशंसा की और वसिष्ठादि बोले कि, आपने बहुत अच्छा कार्य करना विचारा है ॥१०॥

ऊचुश्च परमप्रीताः सर्वे दशरथं वचः ।
संभाराः संभ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम् ॥११॥

---

१ लालप्यमानस्य = भृशं विलपतः (गो०)

ये सब अत्यन्त प्रसन्न हो महाराज से बोले कि, यज्ञ की सामग्री एकत्र करके घोड़ा छोड़िए ॥११॥

सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ।
सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रानभिप्रेतांश्च पार्थिव ॥१२॥

सरयू नदी के उत्तर तट पर यज्ञमंडप बनवाइए। हे राजन्! ऐसा करने से आपका पुत्र-प्राप्ति का मनोरथ अवश्य पूरा होगा ॥१२॥

यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता ।
ततः प्रीतोऽभवद्राजा श्रुत्वैतद्द्विजभाषितम् ॥१३॥

पुत्र-प्राप्ति के लिए आपने यह धर्माचरण विषयक उपाय बहुत ही अच्छा विचारा है। उन ब्राह्मणों की ये बातें सुन महाराज दशरथ प्रसन्न हुए ॥१३॥

अमात्यांश्चाब्रवीद्राजा हर्षपर्याकुलेक्षणः ।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां मे गुरूणां वचनादिह ॥१४॥

और प्रसन्न हो मन्त्रियों को आज्ञा दी कि, मेरे गुरुओं की आज्ञा के अनुसार यज्ञ की तैयारियाँ की जायँ ॥१४॥

समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम् ।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ॥१५॥

उपाध्याय के साथ समर्थ रक्षकों सहित घोड़ा छोड़ा जाय और सरयू के तट पर यज्ञ के लिए स्थान ठीक किया जाय ॥१५॥

शान्तयश्चाभिवर्धन्तां यथाकल्पं[1] यथाविधि ।
शक्यः कर्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि महीक्षिता ॥१६॥

---

१ यथाकल्पं = यथाक्रमम् (गो०)

विघ्ननिवारक क्रियाकलाप यथाक्रम और यथाविधि किए जायँ। क्योंकि, सब राजाओं के लिए अश्वमेध यज्ञ करना सहज काम नहीं है ॥१६॥

नापराधो भवेत्कष्टो यद्यस्मिन्क्रतुसत्तमे ।
छिद्रं हि मृगयन्तेऽत्र विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः[१] ॥१७॥

एक बात का ध्यान रखा जाय कि, इस यज्ञ की विधि पूरी करने मे न तो कोई अपचार हो और न किसी को कष्ट होने पावे। यदि कहीं ऐसा हुआ तो छिद्रान्वेषी विद्वान् ब्रह्मराक्षस यज्ञ में बड़ा विघ्न खड़ा कर देंगे ॥१७॥

निहतस्य च यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ।
तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते ॥१८॥

विधिहीन यज्ञ करने से यज्ञकर्त्ता का नाश होता है। अतएव विधिपूर्वक यज्ञ पूरा होना चाहिए ॥१८॥

तथा विधानं क्रियतां समर्थाः करणेष्विह ।
तथेति चाब्रुवन्सर्वे मन्त्रिणः प्रत्यपूजयन् ॥१९॥

आप लोग ऐसा प्रयत्न करें, जिससे यह यज्ञ यथाविधि हो। यह कार्य आप ही लोग करने मे समर्थ हैं। महाराज के इन वचनों को सुन सब मंत्री लोगो ने कहा—"जो आज्ञा" ॥१९॥

पार्थिवेन्द्रस्य तद्वाक्यं यथाज्ञप्तं निशम्य ते ।
तथा द्विजास्ते धर्मज्ञा वर्धयन्तो नृपोत्तमम् ॥२०॥
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम् ।
विसर्जयित्वा तान्विप्रान्सचिवानिदमब्रवीत् ॥२१॥

---

१ ब्रह्मराक्षसः = अकृतप्रायश्चित्ता प्रतिग्राह्य प्रतिग्रहायाजनादिपापैः राक्षसत्वं प्राप्ताः ब्राह्मणाः (गो०)

ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं यथावत्क्रतुराप्यताम् ।
इत्युक्त्वा नृपशार्दूलः सचिवान्समुपस्थितान् ॥२२॥
विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महाद्युतिः ।
ततः स गत्वा ताः पत्नीर्नरेन्द्रो हृदयप्रियाः ॥२३॥

ब्राह्मणगण भी महाराज को आशीर्वाद दे और महाराज से विदा माँग अपने-अपने घरों को लौट गए। ब्राह्मणों को विदा कर महाराज अपने मंत्रियों से कहने लगे—ऋत्विजों ने जैसी विधि बतलाई है उसी विधि के अनुसार यह यज्ञ निर्विघ्न पूरा हो—इसका भार आप ही लोगों पर है। यह कह कर महाराज ने उपस्थित मंत्रियों को भी विदा किया और आप भी वहाँ से उठ कर रनिवास में चले गए और अपनी प्राणप्यारी रानियों से बोले ॥२०॥२१॥२२॥२३॥

उवाच दीक्षां विशत यक्ष्येऽहं सुतकारणात् ।
तासां तेनातिकान्तेन वचनेन सुवर्चसाम् ।
मुखपद्मान्यशोभन्त पद्मानीव हिमात्यये ॥२४॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

हम पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञ करेंगे, तुम भी यज्ञदीक्षा के नियमों का पालन करो। महाराज के मुख से यह प्यारे वचन सुन रानियाँ बहुत प्रसन्न हुईं। इस सुखदायी संवाद को सुन रानियों के मुख-कमल ऐसे सुशोभित हो गए, जैसे वसन्तकाल में खिले कमल के फूल शोभा को प्राप्त होते हैं ॥२४॥

बालकाण्ड का आठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—०:—

भवन्तः श्रुतधर्माणो लोकचारित्रवेदिनः ।
समादिशन्तु नियमं प्रायश्चित्तं यथा भवेत् ॥१०॥

आप लोग वैदिकधर्मों और लोकाचार के जानने वाले हैं। अतः आप हमारे उन दुष्कर्मों का, जिनके कारण वर्षा नहीं हो रही है, प्रायश्चित्त बतलाइए ॥१०॥

वक्ष्यन्ति ते महीपालं ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
विभण्डकसुतं राजन्सर्वोपायैरिहानय ॥११॥

राजा के इस प्रश्न को सुन, वेदपारग ब्राह्मण उत्तर देंगे कि, राजन्! जैसे बने वैसे विभण्डक मुनि के पुत्र ऋष्यशृङ्ग को यहाँ ले आइए ॥११॥

आनीय च महीपाल ऋष्यशृङ्गं सुसत्कृतम् ।
प्रयच्छ कन्यां शान्तां वै विधिना सुसमाहितः ॥१२॥

और उनको यहाँ लाकर उनका सत्कार कीजिए और यथाविधि उनके साथ अपनी कन्या शान्ता का विवाह कर दीजिए ॥१२॥

तेषां तु वचनं श्रुत्वा राजा चिन्तां प्रपत्स्यते ।
केनोपायेन वै शक्य इहानेतुं स वीर्यवान् ॥१३॥

उनके इस कथन को सुन, राजा को यह चिन्ता होगी कि, वे जितेन्द्रिय मुनि ऋष्यशृंग, किस उपाय से यहाँ लाए जा सकते हैं ॥१३॥

ततो राजा विनिश्चित्य सह मन्त्रिभिरात्मवान् ।
पुरोहितममात्यांश्च ततः प्रेष्यति सत्कृतान् ॥१४॥

बहुत सोच विचार के बाद राजा अपने पुरोहित और मंत्रियों को मुनि के पास जाने को कहेंगे ॥१४॥

ते तु राज्ञो वचः श्रुत्वा व्यथिता विनताननाः ।
न गच्छेयुर्ऋषेर्भीता अनुनेष्यन्ति तं नृपम् ॥१५॥

किन्तु वे विनीत लोग मुनि के शाप के डर से भयभीत हो राजा से विनम्र भाव से निवेदन करेंगे कि, हम लोगों को, स्वयं वहाँ जाकर ऋष्यश्रृङ्ग को यहाँ लाने में ऋषि के शाप का डर लगता है ॥१५॥

वक्ष्यन्ति चिन्तयित्वा ते तस्योपायांश्च तत्क्षमान् ।
आनेष्यामो वयं विप्रं न च दोषो भविष्यति ॥१६॥

परन्तु हाँ, हम अन्य किसी ऐसे उपाय से उन मुनि को यहाँ ले आवेंगे कि, जिससे हमको दोष न लगेगा ॥१६॥

एवमङ्गाधिपेनैव गणिकाभिर्ऋषेः सुतः ।
आनीतोऽवर्षयद्देवः शान्ता चास्मै प्रदीयते ॥१७॥

राजा वेश्याओं द्वारा ऋषिपुत्र को बुलावेंगे और उनके आने पर वृष्टि होगी और राजा अपनी कन्या शान्ता ऋष्यश्रृङ्ग को व्याह देंगे ॥१७॥

ऋष्यश्रृङ्गस्तु जामाता पुत्रांस्तव विधास्यति ।
सनत्कुमारकथितमेतावद्व्याहृतं मया ॥१८॥

वे ही ऋष्यश्रृङ्ग आपको पुत्र देंगे—यह बात मुझसे सनत्कुमार जी ने पहले ही कह रखी है और वही मैंने (आज) आपसे कही है ॥१८॥

अथ हृष्टो दशरथः सुमन्त्रं प्रत्यभाषत ।
यथर्ष्यशृङ्गस्त्वानीतो विस्तरेण त्वयोच्यताम् ॥१९॥

इति नवमः सर्गः ॥

यह सुन महाराज दशरथ प्रसन्न हुए और सुमंत्र से बोले कि जिस प्रकार रोमपाद ने ऋष्यशृंग को बुलाया, वह हाल हमसे ब्योरेवार कहो ॥१९॥

बालकाण्ड का नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

दशमः सर्गः

—:०—

सुमन्त्रश्चोदितो राज्ञा प्रोवाचेदं वचस्तदा ।
यथर्ष्यशृङ्गस्त्वानीतः शृणु मे मन्त्रिभिः सह ॥१॥

महाराज दशरथ के इस प्रकार पूछने पर, सुमन्त्र ने विस्तारपूर्वक वृत्तान्त कहना आरम्भ किया। सुमन्त्र बोले, हे महाराज! जिस उपाय से (रोमपाद के मन्त्रिवर्ग द्वारा) ऋष्यशृंग लाए गए, सो मैं कहता हूँ। उसे आप मन्त्रियों सहित सुनिए ॥१॥

रोमपादमुवाचेदं सहामात्यः पुरोहितः ।
उपायो निरपायोऽयमस्माभिरभिमन्त्रितः ॥२॥

मन्त्री और पुरोहित रोमपाद से बोले कि, हमने निर्विघ्न कृतकार्य होने का एक उपाय सोचा है ॥२॥

ऋष्यशृङ्गो वनचरस्तपः स्वाध्यायने रतः ।
अनभिज्ञः स नारीणां विषयाणां सुखस्य च ॥३॥

ऋष्यश्रृंग वन के रहने वाले और सदा तप और स्वाध्याय मे निरत रहते हैं। उनको स्त्रीसुख और अन्य विषयों के सुख का कुछ भी अनुभव नहीं है ॥३॥

इन्द्रियार्थैरभिमतैर्नरचित्तप्रमाथिभिः ।
पुरमानाययिष्यामः क्षिप्रं चाध्यवसीयताम्[1] ॥४॥

अतः मनुष्यों को मुग्ध करने वाली इन्द्रियों के विषयों द्वारा उनको शीघ्र नगर मे ले आवेंगे। बस अब इसका शीघ्र निश्चय करना चाहिए ॥४॥

गणिकास्तत्र गच्छन्तु रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
प्रलोभ्य विविधोपायैरानेष्यन्तीह सत्कृताः ॥५॥

रूपवती और आभूषणों से बनी-ठनी वेश्याएँ भेजी जायँ। वे मुनि को तरह-तरह के प्रलोभन दिखा सत्कारपूर्वक लिवा लावेंगी ॥५॥

श्रुत्वा तथेति राजा च प्रत्युवाच पुरोहितम् ।
पुरोहितो मन्त्रिणश्च तथा चक्रुश्च ते तदा ॥६॥

यह सुन राजा ने पुरोहित को और पुरोहित ने मन्त्रियों को तदनुसार करने को कहा ॥६॥

वारमुख्यास्तु तच्छ्रुत्वा वनं प्रविविशुर्महत् ।
आश्रमस्याविदूरेऽस्मिन्यत्नं कुर्वन्ति दर्शने ॥७॥

इस प्रकार की बाते सुन वेश्याएँ वन मे जहाँ ऋष्यश्रृंग का आश्रम था गईं और आश्रम के निकट पहुँच कर, सदा आश्रम मे रहने वाले ऋषिपुत्र से मिलने का प्रयत्न करने लगीं ॥७॥

---

१ अध्यवसीयताम्=निश्चीयताम् (गो०)

ऋषिपुत्रस्य धीरस्य नित्यमाश्रमवासिनः ।
पितुः स नित्यसन्तुष्टो नातिचक्राम चाश्रमात् ॥८॥

क्योंकि धीर स्वभाव, ऋषिपुत्र ऋष्यशृंग पिता के लालन-पालन से सन्तुष्ट होकर कभी भी आश्रम के बाहर नहीं निकलते थे ॥८॥

न तेन जन्मप्रभृति दृष्टपूर्वं तपस्विना ।
स्त्री वा पुमान्वा यच्चान्यत्सत्त्वं नगरराष्ट्रजम् ॥९॥

तपस्वी ऋष्यशृंग ने आज तक स्त्री, पुरुष, नगर व राज्य के अन्य जीवों को कभी नहीं देखा था ॥९॥

ततः कदाचित्तं देशमाजगाम यदृच्छया[1] ।
विभण्डकसुतस्तत्र ताश्चापश्यद्वरांगनाः ॥१०॥

जिस जगह वे वेश्याएँ उस वन में ठहरी हुई थीं, दैवयोग से एक दिन अपने आप ऋष्यशृङ्ग पहुँचे और उन वेश्याओं को उन्होंने देखा ॥१०॥

ताश्चित्रवेषाः प्रमदा गायन्त्यो मधुरस्वरैः ।
ऋषिपुत्रमुपागम्य सर्वा वचनमब्रुवन् ॥११॥

चित्र-विचित्र वेश बनाए मधुर स्वर से गाती हुईं वे सब वेश्याएँ ऋषिपुत्र के पास जाकर बोलीं ॥११॥

कस्त्वं किं वर्तसे ब्रह्मञ्ज्ञातुमिच्छामहे वयम् ।
एकस्त्वं विजने घोरे वने चरसि शंस नः ॥१२॥

हे ब्रह्मदेव ! तुम किस जाति के हो, किसके लड़के हो, तुम्हारा क्या नाम है और तुम यहाँ क्या करते हो ? तथा हम जानना

१ यदृच्छया = दैववशात (गो०)

चाहती हैं कि, तुम किस लिए इस निर्जन वन मे अकेले घूमते फिरते हो ? ॥१२॥

अदृष्टरूपास्तास्तेन काम्यरूपा वने स्त्रियः ।
हार्दात्तस्य[1] मतिर्जाता ह्याख्यातुं पितरं स्वकम् ॥१३॥

ऋष्यशृंग ने तो (आज के पूर्व) कभी (कमनीय कान्ति वाली) स्त्रियाँ (वन मे) देखी ही न थी। उनकी बुद्धि मोहित हो गई और वे उनके स्नेह में फँस अपने पिता का नाम बतलाने को तैयार हो गए ॥१३॥

पिता विभण्डकोऽस्माकं तस्याहं सुत औरसः ।
ऋष्यशृङ्ग इति ख्यातं नाम कर्म च मे भुवि ॥१४॥

मेरे पिता विभंडक हैं और मैं उनका औरस पुत्र हूं। मेरा नाम ऋष्यशृंग है। मेरा नाम और मैं जो कर्म यहाँ करता हूँ वह सब को विदित है ॥१४॥

इहाश्रमपदेऽस्माकं समीपे शुभदर्शनाः ।
करिष्ये वोऽत्र पूजां वै सर्वेषां विधिपूर्वकम् ॥१५॥

हे शुभानना ! यहाँ से समीप ही मेरा आश्रम है। वहाँ चलिए, मैं विधिपूर्वक आपका सत्कार करूँगा ॥१५॥

ऋषिपुत्रवचः श्रुत्वा सर्वासां मतिरास वै ।
तदाश्रमपदं द्रष्टुं जग्मुः सर्वाश्च तेन ताः ॥१६॥

ऋषिपुत्र के यह वचन सुन और उनके आश्रम को देखने की इच्छा से वे वेश्याएँ मुनि के साथ उनके आश्रम मे गईं ॥१६॥

---

१ हार्दात्—दर्शनजस्नेहाद् (गो०)

आगतानां ततः पूजामृषिपुत्रश्चकार ह ।
इदमर्घ्यमिदं पाद्यमिदं मूलमिदं फलम् ॥१७॥

उनके आश्रम में पहुँचने पर, ऋषिकुमार ने उनका सत्कार किया और अर्घ्य, पाद्य, फल, मूल उनको दिए ॥१७॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां सर्वा एव समुत्सुकाः ।
ऋषेर्भीतास्तु शीघ्रं ता गमनाय मतिं दधुः ॥१८॥
अस्माकमपि मुख्यानि फलानीमानि वै द्विज ।
गृहाण प्रति भद्रं ते भक्षयस्व च मा चिरम् ॥१९॥

तदनन्तर, वे वेश्याएँ ऋष्यश्रृङ्ग के पिता के डर से, वहाँ से शीघ्र लौटने की इच्छा से तरह-तरह की सुस्वाद मिठाइयाँ, जो वे अपने साथ ले गई थी, ऋषिपुत्र को देकर बोलीं—लीजिए, ये हमारे फल हैं, इन्हें आप स्वीकार कीजिए और इनको अभी चखिए ॥१८॥१९॥

ततस्तास्तं समालिङ्ग्य सर्वा हर्षसमन्विताः ।
मोदकान्प्रददुस्तस्मै भक्ष्यांश्च विविधाञ्शुभान् ॥२०॥

तदनन्तर उन सब ने प्रसन्न हो मुनिकुमार को गले लगा, अति स्वादिष्ट तरह-तरह के लड्डू तथा खाने की अन्य विविध वस्तुएँ उनको दीं ॥२०॥

तानि चास्वाद्य तेजस्वी फलानीति स्म मन्यते ।
अनास्वादितपूर्वाणि वने नित्यनिवासिनाम् ॥२१॥

उन्हें चखने पर भी ऋषिपुत्र (उन मिठाइयों को) फल ही समझते रहे। क्योंकि आजन्म वन में रहने के कारण, उन्होंने इसके पहले कभी कोई मिठाई तो खाई ही न थी, फिर वे

क्या समझें कि, मिठाई और फल मे भी कुछ अन्तर होता है ॥२१॥

आपृच्छ्य च तदा विप्रं व्रतचर्यां निवेद्य च ।
गच्छन्ति स्मापदेशात्ताः भीतास्तस्य पितुः स्त्रियः ॥२२॥

वे वेश्याएँ, आश्रम मे विभंडक ऋषि के लौट कर आ जाने के भय से झूठमूठ व्रत का बहाना वना, आश्रम से चली आईं ॥२२॥

गतासु तासु सर्वासु काश्यपस्यात्मजो द्विजः ।
अस्वस्थहृदयश्चासीद्दुःखात्संपरिवर्तते ॥२३॥

उन वेश्याओं के लौट आने पर, कश्यपपुत्र विभण्डक के सुत ऋष्यशृंग दुःख के मारे उदास हुए ॥२३॥

ततोऽपरेद्युस्तं देशमाजगाम स वीर्यवान् ।
मनोज्ञा यत्र ता दृष्टा वारमुख्याः स्वलंकृताः ॥२४॥

अगले दिन वे स्वयं फिर वही पहुँचे जहाँ पहले दिन उनकी भेंट उन मन को मोहने वाली बनीठनी वेश्याओं से हुई थी ॥२४॥

दृष्ट्वैव च तदा विप्रमायान्तं हृष्टमानसाः ।
उपसृत्य ततः सर्वास्तास्तमूचुरिदं वचः ॥२५॥

ऋषि-कुमार को आते देख, वेश्याएँ प्रसन्न हुईं और उनके पास जाकर यह कहने लगीं ॥२५॥

एह्याश्रमपदं सौम्य ह्यस्माकमिति चाब्रुवन् ।
तत्राप्येष विधिः श्रीमान्विशेषेण भविष्यति ॥२६॥

वे बोलीं—महाराज ! आइए, हमारा आश्रम भी देखिए। यहाँ की अपेक्षा वहाँ आपका सत्कार अधिक होगा ॥२६॥

श्रुत्वा तु वचनं तासां मुनिस्तद्धृदयंगमम् ।
गमनाय मतिं चक्रे तं च निन्युस्तदा स्त्रियः ॥२७॥

यह सुन ऋषि-कुमार के मन मे उनके साथ जाने की इच्छा उत्पन्न हुई और वेश्याएँ उनको अपने साथ ले आईं ॥२७॥

तत्र चानीयमाने तु विप्रे तस्मिन्महात्मनि ।
ववर्ष सहसा देवो जगत्प्रह्लादयंस्तदा ॥२८॥

नगर में मुनि के पहुँचते ही इन्द्रदेव ने रोमपाद के राज्य में जल बरसाया जिससे सब प्राणी प्रसन्न हो गए ॥२८॥

वर्षेणैवागतं विप्रं विषयं स्वं नराधिपः ।
प्रत्युद्गम्य मुनिं प्रीतः शिरसा च महीं गतः ॥२९॥
अर्घ्यं च प्रददौ तस्मै नियतः सुसमाहितः ।
वव्रे प्रसादं विप्रेन्द्रान्मा[१] विप्रं मन्युराविशेत् ॥३०॥

वर्षा होते ही रोमपाद ने मुनि को आया जान और मुनि के पास जा, बड़ी नम्रता से उनको प्रणाम किया और यथाविधि अर्घ्य-पाद्यादि प्रदान कर, उनका पूजन किया और उनसे यह वर माँगा कि उनके पिता विभण्डक रोमपाद पर कोप न करें ॥२९॥३०॥

अन्तःपुरं प्रविश्यास्मै कन्यां दत्त्वा यथाविधि ।
शान्तां शान्तेन मनसा राजा हर्षमवाप सः ॥३१॥

१—विभण्डक ऋषिम् (वि०)

फिर रोमपाद ऋषि-कुमार को रनिवास में लिवा ले गया और शान्ता का उनके साथ विधिपूर्वक विवाह कर, वह बहुत प्रसन्न हुआ ॥३१॥

एवं स न्यवसत्तत्र सर्वकामैः सुपूजितः ।
ऋष्यशृङ्गो महातेजाः शान्तया सह भार्यया ॥३२॥

इति दशमः सर्गः ॥

ऋष्यशृङ्ग भी शान्ता के साथ सब प्रकार से सुखी हो रोमपाद की राजधानी में रहने लगे ॥३२॥

बालकाण्ड का दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

एकादशः सर्गः

—:o:—

भूय एव हि राजेन्द्र शृणु मे वचनं हितम् ।
यथा स देवप्रवरः कथायामेवमब्रवीत् ॥१॥

इतना कह सुमन्त्र ने महाराज दशरथ से कहा कि, हे राजन्! इसके उपरान्त देवप्रवर सनत्कुमार ने जो और हितकर कहा सो भी सुन लीजिए ॥१॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातो भविष्यति सुधार्मिकः ।
राजा दशरथो नाम श्रीमान्सत्यप्रतिश्रवः ॥२॥

इक्ष्वाकु महाराज के वंश में बड़े धर्मात्मा और सत्यप्रतिज्ञ श्रीमान् महाराज दशरथ होंगे ॥२॥

अङ्गराजेन सख्यं च तस्य राज्ञो भविष्यति ।
पुत्रस्तु सोऽङ्गराजस्य रोमपाद इति श्रुतः ॥३॥

उनकी मैत्री अङ्गदेशाधिपति रोमपाद से होगी ॥३॥

तं स राजा दशरथो गमिष्यति महायशाः ।
अनपत्योऽस्मि धर्मात्मञ्शान्ताभर्ता मम क्रतुम् ॥४॥
आहरेत त्वयाज्ञप्तः संतानार्थं कुलस्य च ।
श्रुत्वा राज्ञोऽथ तद्वाक्यं मनसापि विमृश्य च ॥५॥

अङ्गराज के पुत्र रोमपाद के पास महायशस्वी महाराज दशरथ जायँगे और कहेंगे कि मेरे सन्तान होने के लिए यज्ञ कराने को आप शान्ता के पति ऋष्यशृङ्ग को मेरे यहाँ भेजिए। यह सुन रोमपाद मन मे सोच विचार कर, ॥४॥५॥

प्रदास्यते पुत्रवन्तं शान्ताभर्तारमात्मवान् ।
प्रतिगृह्य च तं विप्रं स राजा विगतज्वरः ॥६॥

शान्ता के पति ऋष्यशृंग को पुत्र सहित भेज देंगे। ऋष्यशृङ्ग को पाने से महाराज दशरथ की चिन्ता दूर होगी ॥६॥

आहरिष्यति तं यज्ञं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
तं च राजा दशरथो यष्टुकामः कृताञ्जलिः ॥७॥
ऋष्यशृङ्गं द्विजश्रेष्ठं वरयिष्यति धर्मवित् ।
यज्ञार्थं प्रसवार्थं च स्वर्गार्थं च नरेश्वरः ॥८॥

मन मे अत्यन्त प्रसन्न हो महाराज दशरथ उन ऋषिप्रवर को साथ लावेंगे और यज्ञ करने की अभिलाषा रखने वाले

दशरथ हाथ जोड़ कर धर्मात्मा ऋष्यश्रृंग को यज्ञ कराने के लिए उनको यज्ञ में ऋत्विज बनावेंगे ॥७॥८॥

लभते च स तं कामं द्विजमुख्याद्विशांपतिः ।
पुत्राश्चास्य भविष्यन्ति चत्वारोऽमितविक्रमाः ॥९॥

इस यज्ञ के प्रभाव से अर्थात् फल स्वरूप महाराज दशरथ के अमित पराक्रमी चार पुत्र उत्पन्न होंगे ॥९॥

वंशप्रतिष्ठानकराः सर्वलोकेषु विश्रुताः ।
एवं स देवप्रवरः पूर्वं कथितवान्कथाम् ॥१०॥

सनत्कुमारो भगवान्पुरा देवयुगे प्रभुः ।
स त्वं पुरुषशार्दूल तमानय सुसत्कृतम् ॥११॥

स्वयमेव महाराज गत्वा सबलवाहनः ।
अनुमान्य वसिष्ठं च सूतवाक्यं निशम्य च ॥१२॥

वे पुत्र वंश बढ़ाने वाले और सारे संसार में विख्यात होंगे। इस प्रकार सनत्कुमार जी ने यह कथा बहुत पूर्व अर्थात् इस चतुर्युगी के प्रथम सतयुग मे कही थी। अतः हे नरशार्दूल! आप स्वयं फौज और सवारियों सहित जाकर, उन ऋष्यश्रृङ्ग को आदर पूर्वक लिवा लाइए। महाराज दशरथ ने सूत अर्थात सुमन्त्र की कही यह कथा अपने गुरु वसिष्ठ जी को बुला कर सुनाई ॥१०॥११॥१२॥

वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञातो राजा संपूर्णमानसः ।
सान्तःपुरः सहामात्यः प्रययौ यत्र स द्विजः ॥१३॥

जब वसिष्ठ जी ने भी अपनी अनुमति दे दी, तब महाराज दशरथ बड़ी लालसा के साथ, अपनी रानियों और मन्त्रियों को अपने साथ ले वहाँ गए, जहाँ ऋष्यशृङ्ग रहते थे ॥१३॥

वनानि सरितश्चैव व्यतिक्रम्य शनैः शनैः ।

अभिचक्राम तं देशं यत्र वै मुनिपुङ्गवः ॥१४॥

अनेक वनो और नदियों को पार कर महाराज धीरे-धीरे उस देश मे जा पहुँचे जहाँ वे मुनिप्रवर निवास करते थे ॥१४॥

आसाद्य तं द्विजश्रेष्ठं रोमपादसमीपगम् ।

ऋषिपुत्रं ददर्शादौ दीप्यमानमिवानलम् ॥१५॥

वहाँ जाकर महाराज दशरथ ने अग्नि के समान तेजस्वी ऋष्यशृङ्ग को रोमपाद के समीप बैठे देखा ॥१५॥

ततो राजा यथान्यायं पूजां चक्रे विशेषतः ।

सखित्वात्तस्य वै राज्ञः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥१६॥

रोमपाद ने मित्रधर्म से प्रेरित हो, अत्यन्त प्रसन्नता के साथ न्यायानुकूल महाराज दशरथ का विशेष रूप से आदर-सत्कार किया ॥१६॥

रोमपादेन चाख्यातमृषिपुत्राय धीमते ।

सख्यं संबन्धकं चैव तदा तं प्रत्यपूजयत् ॥१७॥

उन बुद्धिमान् ऋष्यशृङ्ग से रोमपाद ने दशरथ के साथ अपनी मैत्री होने का वृत्तान्त कहा, जिसे सुन ऋष्यशृङ्ग भी प्रसन्न हुए और दशरथ की प्रशंसा की ॥१७॥

एवं सुसत्कृतस्तेन सहोषित्वा नरर्षभः ।

सप्ताष्ट दिवसान्राजा राजानमिदमब्रवीत् ॥१८॥

इस प्रकार बड़े सत्कार के साथ महाराज दशरथ, वहाँ सात-आठ दिनों रह कर, रोमपाद से बोले ॥१८॥

शान्ता तव सुता राजन्सह भर्त्रा विशांपते ।
मदीयं नगरं यातु कार्यं हि महदुद्यतम् ॥१९॥

हे राजन् ! आपकी पुत्री शान्ता अपने पति के साथ मेरी राजधानी मे चले, तो बड़ी कृपा हो, क्योंकि एक बड़ा कार्य आ उपस्थित हुआ है ॥१९॥

तथेति राजा संश्रुत्य गमनं तस्य धीमतः ।
उवाच वचनं विप्रं गच्छ त्वं सह भार्यया ॥२०॥

यह सुन रोमपाद ने "ऐसा ही होगा" महाराज दशरथ से कह, ऋष्यशृङ्ग से कहा कि, आप अपनी पत्नी सहित महाराज के साथ जाइए ॥२०॥

ऋषिपुत्रः प्रतिश्रुत्य तथेत्याह नृपं तदा ।
स नृपेणाभ्यनुज्ञातः प्रययौ सह भार्यया ॥२१॥

ऋष्यशृङ्ग जाने को राजी हो गए और राजा रोमपाद की आज्ञा के अनुसार भार्या सहित महाराज दशरथ के साथ हो लिए ॥२१॥

तावन्योन्याञ्जलिं कृत्वा स्नेहात्संश्लिष्य चोरसा ।
ननंदतुर्दशरथो रोमपादश्च वीर्यवान् ॥२२॥

तब वे दोनो राजा परस्पर हाथ जोड़ और बड़े स्नेह से एक-दूसरे को गले लगा, अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥२२॥

ततः सुहृदमापृच्छ्य प्रस्थितो रघुनन्दनः ।
पौरेभ्यः प्रेषयामास दूतान्वै शीघ्रगामिनः ॥२३॥

द्वादशः सर्गः

ततः काले बहुतिथे कस्मिंश्चित्सुमनोहरे ।
वसन्ते समनुप्राप्ते राज्ञो यष्टुं मनोऽभवत् ॥१॥

इस प्रकार कुछ समय बीतने पर जब मनोहर वसन्त ऋतु* आई, तब महाराज की इच्छा यज्ञ करने की हुई ॥१॥

ततः प्रसाद्य शिरसा तं विप्रं देववर्णिनम् ।
यज्ञाय वरयामास सन्तानार्थं कुलस्य च ॥२॥

महाराज दशरथ ने शृङ्गीऋषि के पास जा, उनको प्रणाम किया और वंशवृद्धि के लिए होने वाले पुत्रेष्टि यज्ञ में, देवतुल्य ऋषि सार्थ कर्म कराने को वरण किया ॥२॥

तथेति च राजानमुवाच च सुसत्कृतः ।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम् ॥३॥

तब ऋष्यशृङ्ग ने दशरथ से कहा कि, हम आपको यज्ञ करावेंगे, आप यज्ञ की सामग्री इकट्ठी करवाइये और घोड़ा छुड़वाइए ॥३॥

ततो राजाब्रवीद्वाक्यं सुमन्त्रं मन्त्रिसत्तमम् ।
सुमन्त्रावाहय क्षिप्रमृत्विजो ब्रह्मवादिनः[1] ॥४॥

यह सुन महाराज दशरथ ने मन्त्रिप्रवर सुमन्त से कहा कि, वेदपाठ करने वाले ऋत्विजों को तुरन्त बुलवाइए ॥४॥

---

* ऋतु संस्कृत भाषा का शब्द है। यह पुलिङ्गवाचक है। किन्तु कोई-कोई हिन्दी भाषा वाले इसे स्त्रीवाचक मानते हैं।

१ ब्रह्मवादिन.=वेदपाठव्यान् (गो०)

सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम् ।
पुरोहितं वसिष्ठं च ये चान्ये द्विजसत्तमाः ॥५॥

सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, पुरोहित वसिष्ठ तथा अन्य ब्राह्मणश्रेष्ठों को शीघ्र बुलवाइए ॥५॥

ततः सुमन्तस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः ।
समानयत्स तान्विप्रान्समस्तान्वेदपारगान् ॥६॥

फुर्तीले सुमन्त्र तुरन्त गये और वेदपारग उन सब श्रेष्ठ ब्राह्मणों को बुला लाए ॥६॥

तान्पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ।
धर्मार्थसहितं[1] युक्तं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥७॥

तब धर्मात्मा महाराज दशरथ ने उन सब की पूजा कर उनसे धर्मार्थ रूप प्रयोजन युक्त मीठे वचन कहे ॥७॥

मम लालप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम् ।
तदर्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम ॥८॥

पुत्र के लिए बहुत तरसते रहने पर भी, मुझे सन्तान का सुख नहीं है। तदर्थ मैं चाहता हूँ कि अश्वमेध यज्ञ करूँ ॥८॥

तदहं यष्टुमिच्छामि शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
ऋषिपुत्रप्रभावेण कामान्प्राप्स्यामि चाप्यहम् ॥९॥

मैं यह यज्ञ, शास्त्र की विधि से करना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है कि, ऋष्यश्रृङ्ग की कृपा से मेरा मनोरथ पूर्ण होगा ॥९॥

ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन् ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखाच्च्युतम् ॥१०॥

---

१ धर्मार्थसहित = धर्मार्थरूपप्रयोजनयुक्तम् (गो०)

यह सुन कर, वसिष्ठ प्रमुख ब्राह्मणों ने, महाराज के मुखारविन्द से निकली हुई इस बात की बड़ी प्रशंसा की ॥१०॥

ऋष्यशृङ्गपुरोगाश्च प्रत्यूचुर्नृपतिं तदा ।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम् ॥११॥

ऋष्यशृङ्ग आदि ब्राह्मण दशरथ से कहने लगे कि, आप अब यज्ञ करने के लिए सब सामान एकत्र करवाइए और यज्ञ का घोड़ा छुड़वाइए ॥११॥

सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रांश्चतुरोऽमितविक्रमान् ।
यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता ॥१२॥

जब आपकी बुद्धि पुत्र-प्राप्ति के लिए ऐसी धर्ममयी हो रही है, तब निश्चय ही आपके अमित पराक्रमी चार पुत्र उत्पन्न होंगे ॥१२॥

ततः प्रीतोऽभवद्राजा श्रुत्वा तु द्विजभाषितम्
अमात्यांश्चाब्रवीद्राजा हर्षेणेदं शुभाक्षरम् ॥१३॥

ब्राह्मणों की कही इस बात को सुन, महाराज दशरथ बहुत प्रसन्न हुए और मन्त्रियों को यह शुभ आज्ञा, हर्षित हो प्रदान की ॥१३॥

सम्भाराः सम्भ्रियन्तां मे गुरूणां वचनादिह ।
समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम् ॥१४॥

जैसी कि, इन गुरुवर्यों ने आज्ञा दी है, तदनुसार आप लोग यज्ञ की सब तैयारियाँ करें और चार ऋत्विजों और चार सौ रक्षकों की देख-रेख में घोड़ा छोड़ा जाय ॥१४॥

सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ।
शान्तयश्चापि वर्तन्तां यथाकल्पं यथाविधि ॥१५॥

सरयू के उत्तर तट पर यज्ञशाला बनवाई जाय और विघ्न प्रशमनार्थ शास्त्रानुमोदित यथाक्रम शान्तिकर्म करवाएँ जायँ ॥१५॥

शक्यः कर्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि महीक्षिता ।
नापराधो भवेत्कष्टो यद्यस्मिन्क्रतुसत्तमे ॥१६॥

यह यज्ञ तो सभी राजा कर सकते हैं, किन्तु इस उत्कृष्ट यज्ञ कार्य मे किसी प्रकार का अपचार या किसी को कष्ट न होना चाहिए ॥१६॥

छिद्रं हि मृगयन्तेऽत्र विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः ।
विघ्नितस्य हि यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ॥१७॥

क्योंकि विद्वान् ब्रह्मराक्षस यज्ञकार्यों मे छिद्रान्वेषण किया करते हैं और यज्ञ की विधि में अपचार होने से, यज्ञ करने वाला तुरन्त नाश को प्राप्त होता है अर्थात् मर जाता है ॥१७॥

तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते ।
तथा विधानं क्रियतां समर्थाः करणेष्विह ॥१८॥

अतः अपनी शक्ति भर ऐसा उपाय कीजिए, जिससे यह यज्ञ विधिपूर्वक सुसम्पन्न हो ॥१८॥

तथेति च ततः सर्वे मन्त्रिणः प्रत्यपूजयन् ।
पार्थिवेन्द्रस्य तद्वाक्यं यथाज्ञप्तमकुर्वत ॥१९॥

महाराज के ये वचन सुन, मन्त्रि लोग बहुत प्रसन्न हुए और उनके आज्ञानुसार कार्य करने मे प्रवृत्त हुए ॥१९॥

ततो द्विजास्ते धर्मज्ञमस्तुवन्पार्थिवर्षभम् ।
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम् ॥२०॥

तदनन्तर वे ब्राह्मण, धर्मात्मा नृपतिश्रेष्ठ दशरथ की प्रशंसा कर और विदा हो, वहाँ से अपने-अपने घरों को चले गये ॥२०॥

गतेष्वथ द्विजाग्र्येषु मन्त्रिणस्तान्नराधिपः ।
विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महाद्युतिः ॥२१॥

इति द्वादशः सर्ग. ॥

ब्राह्मणों के चले जाने पर, महाद्युतिमान् महाराज ने मन्त्रियों को विदा किया और स्वयं भी अन्त'पुर में चले गए ॥२१॥

बालकाण्ड का बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:०:—

त्रयोदशः सर्गः

—*—

पुनः प्राप्ते वसन्ते तु पूर्णः संवत्सरोऽभवत् ।
प्रसवार्थं गतो यष्टुं हयमेधेन वीर्यवान् ॥१॥

एक वर्ष बाद पुन वसन्त ऋतु के आने पर, पुत्र-प्राप्ति के लिए प्रतापी महाराज ने यज्ञ करने की इच्छा की ॥१॥

अभिवाद्य वसिष्ठं च न्यायतः[1] प्रतिपूज्य च ।
अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं प्रसवार्थं द्विजोत्तमम् ॥२॥

वसिष्ठ जी को प्रणाम कर और उनका यथाविधि पूजन कर पुत्रप्राप्ति के लिए उनसे महाराज दशरथ नम्रतापूर्वक बोले ॥२॥

यज्ञो मे प्रीयतां ब्रह्मन्यथोक्तं मुनिपुङ्गव ।
यथा न विघ्नः क्रियते यज्ञाङ्गेषु विधीयताम् ॥३॥

---

१ न्यायत. = शास्त्रतः (गो०)

हे मुनिश्रेष्ठ ! प्रसन्नतापूर्वक और विधिपूर्वक यज्ञ आरम्भ कीजिए, जिससे यज्ञ के किसी भी कर्म में विघ्न न हो ॥३॥

भवान्स्निग्धः सुहृन्मह्यं गुरुश्च परमो महान् ।
वोढव्यो भवता चैव भारो यज्ञस्य चोद्यतः ॥४॥

क्योंकि आपका मेरे ऊपर अविच्छिन्न स्नेह है और आप मेरे केवल हितैषी ही नहीं, प्रत्युत मेरे सबसे बड़े गुरु भी हैं। इस उपस्थित यज्ञ का जो बड़ा भारी बोझ है, उसे आप सँभालिए; अर्थात् इस महान् यज्ञ का सारा भार आपके ही ऊपर है ॥४॥

तथेति च स राजानमब्रवीद्द्विजसत्तमः ।
करिष्ये सर्वमेवैतद्भवता यत्समर्थितम् ॥५॥

यह सुन द्विजपुङ्गव वसिष्ठ जी ने दशरथ जी से कहा—आपके कथनानुसार ही हम सब कार्य करेंगे ॥५॥

ततोऽब्रवीद्द्विजान्वृद्धान्यज्ञकर्मसु निष्ठितान् ।
स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान्परमधार्मिकान् ॥६॥
कर्मान्तिकाञ्शिल्पकरान्वर्धकीन्खनकानपि ।
गणकाञ्शिल्पिनश्चैव तथैव नटनर्तकान् ॥७॥
तथा शुचीञ्शास्त्रविदः पुरुषान्सुबहुश्रुतान् ।
यज्ञकर्म समीहन्तां भवन्तो राजशासनात् ॥८॥

तदुपरान्त वसिष्ठ जी ने वृद्ध और यज्ञकार्य में कुशल ब्राह्मणों को, परम धार्मिक और वृद्ध स्थापत्य विद्या (भवन-निर्माण-कला) में कुशल कारीगरों को, शिल्पियों को, अथवा लेखकों को, नटों और नाचने वालियो को, बहुत जानने वाले और सच्चे

चतुर्दशः सर्गः

—:०:—

अथ संवत्सरे पूर्णे तस्मिन्प्राप्ते तुरङ्गमे।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽभ्यवर्तत ॥१॥

एक वर्ष बाद जब यज्ञ का घोड़ा चारों ओर घूम कर आ गया, तब महाराज दशरथ का अश्वमेधयज्ञ सरयू के उत्तर तट पर होने लगा ॥१॥

ऋष्यशृङ्गं पुरस्कृत्य कर्म चक्रुर्द्विजर्षभाः।
अश्वमेधे महायज्ञे राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः ॥२॥

ऋष्यशृङ्ग प्रमुख ब्राह्मण-श्रेष्ठों ने महाराज दशरथ से अश्वमेध यज्ञ करवाया ॥२॥

कर्म कुर्वन्ति विधिवद्याजका वेदपारगाः।
यथाविधि यथान्यायं[1] परिक्रामन्ति शास्त्रतः ॥३॥

वेद जानने वाले तथा यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण, (ऋत्विज) कल्पसूत्रों में कथित यज्ञ की विधि के अनुसार सब कार्य करवाते थे ॥३॥

प्रवर्ग्यं[2] शास्त्रतः[3] कृत्वा तथैवोपसदं द्विजाः।
चक्रुश्च विधिवत्सर्वमधिकं कर्म शास्त्रतः ॥४॥

---

१ यथान्याय = यथा मीमासम्। (गो०)

२ प्रवर्ग्यं = 'देवा वै सत्रमासत' इत्यादि प्रवर्ग्यं ब्राह्मणोक्त कर्म विशेषम् (गो०)

३ शास्त्रतः = कल्पसूत्रानुसारेण (गो०)

अभिपूज्य ततो हृष्टाः सर्वे चक्रुर्यथाविधि ।
प्रातःसवनपूर्वाणि कर्माणि मुनिपुङ्गवाः ॥५॥

प्रवर्ग्य और उपसद (यज्ञीयकर्म विशेष) दोनों कर्म शास्त्रानुसार विधिवत् करके, बड़ी प्रसन्नता के साथ तत्-तत् कर्मों में पूज्य देवताओं की पूजा ब्राह्मणों ने की और दूसरे दिन श्रेष्ठ मुनियों ने प्रातः सवन (यज्ञीय विधि विशेष) करके, ॥४॥५॥

ऐन्द्रश्च विधिवद्दत्तो राजा चाभिष्टुतोऽनघः ।
माध्यंदिनं च सवनं प्रावर्तत यथाक्रमम् ॥६॥

विधिपूर्वक इन्द्र का भाग दे और पाप दूर करने वाली सोमलता का रस निकाल, मध्याह्नसवन किया गया ॥६॥

तृतीयसवनं चैव राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः ।
चक्रुस्ते शास्त्रतो दृष्ट्वा तथा ब्राह्मणपुङ्गवाः ॥७॥

फिर महाराज और ब्राह्मणो ने शास्त्रानुसार यथाविधि तीसरा सायंसवन किया ॥७॥

न चाहुतमभूत्तत्र स्खलितं वापि किंचन ।
दृश्यते ब्रह्मवत्सर्वं क्षेमयुक्तं हि चक्रिरे ॥८॥

इस यज्ञ में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने पाई। पूर्ण ज्ञानी यज्ञ करवाने वालों की उपस्थिति के कारण, कोई आहुति भूल से अथवा निष्प्रयोजन नहीं दी गई, जो कर्म किया गया वह कल्याणकारक ही किया गया ॥८॥

न तेष्वहःसु श्रान्तो वा क्षुधितो वाऽपि दृश्यते ।
नाविद्वान्ब्राह्मणस्तत्र नाशतानु[1]चरस्तथा ॥९॥

---

१ अशतानुचरः = शतशिष्यरहितः (गो०)

यज्ञकाल में कोई भी ब्राह्मण भूखा-प्यासा नहीं रहा। न तो वहाँ कोई ऐसा ही ब्राह्मण देख पड़ता था जो मूर्ख हो और न वहाँ कोई ऐसा ही ब्राह्मण था, जिसके पास सैकड़ों शिष्य न थे ॥६॥

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते ।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणा[1] भुञ्जते तथा ॥१०॥

यही नहीं कि वहाँ केवल ब्राह्मणों ही को भोजन दिया जाता था, प्रत्युत शूद्रों, नौकरों, चाकरों को भी भोजन मिलता था। इनके अतिरिक्त तपस्वी, सन्यासी भी भोजन पाते थे ॥१०॥

वृद्धाश्च व्याधिताश्चैव स्त्रियो बालास्तथैव च ।
अनिशं भुञ्जमानानां न तृप्तिरुपलभ्यते ॥११॥

बूढ़े, रोगी, स्त्रियाँ और बालक बारबार भोजन करते थे, तो भी भोजन कराने वाले उकताते न थे ॥११॥

दीयतां दीयतामन्नं वासांसि विविधानि च ।
इति संचोदितास्तत्र तथा चक्रुरनेकशः ॥१२॥

महाराज की आज्ञा थी कि दो-दो—अतः भण्डारी लोग अन्न और वस्त्रादि का दान बड़ी उदारता से जी खोलकर करते थे ॥१२॥

अन्नकूटाश्च बहवो दृश्यन्ते पर्वतोपमाः ।
दिवसे दिवसे तत्र सिद्धस्य विधिवत्तदा ॥१३॥

कच्चे-पक्के अन्न के ढेर पहाड़ जैसे ऊँचे लगे रहते थे। जो जैसा माँगता उसे नित्य वैसा ही भोजन दिया जाता था ॥१३॥

नानादेशादनुप्राप्ताः पुरुषाः स्त्रीगणास्तथा ।
अन्नपानैः सुविहितास्तस्मिन्यज्ञे महात्मनः ॥१४॥

---

१ श्रमणा = दिगम्बरा । 'श्रमणा वातवसना.' इतिनिघण्टु अथवा 'चतुर्थमाश्रम प्राप्ताः श्रमणा नाम ते स्मृता. ।" इति स्मृति. । (गो०)

अनेक देशों से आए हुए स्त्री-पुरुषों के झुण्ड के झुण्ड नित्य भोजन से तृप्त होते थे ॥१४॥

अन्नं हि विधिवत्स्वादु प्रशंसन्ति द्विजर्षभाः ।
अहो तृप्ताः स्म भद्रं त इति शुश्राव राघवः ॥१५॥

स्वादिष्ट भोजनो से तृप्त हुए ब्राह्मणों के आशीर्वादसूचक शब्द महाराज को सर्वत्र सुन पड़ते थे ॥१५॥

स्वलंकृताश्च पुरुषा ब्राह्मणान्पर्यवेषयन् ।
उपासते च तानन्ये सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥१६॥

वस्त्रों और गहनो से सजे हुए अन्य राजाओं के नौकर-चाकर ब्राह्मणों की सब प्रकार सेवा करते और उन लोगों की परिचर्या के लिए मणिजटित कुण्डलधारी अन्य लोग थे ॥१६॥

कर्मान्तरे तदा विप्रा हेतुवादान्बहूनपि ।
प्राहुः स्म वाग्मिनो धीराः परस्परजिगीषया ॥१७॥

एक सवन समाप्त होने पर और दूसरा सवन आरम्भ होने के बीच जो समय बचता, उसमे एक दूसरे को पाण्डित्य से हरा देने की इच्छा से विद्वान् ब्राह्मण परस्पर शास्त्रार्थ करते थे ॥१७॥

दिवसे दिवसे तत्र संस्तरे कुशला द्विजाः ।
सर्वकर्माणि चक्रुस्ते यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥१८॥

उस यज्ञ में कुशल ब्राह्मण शास्त्रानुकूल नित्यप्रति यज्ञकर्म करते कराते थे ॥१८॥

नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो नाबहुश्रुतः ।
सदस्यास्तस्य वै राज्ञो नावादकुशला द्विजाः ॥१९॥

इस यज्ञ में ऐसा ब्राह्मण न था, जो वेद और वेदाङ्गवित् न हो, और महाराज का कोई ऐसा सदस्य न था, जो व्रतधारी न हो, अथवा वहुश्रुत न हो अथवा वोलचाल में कुशल न हो ॥१६॥

प्राप्ते यूपोच्छ्रये तस्मिन्षड् वैल्वाः खादिरास्तथा ।
तावन्तो बिल्वसहिताः पर्णिनश्च तथाऽपरे ॥२०॥
श्लेष्मातकमयस्त्वेको देवदारुमयस्तथा ।
द्वावेव विहितौ तत्र बाहुव्यस्तपरिग्रहौ ॥२१॥

उस यज्ञ में लकड़ी के अँकवार भर मोटे इक्कीस खभे गाड़े गये थे। इनमें ६ वेल के, ६ खैर के, ६ ढाक के, १ लिसोड़े का और २ देवदार के थे ॥२०॥२१॥

कारिताः सर्व एवैते शास्त्रज्ञैर्यज्ञकोविदैः ।
शोभार्थं तस्य यज्ञस्य काञ्चनालङ्कृताऽभवन् ॥२२॥

यज्ञकर्म मे चतुर शास्त्रियो ने यज्ञशाला की शोभा वढ़ाने के लिए इन खभो को सोने के पत्रो से मढ़वा दिया था ॥२२॥

एकविंशतियूपास्ते एकविंशत्यरत्नयः ।
वासोभिरेकविंशद्भिरेकैकं समलंकृताः ॥२३॥

इक्कीसो खभे इक्कीस अरत्नि* ऊँचे थे और सव कपड़ों से सजाये गये थे ॥२३॥

विन्यस्ता विधिवत्सर्वे शिल्पिभिः सुकृता दृढाः ।
अष्टाश्रयः सर्व एव श्लक्ष्णरूपसमन्विताः ॥२४॥

---

*अरत्नि—मुट्ठी ; यानी हाथ की वँधी हुई मुट्ठी ।

शिल्पियों ने यथाविधि बना, इनको बड़ी मजबूती से पृथिवी में गाड़ा था, जिससे हिले नहीं, और ये खंभे बड़े चिकने और अठपहलू बनाये गए थे ॥२४॥

आच्छादितास्ते वासोभिः पुष्पैर्गन्धैश्च भूषिताः ।
सप्तर्षयो दीप्तिमन्तो विराजन्ते यथा दिवि ॥२५॥

इन खंभो पर वस्त्र लपेटे गए थे और ये पुष्प और चन्दन से सजाए गए थे। उस समय इनकी शोभा आकाश-मण्डल में सप्तर्षियो की तरह देख पड़ती थी ॥२५॥

इष्टकाश्च यथान्यायं कारिताश्च प्रमाणतः ।
चितोऽग्निर्ब्राह्मणैस्तत्र कुशलैः शुल्वकर्मणि[1] ॥२६॥
स चित्यो राजसिंहस्य संचितः कुशलैर्द्विजैः ।
गरुडो रुक्मपक्षो वै त्रिगुणोऽष्टादशात्मकः ॥२७॥

जितनी बड़ी और जितनी अपेक्षित थीं उतनी ईंटें तैयार होने पर शिल्पनिपुण ब्राह्मणो ने उन ईंटो से अग्निकुण्ड बनाया। राजसिंह महाराज दशरथ के यज्ञ मे चतुर ब्राह्मणो ने सुवर्ण की ईंटो से पंख बना अठारह प्रस्तार का एक गरुड़ बनाया ॥२६॥२७॥

नियुक्तास्तत्र पशवस्तत्तदुद्दिश्य दैवतम् ।
उरगाः पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥२८॥

जैसी शास्त्रो में विधि बतलाई गई है, तदनुसार जिस देवता के लिए जो पशु चाहिए वह बाँधा गया। यथाविधि सर्प और पक्षी भी यज्ञशाला मे लाए गए ॥२८॥

---

[1] शुल्वकर्मणि = यज्ञकर्मणि (गो०)

शामित्रे तु हयस्तत्र तथा जलचराश्च ये ।
ऋत्विग्भिः सर्वमेवैतन्नियुक्तं शास्त्रतस्तदा ॥२६॥

ऋत्विजों ने घोड़े और जलचर जन्तु कच्छप आदि शास्त्ररीति से यथास्थान बाँधे ॥२६॥

पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तथा ।
अश्वरत्नोत्तमं तस्य राज्ञो दशरथस्य च ॥३०॥

उन खंभो मे तीन सौ पशु और प्रत्येक दिशा में घूम कर आया हुआ महाराज का अति उत्तम घोड़ा बाँधा गया ॥३०॥

कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः ।
कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा ॥३१॥

कौशल्या जी ने उस घोड़े की अच्छी तरह पूजा की और प्रसन्न हो, तीन तलवारों से उस घोड़े के टुकड़े किये ॥३१॥

पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा ।
अवसद्रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया ॥३२॥

फिर धर्मसिद्धि की कामना से कौसल्या जी उस (मृत) अश्व की रक्षा करने को एक रात, शवस्पर्श की घृणा से रहित मन से, उसके पास रहीं ॥३२॥

होताऽध्वर्युस्तथोद्गाता हयेन समयोजयन् ।
महिष्या परिवृत्त्या च वावातां च तथा पराम् ॥३३॥

फिर होता, अध्वर्यु और उद्गाताओं ने कौसल्या जी को, परिवृति* को तथा वावाता† को अश्व के साथ नियोजित किया ॥३३॥

पतत्त्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः[1] ।
ऋत्विक्परमसंपन्नः श्रपयामास शास्त्रतः ॥३४॥

एकाग्र चित्त हो ऋत्विजों ने उस घोड़े की चर्बी ले, यथाविधि अग्नि पर चढ़ा उसे पकाया ॥३४॥

धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः ।
यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन्पापमात्मनः ॥३५॥

महाराज दशरथ होमकाल में चर्बी के पकाने पर निकली हुई गन्ध को शास्त्र की विधि के अनुसार यथाकाल सूँघ सूँघ कर, अपने पापों को नष्ट करने लगे ॥३५॥

हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः ।
अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत्समन्त्राः षोडशर्त्विजः ॥३६॥

सोलह ऋत्विज उस घोड़े के अंग काट काट कर अग्नि में विधिवत् हवन करने लगे ॥३६॥

प्लक्षशाखासु यज्ञानामन्येषां क्रियते हविः ।
अश्वमेधस्य चैकस्य वैतसो भाग इष्यते ॥३७॥

---

* राजा की शूद्रा स्त्री ; परिवृति वैश्य । † राजा की वैश्या स्त्री वावाता कहलाती है ।

[1] नियतेन्द्रियः = एकाग्र . (गो०) ।

अन्य यज्ञों मे पाकर की लकड़ी से हवि|की आहुति दी जाती है, किन्तु अकेले अश्वमेध ही में यह काम बेत से लिया जाता है ॥३७॥

त्र्यहोऽश्वमेधः संख्यातः कल्पसूत्रेण ब्राह्मणैः ।
चतुष्टोममहस्तस्य प्रथमं परिकल्पितम् ॥३८॥
उक्थ्यं द्वितीयं संख्यातमतिरात्रं तथोत्तरम् ।
कारितास्तत्र बहवो विहिताः शास्त्रदर्शनात् ॥३९॥

कल्पसूत्र और ब्राह्मण भाग ने अश्वमेध यज्ञ में तीन दिन सवन-क्रिया करने के वतलाए है। उनमें प्रथम दिन अग्निष्टोम दिन है, दूसरा उक्थ, तोसरा अतिरात्र—सो ये भी शास्त्र-विधि के अनुसार तथा अन्य वहुत से विधान किए गए ॥३८॥३९॥

ज्योतिष्टोमायुषी चैवमतिरात्रौ च निर्मितौ ।
अभिजिद्विश्वजिच्चैवमाप्तोर्यामो महाक्रतुः ॥४०॥

ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम, अतिरात्र, अभिजित् , विश्वजित् , आप्तोर्याम महायज्ञ किए गए ॥४०॥

प्राचीं होत्रे ददौ राजा दिशं स्वकुलवर्धनः ।
अध्वर्यवे प्रतीचीं तु ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम् ॥४१॥
उद्गात्रे च तथोदीचीं दक्षिणैषा विनिर्मिता ।
अश्वमेधे महायज्ञे स्वयंभूविहिते पुरा ॥४२॥
क्रतुं समाप्य तु तदा न्यायतः पुरुषर्षभः ।
ऋत्विग्भ्यो हि ददौ राजा धरां तां कुलवर्धनः ॥४३॥

स्वकुल-वृद्धि-कारक महाराज दशरथ ने इस महायज्ञ की यथाविधि समाप्ति पर पूर्व दिशा का राज्य होता को, पश्चिम का अध्वर्यु को, दक्षिण दिशा का ब्रह्मा को और उत्तर दिशा का उद्गाता को यज्ञ की दक्षिणादि में दिया। स्वायंभुव मनु ने जिस प्रकार अपने महायज्ञ मे पूर्वकाल मे दक्षिणा दी थी, उसी प्रकार दशरथ ने दी। तब यज्ञ को शास्त्रानुसार विधिवत् समाप्त कर पुरुषश्रेष्ठ महाराज ने ऋत्विजो को पृथिवी दान कर दी ॥४१॥४२॥४३॥

ऋत्विजस्त्वब्रुवन्सर्वे राजानं गतकल्मपम् ।
भवानेव महीं कृत्स्नामेको रक्षितुमर्हति ॥४४॥
न भूम्या कार्यमस्माकं न हि शक्ताः स्म पालने ।
रताः स्वाध्यायकरणे वयं नित्यं हि भूमिप ॥४५॥
निष्क्रयं किंचिदेवेह प्रयच्छतु भवानिति ।
मणिरत्नं सुवर्णं वा गावो यद्वा समुद्यतम् ॥४६॥
तत्प्रयच्छ नरश्रेष्ठ धरण्या न प्रयोजनम् ।
एवमुक्तो नरपतिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥४७॥

जब दशरथ ने अपने राज्य की सारी भूमि यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों को दे दी, तब सब ब्राह्मण निष्पाप महाराज दशरथ से बोले कि हे नरनाथ! इस भूमि की रक्षा तो आप ही कर सकते हैं। न तो हमे भूमि की आवश्यकता है और न हम इसका पालन ही करने मे समर्थ हैं। क्योंकि हम लोग वेदपाठ में लगे रहते हैं अर्थात् हमे जमीदारी या राज्य के झंझटो मे पड़ने की फुरसत कहाँ है। अतएव आप तो हमें इस भूमिदान के बदले मणि, रत्न, सुवर्ण, गौएँ—जो चाहे, दे दें। हम भूमि ले कर क्या करेंगे? वेदपारग ब्राह्मणों के ये वचन सुन, ॥४४॥४५॥४६॥४७॥

गवां शतसहस्राणि दश तेभ्यो ददौ नृपः ।
दशकोटीः सुवर्णस्य रजतस्य चतुर्गुणम् ॥४८॥

महाराज ने एक लाख गौएँ, दस करोड़ सोने की मोहरें, चालीस करोड़ चाँदी के रुपये सब ऋत्विजों को दिए ॥४८॥

ऋत्विजस्तु ततः सर्वे प्रददुः सहिता वसु ।
ऋष्यशृङ्गाय मुनये वसिष्ठाय च धीमते ॥४९॥

उन सब ने दक्षिणा में मिला हुआ सारा धन (बाँटने के लिए) वसिष्ठ जी व ऋष्यशृङ्ग जी के सामने रख दिया ॥४९॥

ततस्ते न्यायतः कृत्वा प्रविभागं द्विजोत्तमाः ।
सुप्रीतमनसः सर्वे प्रत्यूचुर्मुदिता भृशम् ॥५०॥

उन्होंने न्यायानुसार हिस्सा कर, सब को वह धन बाँट दिया । वे अपना अपना हिस्सा पाकर और अत्यन्त प्रसन्न हो बोले, हम बहुत प्रसन्न हैं ॥५०॥

ततः प्रसर्पकेभ्यस्तु[1] हिरण्यं सुसमाहितः ।
जाम्बूनदं कोटिशतं ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा ॥५१॥

फिर महाराज ने उन लोगों में जो यज्ञ देखने आये थे, मोहरें बाँटीं और जाम्बूनद के सोने की कई करोड मोहरें अन्य ब्राह्मणों को दीं ॥५१॥

दरिद्राय द्विजायाथ हस्ताभरणमुत्तमम् ।
कस्मैचिद्याचमानाय ददौ राघवनन्दनः ॥५२॥

---

[1] प्रसर्पकेभ्यः = यज्ञदर्शनार्थमागतेभ्यः (गो०)

तदनन्तर महाराज दशरथ ने एक निर्धन द्विज को, उसके माँगने पर, अपने हाथ के कड़े उतार कर दे दिए ॥५२॥

ततः प्रीतेषु नृपतिर्द्विजेषु द्विजवत्सलः ।
प्रणाममकरोत्तेषां हर्षपर्याकुलेक्षणः ॥५३॥

ब्राह्मणों को प्रसन्न देख, द्विजवत्सल महाराज ने अतीव प्रसन्न-चित्त हो उनको प्रणाम किया ॥५३॥

तस्याशिषोऽथ विविधा ब्राह्मणैः समुदीरिताः ।
उदारस्य नृवीरस्य धरण्यां प्रणतस्य च ॥५४॥

इस पर उदार, वीरवर और पृथिवी पर पसर कर प्रणाम करते हुए महाराज को, ब्राह्मणों ने विविध आशीर्वाद दिए ॥५४॥

ततः प्रीतमना राजा प्राप्य यज्ञमनुत्तमम् ।
पापापहं स्वर्नयनं दुष्करं पार्थिवर्षभैः ॥५५॥

उदारचित्त महाराज दशरथ, पापनाशक, स्वर्गप्रद एवं अन्य राजाओं के लिए दुष्कर, इस उत्तम यज्ञ को कर, ॥५५॥

ततोऽब्रवीदृष्यशृङ्गं राजा दशरथस्तदा ।
कुलस्य वर्धनं त्वं तु कर्तुमर्हसि सुव्रत ॥५६॥

ऋष्यशृङ्ग से बोले—"हे सुव्रत ! अब आप मेरे कुल की वृद्धि के लिए उपाय कीजिए" ॥५६॥

तथेति च स राजानमुवाच द्विजसत्तमः ।
भविष्यन्ति सुता राजंश्चत्वारस्ते कुलोद्वहाः ॥५७॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

यह सुन और तथास्तु कह कर द्विजश्रेष्ठ ऋष्यशृङ्ग बोले—'हे राजन! आपके वंश को बढ़ाने वाले चार पुत्र होंगे' ॥५७॥

बालकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—०—

पञ्चदशः सर्गः

—०—

मेधावी तु ततो ध्यात्वा स किञ्चिदिदमुत्तरम्।
लब्धसंज्ञस्ततस्तं तु वेदज्ञो नृपमब्रवीत् ॥१॥

मेधावी, वेदज्ञ, ऋष्यशृङ्ग जी, कुछ काल तक ध्यानमग्न रह कर, महाराज दशरथ से बोले कि, ॥१॥

इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः ॥२॥

हे राजन! मैं तेरे लिए अथर्वण वेद में कही हुई पुत्रेष्टियज्ञ की विधि के अनुसार, सिद्धि देने वाला पुत्रेष्टियज्ञ करूँगा जिससे तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा ॥२॥

ततः प्रक्रम्य तामिष्टिं पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
जुहाव चाग्नौ तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥३॥

यह कह, पुत्र-प्राप्ति के लिए, उन्होंने पुत्रेष्टियज्ञ प्रारम्भ किया, और विधिवत मंत्र पढ़ कर, वे आहुति देने लगे ॥३॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
भागप्रतिग्रहार्थं वै समवेता यथाविधि ॥४॥

तब तो देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि, अपना-अपना यज्ञ-भाग लेने को आकर यथाविधि जमा हुए ॥४॥

ताः समेत्य यथान्यायं तस्मिन्सदसि देवताः ।
अब्रुवँल्लोककर्तारं ब्रह्माणं वचनं महत् ॥५॥

इस यज्ञ मे यथाक्रम एकत्र हो देवताओ ने सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी से विनय की ॥५॥

भगवंस्त्वत्प्रसादेन रावणो नाम राक्षसः ।
सर्वान्नो बाधते वीर्याच्छासितुं तं न शक्नुमः ॥६॥

हे भगवन्! (आपकी कृपा से रावण) नामक राक्षस, अपने बल से हम सब को बहुत सताता है और हम उसका कुछ भी नही कर सकते ॥६॥

त्वया तस्मै वरो दत्तः प्रीतेन भगवन्पुरा ।
मानयन्तश्च तं नित्यं सर्वं तस्य क्षमामहे ॥७॥

क्योंकि आपने प्रसन्न हो उसे पहले वरदान दे दिया है, इसलिए हम सब उस वरदान का आदर करते हुए उसे क्षमा करते हैं ॥७॥

उद्वेजयति लोकांस्त्रीनुच्छ्रितान्द्वेष्टि दुर्मतिः ।
शक्रं त्रिदशराजानं प्रधर्षयितुमिच्छति ॥८॥

वह तीनो लोको को सता रहा है और लोकपालो से शत्रुता बाँध कर, स्वर्ग के राजा इन्द्र को भी नीचा दिखाना चाहता है ॥८॥

ऋषीन्यक्षान्सगन्धर्वानसुरान्ब्राह्मणांस्तथा ।
अतिक्रामति दुर्धर्षो वरदानेन मोहितः ॥९॥

क्या ऋषि, क्या यक्ष, क्या गन्धर्व, क्या देवता, क्या ब्राह्मण, आपके वरदान के प्रभाव से, वह दुर्धर्ष हो, किसी को कुछ भी तो नहीं समझता ॥९॥

नैनं सूर्यः प्रतपति पार्श्वे वाति न मारुतः ।
चलोर्मिमाली तं दृष्ट्वा समुद्रोऽपि न कम्पते ॥१०॥

उसे न तो सूर्य ही गर्मी पहुँचा सकते और न वायु देव ही उसके समीप वेग से चल सकते हैं। उसे देखते ही समुद्र भी अपना लहराना बन्द कर शान्त हो जाता है ॥१०॥

सुमहन्नो भयं तस्माद्राक्षसाद्घोरदर्शनात् ।
वधार्थं तस्य भगवन्नुपायं कर्तुमर्हसि ॥११॥

उस भयानक राक्षस को देखने ही से हमें बड़ा डर लगता है। अतः हे भगवन्! उसके वध के लिए कोई उपाय कीजिए ॥११॥

एवमुक्तः सुरैः सर्वैश्चिन्तयित्वा ततोऽब्रवीत् ।
हन्तायं विहितस्तस्य वधोपायो दुरात्मनः ॥१२॥

उन सब देवताओं के ये वचन सुन, ब्रह्मा जी कुछ सोच कर बोले—मैंने उस दुरात्मा के मारने का उपाय सोच लिया है ॥१२॥

तेन गन्धर्वयक्षाणां देवदानवरक्षसाम् ।
अवध्योऽस्मीति वागुक्ता तथेत्युक्तं च तन्मया ॥१३॥

रावण के वर माँगने पर हमने उसे गन्धर्व, यक्ष, देवता, दानव और राक्षसों द्वारा अवध्य होने का वरदान तो अवश्य दे दिया है ॥१३॥

नाकीर्तयदवज्ञानात्तद्रक्षो मानुषांस्तदा ।
तस्मात्स मानुषाद्वध्यो मृत्युर्नान्योऽस्य विद्यते ॥१४॥

किन्तु उसने मनुष्यों को कुछ भी न समझ वरदान में मनुष्यों का नाम नहीं लिया था। अतः वह सिवा मनुष्य के और किसी के द्वारा नहीं मारा जा सकता ॥१४॥

एतच्छ्रुत्वा प्रियं वाक्यं ब्रह्मणा समुदाहृतम् ।
देवा महर्षयः सर्वे प्रहृष्टास्तेऽभवंस्तदा ॥१५॥

ब्रह्मा जी का यह प्रिय वचन सुन, सब देवता महर्षि आदि बहुत प्रसन्न हुए ॥१५॥

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः ।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः ॥१६॥

इतने ही में शङ्ख, चक्र, गदा और पीताम्बर धारण किए महा-तेजस्वी जगत्पति भगवान् विष्णु वहाँ पर आए ॥१६॥

ब्रह्मणा च समागम्य तत्र तस्थौ समाहितः ।
तमब्रुवन्सुराः सर्वे समभिष्टूय संगताः ॥१७॥

जब विष्णु भगवान् ब्रह्मा जी से मिल कर, उनके पास बैठे तब देवताओं ने बड़ी नम्रता के साथ उनकी स्तुति की और कहा—॥१७॥

त्वां नियोक्ष्यामहे विष्णो लोकानां हितकाम्यया ।
राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेः प्रभोः ॥१८॥
धर्मज्ञस्य वदान्यस्य महर्षिसमतेजसः ।
तस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च ॥१९॥

स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिन्दम ।
येन तुष्टोऽभवद्ब्रह्मा लोककृल्लोकपूजितः ॥४॥

हे अरिन्दम ! उसने बहुत दिनों तक कठोर तप कर, लोककर्त्ता और लोकपूजित ब्रह्मा को प्रसन्न किया ॥४॥

सन्तुष्टः प्रददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः ।
नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र मानुषात् ॥५॥

तब उन्होंने प्रसन्न हो, उस राक्षस को यह वर दिया कि, मनुष्य के सिवाय हमारी सृष्टि के किसी भी जीव के मारे तुम न मरोगे ॥५॥

अवज्ञाताः पुरा तेन वरदानेन मानवाः ।
एवं पितामहात्तस्माद्वरं प्राप्य स दर्पितः ॥६॥

वह मनुष्यों को तुच्छ समझता था। अत. उसने मनुष्यों से अभय रहना न माँगा और ब्रह्मा जी के वर से वह गर्वित हो गया ॥६॥

उत्सादयति लोकांस्त्रीन्स्त्रियश्चाप्यपकर्षति ।
तस्मात्तस्य वधो दृष्टो मानुषेभ्यः परन्तप ॥७॥

इस समय वह तीनों लोकों को उजाड़ता है और स्त्रियों को पकड़ कर ले जाता है, अतएव वह मनुष्य के हाथ ही से मर सकता है ॥७॥

इत्येतद्वचनं श्रुत्वा सुराणां विष्णुरात्मवान् ।
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ॥८॥

देवताओं की इन बातों को सुन, भगवान् विष्णु ने महाराज दशरथ को अपना पिता बनाना पसंद किया ॥८॥



महाराज दशरथ के पुत्रेष्ठि जज्ञ में अग्नि से यज्ञ देव का प्रकट होकर महाराज को पायस देना

स चाप्यपुत्रो नृपतिस्तस्मिन्काले महाद्युतिः ।
अयजत्पुत्रियामिष्टिं पुत्रेप्सुररिसूदनः ॥९॥

उसी समय पुत्रहीन, महाद्युतिमान्, शत्रुहन्ता महाराज दशरथ ने पुत्रप्राप्ति के लिए पुत्रेष्टियज्ञ करना आरम्भ किया ॥९॥

स कृत्वा निश्चयं विष्णुरामन्त्र्य च पितामहम् ।
अन्तर्धानं गतो देवैः पूज्यमानो महर्षिभिः ॥१०॥

इस प्रकार महाराज दशरथ के घर मे जन्म लेने का निश्चय कर, ब्रह्मा जी से बातचीत कर, और देवताओ तथा महर्षियों से पूजित हो भगवान् विष्णु वहाँ से अन्तर्धान हो गये ॥१०॥

ततो वै यजमानस्य पावकादतुलप्रभम् ।
प्रादुर्भूतं महद्भूतं[1] महावीर्यं महाबलम् ॥११॥
कृष्णं रक्ताम्बरधरं रक्तास्यं दुन्दुभिस्वनम् ।
स्निग्धहर्यक्षतनुजश्मश्रुप्रवरमूर्धजम् ॥१२॥
शुभलक्षणसंपन्नं दिव्याभरणभूषितम् ।
शैलशृङ्गसमुत्सेधं[2] दृप्तशार्दूलविक्रमम् ॥१३॥
दिवाकरसमाकारं दीप्तानलशिखोपमम् ।
तप्तजाम्बूनदमयीं राजतान्तपरिच्छदाम् ॥१४॥
दिव्यपायससंपूर्णां पात्रीं पत्नीमिव प्रियाम् ।
प्रगृह्य विपुलां दोर्भ्यां स्वयं मायामयीमिव[3] ॥१५॥

उधर महाराज दशरथ के अग्निकुण्ड के अग्नि से महाबली, अतुल प्रभा वाला, काले रंग का, लाल वस्त्र धारण किए हुए,

---

१ महद्भूत = पुरुषविशेषः (गो०) २ समुत्सेधः = उन्नतिः (गो०)
३ मायामयीमिव = असम्भावितत्वेनाश्चर्यवहामित्यर्थः (गो०)

लाल रंग के मुँहवाला, नगाड़े जैसा शब्द करता हुआ, सिंह के रोम जैसे रोम और मूँछों वाला, शुभ लक्षणों से युक्त, सुन्दर आभूषणों को धारण किए हुए, पर्वत के शिखर के समान लंबे सिंह जैसी चाल वाला, सूर्य के समान तेजस्वी और प्रज्वलित अग्निशिखा की तरह रूप वाला, दोनों हाथों में सोने के थाल में, जो चाँदी के ढकने से ढका हुआ था, पत्नी की तरह प्रिय और दिव्य खीर लिए हुए, मुसक्याता हुआ और आश्चर्य में डालता हुआ एक पुरुष निकला ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

समवेक्ष्याब्रवीद्वाक्यमिदं दशरथं नृपम् ।
प्राजापत्यं नरं विद्धि मामिहाभ्यागतं नृप ॥१६॥

वह महाराज दशरथ की ओर देख कर यह बोला—"महाराज ! मैं प्रजापति के पास से आया हूँ" ॥ १६ ॥

ततः परं तदा राजा प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ।
भगवन्स्वागतं तेऽस्तु किमहं करवाणि ते ॥१७॥

यह सुन, महाराज दशरथ ने हाथ जोड़ कर कहा—भगवन् ! मैं आपका स्वागत करता हूँ—कहिए, मेरे लिए क्या आज्ञा है ॥१७॥

अथो पुनरिदं वाक्यं प्राजापत्यो नरोऽब्रवीत् ।
राजन्नर्चयता देवानद्य प्राप्तमिदं त्वया ॥१८॥

इस पर प्रजापति के भेजे उस मनुष्य ने फिर कहा—देवताओं का पूजन करने से आज तुमको यह पदार्थ मिला है ॥१८॥

इदं तु नरशार्दूल पायसं देवनिर्मितम् ।
प्रजाकरं गृहाण त्वं धन्य[1]मारोग्यवर्धनम् ॥१९॥

---

१ धन्यं = धनकरं (गो०)

हे नरशार्दूल ! यह देवताओं की बनाई हुई खीर है, जो सन्तान की देने वाली तथा धन और ऐश्वर्य बढ़ाने वाली है। इसे आप लीजिए ॥ १६ ॥

भार्याणामनुरूपाणामश्नीतेति प्रयच्छ वै ।
तासु त्वं लप्स्यसे पुत्रान्यदर्थं यजसे नृप ॥२०॥

और इसको अपने अनुरूप रानियो को खाने के लिए दीजिए। इसके प्रभाव से आपकी रानियों के पुत्र उत्पन्न होंगे, जिसके लिए आपने यह यज्ञ किया है ॥ २०॥

तथेति नृपतिः प्रीतः शिरसा प्रतिगृह्य ताम् ।
पात्रीं देवान्नसंपूर्णां देवदत्तां हिरण्मयीम् ॥२१॥

इस बात को सुन, महाराज ने प्रसन्न हो, उस देवताओं की बनाई हुई और भेजी हुई खीर से भरे सुवर्णपात्र को ले अपने माथे चढ़ाया ॥ २१ ॥

अभिवाद्य च तद्भूतमद्भुतं प्रियदर्शनम् ।
मुदा परमया युक्तश्चकाराभिप्रदक्षिणम् ॥२२॥

तदनन्तर उस अद्भुत एवं प्रियदर्शन पुरुष को महाराज ने प्रणाम किया और परम प्रसन्न हो उसकी परिक्रमा की ॥ २२ ॥

ततो दशरथः प्राप्य पायसं देवनिर्मितम् ।
बभूव परमप्रीतः प्राप्य वित्तमिवाधनः ॥२३॥

उस देवनिर्मित खीर को पाकर, महाराज दशरथ उसी तरह परम प्रसन्न हुए, जिस तरह कोई निर्धन मनुष्य धन पा कर परम प्रसन्न होता है ॥ २३ ॥

ततस्तदद्भुतप्रख्यं भूतं परमभास्वरम् ।
संवर्तयित्वा तत्कर्म तत्रैवान्तरधीयत ॥२४॥

वह महातेजस्वी अद्भुत पुरुष महाराज दशरथ को पायसपात्र दे कर वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ २४ ॥

हर्षरश्मिभिरुद्योतं तस्यान्तःपुरमावभौ ।
शारदस्याभिरामस्य चन्द्रस्येव नभोंशुभिः ॥२५॥

महाराज की रानियाँ भी यह सुख-सवाद सुन, शरद्कालीन चन्द्रमा की किरणों से आकाश की भाँति (प्रसन्नता से) खिल उठीं, अर्थात् शोभायमान हुईं ॥ २५ ॥

सोन्तःपुरं प्रविश्यैव कौसल्यामिदमब्रवीत् ।
पायसं प्रतिगृह्णीष्व पुत्रीयं त्विदमात्मनः ॥२६॥

महाराज दशरथ रनवास में गए और महारानी कौसल्या जी से यह बोले—"लो यह खीर है। इससे तुमको पुत्र की प्राप्ति होगी" ॥ २६ ॥

कौसल्यायै नरपतिः पायसार्धं ददौ तदा ।
अर्धादर्धं ददौ चापि सुमित्रायै नराधिपः ॥२७॥

तदनन्तर महाराज दशरथ ने उस खीर मे से आधी तो कौसल्या जी को और बची हुई आधी मे से आधी सुमित्रा को दी ॥ २७ ॥

कैकेय्यै चावशिष्टार्धं ददौ पुत्रार्थकारणात् ।
प्रददौ चावशिष्टार्धं पायसस्यामृतोपमम् ॥२८॥
अनुचिन्त्य सुमित्रायै पुनरेव महीपतिः ।
एवं तासां ददौ राजा भार्याणां पायसं पृथक् ॥२९॥

कुल खीर का आठवाँ हिस्सा कैकेयी को दिया और उस अमृतोपम खीर का बचा हुआ आठवाँ भाग, कुछ सोचकर फिर सुमित्रा को दे दिया। इस प्रकार महाराज ने अपनी रानियों को अलग-अलग हिस्से कर खीर बाँटी ॥ २८ ॥ २९ ॥

तास्त्वेतत्पायसं प्राप्य नरेन्द्रस्योत्तमाः स्त्रियः ।
सम्मानं मेनिरे सर्वाः प्रहर्षोदितचेतसः ॥३०॥

उस खीर को खा कर, महाराज की कौसल्यादि सुन्दरी रानियाँ बहुत प्रसन्न हुईं और उन्होंने अपने को अत्यन्त भाग्यवती माना ॥ ३० ॥

ततस्तु ताः प्राश्य तदुत्तमस्त्रियो
महीपतेरुत्तमपायसं पृथक् ।
हुताशनादित्यसमानतेजस-
श्चिरेण गर्भान्प्रतिपेदिरे तदा ॥३१॥

तदनन्तर उन उत्तम रानियों ने, महाराज की पृथक्-पृथक् दी हुई खीर खा कर, अग्नि और सूर्य के समान तेजवाले गर्भ शीघ्र धारण किए ॥ ३१ ॥

ततस्तु राजा प्रसमीक्ष्य ताः स्त्रियः
प्ररूढगर्भाः प्रतिलब्धमानसः ।
बभूव हृष्टस्त्रिदिवे यथा हरिः
सुरेन्द्रसिद्धर्षिगणाभिपूजितः ॥३२॥

इति षोडशः सर्गः

महाराज दशरथ भी अपनी रानियों को गर्भवती और अपना मनोरथ पूर्ण होता देख, उसी प्रकार प्रसन्न हुए, जिस प्रकार

भगवान् विष्णु देवताओं और सिद्धों से पूजित हो, स्वर्ग में प्रसन्न होते हैं ॥ ३२ ॥

बालकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

— o —

सप्तदशः सर्गः

— o —

पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
उवाच देवताः सर्वाः स्वयंभूर्भगवानिदम् ॥१॥

महात्मा महाराज दशरथ के घर में भगवान् विष्णु को पुत्र-रूप से अवतीर्ण होते देख, ब्रह्मा जी ने सब देवताओं से कहा ॥१॥

सत्यसन्धस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिणः ।
विष्णोः सहायान्बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः ॥२॥
मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमाञ्जवे ।
नयज्ञान्बुद्धिसम्पन्नान्विष्णुतुल्यपराक्रमान् ॥३॥
असंहार्यानुपायज्ञान्सिंहसंहननान्वितान् ।
सर्वास्त्रगुणसम्पन्नानमृतप्राशनानिव ॥४॥
अप्सरःसु च मुख्यासु गन्धर्वीणां तनूषु च ।
*किंनरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च ॥५॥
यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्षविद्याधरीषु च ।
सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान् ॥६॥

सत्यसन्ध, वीर, और सब का हित चाहने वाले भगवान् विष्णु की सहायता के लिए तुम लोग भी बलवान, कामरूपी

*गोविन्दराजीय संस्करण में ये दो पद अप्राप्त हैं ।

(जैसा चाहे वैसा रूप बनाने वाले) माया को जानने वाले, वेग में पवन तुल्य, नीतिज्ञ, बुद्धिमान्, पराक्रम में विष्णु के ही समान, जिनको कोई मार न सके, उद्यमी, दिव्य शरीर वाले, अस्त्र-विद्या में निपुण और देवताओं के सदृश वानरों को; अप्सराओं, गन्धर्वों की स्त्रियों और यक्षों एवं नागों की कन्याओं, ऋक्षियों, विद्याधरियों, किन्नरियों और वानरियों से उत्पन्न करो ॥ २ ॥ ३ ॥ ४॥५॥६॥

पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्षपुङ्गवः ।
जृम्भमाणस्य सहसा मम वक्त्रादजायत ॥७॥

मैंने भी पहले भालुओं में श्रेष्ठ जाम्बवान् नामक रीछ को पैदा किया था। वह जमुहाई लेते समय मेरे मुख से सहसा निकल पड़ा था ॥७॥

ते तथोक्ता भगवता तत्प्रतिश्रुत्य शासनम् ।
जनयामासुरेवं ते पुत्रान्वानररूपिणः ॥८॥
ऋषयश्च महात्मानः सिद्धविद्याधरोरगाः ।
चारणाश्च सुतान्वीरान्ससृजुर्वनचारिणः ॥९॥

ब्रह्मा जी की इस आज्ञा के अनुसार, ऋषियों, सिद्धों, चारणों, विद्याधरों और नागों ने वानर रूपी पुत्रों को उत्पन्न किया ॥८॥९॥

वानरेन्द्रं महेन्द्राभमिन्द्रो वालिनमूर्जितम् ।
सुग्रीवं जनयामास तपनस्तपतां वरः ॥१०॥
बृहस्पतिस्त्वजनयत्तारं नाम महाहरिम् ।
सर्ववानरमुख्यानां बुद्धिमन्तमनुत्तमम् ॥११॥
धनदस्य सुतः श्रीमान्वानरो गन्धमादनः ।
विश्वकर्मा त्वजनयन्नलं नाम महाहरिम् ॥१२॥

पावकस्य सुतः श्रीमान्नीलोऽग्निसदृशप्रभः ।
तेजसा यशसा वीर्यादत्यरिच्यत वानरान् ॥१३॥
रूपद्रविणसम्पन्नावश्विनौ रूपसम्मतौ ।
मैन्दं च द्विविदं चैव जनयामासतुः स्वयम् ॥१४॥
वरुणो जनयामास सुषेणं नाम वानरम् ।
शरभं जनयामास पर्जन्यस्तु[1] महाबलम् ॥१५॥
मारुतस्यात्मजः श्रीमान्हनुमान्नाम वानरः ।
वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे ॥१६॥

[नोट—कुछ लोग हनुमान जी को शिव जी के अंश से उत्पन्न हुआ समझते हैं। किन्तु उनके कथन का खण्डन १६वें श्लोक से हो जाता है। हनुमान जी पवन-तनय थे।]

इन्द्र ने महेन्द्राचल की तरह वालि, सूर्य ने सुग्रीव, बृहस्पति ने तार, जो सब वानरों में मुख्य और अति चतुर था, कुबेर ने गन्ध-मादन, विश्वकर्मा ने नल, अग्नि ने नील, जो अग्नि के समान ही तेजस्वी था तथा यश और पराक्रम में अपने पिता से भी बढ़ कर था, अश्विनी-कुमारों ने मैन्द और द्विविद, वरुण ने सुषेण, वर्षा के अधिष्ठाता देवता ने शरभ और पवन ने हनुमान नामक वानर उत्पन्न किया। इनकी देह वज्र के समान दृढ़ थी और यह वेग में गरुड़ के समान थे ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान्बलवानपि ।
ते सृष्टा बहुसाहस्रा दशग्रीववधे रताः ॥१७॥

---

१ पर्जन्यो = वर्षाभिमानि देवता। (गो०)

हनुमान जी बुद्धि और पराक्रम में अन्य सब वानरों से बढ़ चढ़ कर थे। इनके अतिरिक्त हजारों और भी बंदर, रावण के वध के लिए उत्पन्न किए गए॥ १७॥

अप्रमेयबला वीरा विक्रान्ताः कामरूपिणः।
ते गजाचलसङ्काशा वपुष्मन्तो महाबलाः॥१८॥

जितने वानर उत्पन्न हुए वे सब के सब अत्यन्त बलवान, स्वेच्छाचारी, गज और भूधराकार शरीर वाले हुए॥ १८॥

ऋक्षवानरगोपुच्छाः क्षिप्रमेवाभिजज्ञिरे।
यस्य देवस्य यद्रूपं वेषो यश्च पराक्रमः॥१९॥
अजायत समस्तेन तस्य तस्य सुतः पृथक्।
गोलाङ्गूलीषु चोत्पन्नाः केचित्संमतविक्रमाः॥२०॥

रीछ, बंदर, लंगूर सब ऐसे ही थे। जिस देवता का जैसा रूप, वेष व पराक्रम था, उनके अलग-अलग वैसे-वैसे ही पुत्र भी हुए बल्कि इन योनियो में विशेष पराक्रमी हुए॥ १९॥ २०॥

ऋक्षीषु च तथा जाता वानराः किन्नरीषु च।
देवा महर्षिगन्धर्वास्तार्क्ष्या यक्षा यशस्विनः॥२१॥
नागाः[1] किम्पुरुषाश्चैव सिद्धविद्याधरोरगाः[2]।
बहवो जनयामासुर्हृष्टास्तत्र सहस्रशः॥२२॥

इनमें से कोई तो लंगूरिनों से कोई रीछिनियों से और कोई किन्नरियों से उत्पन्न हुआ। यशस्वी देवता, महर्षि, गन्धर्व, गरुड़, वासुकी आदि, यक्ष नाग, सिद्ध, विद्याधर आदि ने हजारों हृष्ट-पुष्ट पुत्र उत्पन्न किए॥ २१॥ २२॥

---

१ नागाः = दिग्गजाः (गो०) २ उरगाः वासुक्यादयः (गो०)

वानरान्सुमहाकायान्सर्वान्वै वनचारिणः ।
सिंहशार्दूलसदृशा दर्पेण च बलेन च ॥२३॥

ये सब वानर बड़े भारी डील डोल के थे और दर्प तथा बल में सिंह और शार्दूल के समान थे ॥ २३ ॥

शिलाप्रहरणाः सर्वे सर्वे पादपयोधिनः ।
नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः ॥२४॥

सब के सब शिलाओं, वृक्षों के प्रहार से युद्ध करने वाले, नखों और दाँतों के आयुधों वाले तथा सब अस्त्रों के चलाने में पण्डित थे ॥ २४ ॥

विचालयेयुः शैलेन्द्रान्भेदयेयुः स्थिरान्द्रुमान् ।
क्षोभयेयुश्च वेगेन समुद्रं सरितांपतिम् ॥२५॥

ये लोग बड़े-बड़े पर्वतों को हिला देने वाले, बड़े बड़े जमे हुए पेड़ों को उखाड़ देने वाले और अपने वेग से समुद्र को भी क्षुब्ध करने वाले थे ॥ २५ ॥

दारयेयुः क्षितिं पद्भ्यामाप्लवेयुर्महार्णवम् ।
नभस्थलं विशेयुश्च गृह्णीयुरपि तोयदान् ॥२६॥

ये अपने पैर के प्रहार से पृथ्वी को फोड़ने वाले, समुद्र के पार जाने वाले, आकाश में उड़ने वाले और बादलों को भी पकड़ने वाले थे ॥ २६ ॥

गृह्णीयुरपि मातङ्गान्मत्तान्प्रव्रजतो वने ।
नर्दमानाश्च नादेन पातयेयुर्विहङ्गमान् ॥२७॥

ये वानर, जंगलो मे घूमने वाले और मदमस्त हाथियो को पकड़ने वाले, और किलकारी मार कर, आकाश में उड़ते हुए पक्षियो को गिराने की सामर्थ्य रखने वाले थे ॥ २७ ॥

ईदृशानां प्रसूतानि हरीणां कामरूपिणाम् ।
शतं शतसहस्राणि यूथपानां महात्मनाम् ॥२८॥

इस प्रकार कामरूपी वानरों की उत्पत्ति हुई। वे ऐसे महाबली लाखों वानरों के यूथों के यूथपति हुए ॥२८॥

ते प्रधानेषु यूथेषु हरीणां हरियूथपाः ।
बभूवुर्यूथपश्रेष्ठा वीरांश्चाजनयन्हरीन् ॥२९॥

इन प्रधान यूथपों से अनेक वीर यूथपश्रेष्ठ वानर उत्पन्न हुए ॥२९॥

अन्ये ऋक्षवतः प्रस्थानुपतस्थुः सहस्रशः ।
अन्ये नानाविधाञ्शैलान् भेजिरे काननानि च ॥३०॥

इनमे से हजारों ऋक्षवान् पर्वत के शिखरों पर और शेष वानर जगह-जगह पर्वतों और वनों में बसने लगे ॥३०॥

सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम् ।
भ्रातरावुपतस्थुस्ते सर्व एव हरीश्वराः ॥३१॥

सूर्यपुत्र सुग्रीव और इन्द्रपुत्र वालि, इन दोनों भाइयों के पास ये सब वानर रहने लगे ॥३१॥

नलं नीलं हनूमन्तमन्यांश्च हरियूथपान् ।
ते तार्क्ष्यबलसंपन्नाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥३२॥

और बहुतो ने नल, नील, हनुमान तथा अन्य यूथपतियों का सहारा लिया। वे सब गरुड़ के समान बलवान् और युद्ध में कुशल थे ॥३२॥

विचरन्तोऽर्दयन् दर्पात्सिंहव्याघ्रमहोरगान् ।
तांश्च सर्वान्महाबाहुर्वाली विपुलविक्रमः ॥३३॥

जुगोप भुजवीर्येण ऋक्षगोपुच्छवानरान् ।
तैरियं पृथिवी शूरैः सपर्वतवनार्णवा ।
कीर्णा विविधसंस्थानैर्नानाव्यञ्जनलक्षणैः ॥३४॥

वे सब वानर घूमते हुए सिंह, व्याघ्र और साँपों को भी मर्दन करने लगे। महाबली और महाबाहु वाली अपने विपुल विक्रम और अपनी भुजाओं के बल से बन्दरों, रीछों और लंगूरों का पालन करने लगा। उन शूरवीर कपियों से, जिनके विविध प्रकार के रूप-रंग थे, पर्वत, वन, समुद्र और पृथ्वी के अनेक स्थान परिपूर्ण हो गये ॥३३॥३४॥

तैर्मेघवृन्दाचलकूटकल्पै-
र्महाबलैर्वानरयूथपालैः ।
बभूव भूर्भीमशरीररूपैः
समावृता रामसहायहेतोः ॥३५॥

इति सप्तदश सर्गः ॥

मेघों और पर्वतों के समान भीम शरीर वाले महाबली जो यूथप बन्दर श्रीरामचन्द्र जी की सहायता के लिए उत्पन्न हुए थे, उनसे सारी पृथ्वी भर गई ॥३५॥

वालकाण्ड का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०.—

अष्टादशः सर्गः

—.०.—

निर्वृत्ते तु क्रतौ तस्मिन्हयमेधे महात्मनः ।
प्रतिगृह्य सुरा यागान्प्रतिजग्मुर्यथागतम् ॥१॥

महाराज दशरथ का अश्वमेध यज्ञ समाप्त होने पर देवता अपना-अपना भाग लेकर अपने स्थानों को चले गये ॥१॥

समाप्तदीक्षानियमः पत्नीगणसमन्वितः ।
प्रविवेश पुरीं राजा सभृत्यबलवाहनः ॥२॥

महाराज भी यज्ञदीक्षा के नियमों को समाप्त कर, रानियों, सेवकों, सेना और वाहनों सहित राजधानी में चले गये ॥२॥

यथार्हं पूजितास्तेन राज्ञा वै पृथिवीश्वराः ।
मुदिताः प्रययुर्देशान्प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् ॥३॥

बाहर से न्योते में आये हुए राजा भी यथोचित रीत्या सत्कृत हो और वसिष्ठ जी को प्रणाम कर सहर्ष अपने-अपने देश को लौट गये ॥३॥

श्रीमतां गच्छतां तेषां स्वपुराणि पुरात्ततः ।
बलानि राज्ञां शुभ्राणि प्रहृष्टानि चकाशिरे ॥४॥

वहाँ से अपने-अपने नगर को राजाओं के जाने पर उन राजाओं की सेनाएँ नाना प्रकार के भूषणवस्त्रादि पाकर और प्रसन्न हो अयोध्या से अपने-अपने पुर को विदा हुई ॥४॥

गतेषु पृथिवीशेषु राजा दशरथस्तदा ।
प्रविवेश पुरीं श्रीमान्पुरस्कृत्य द्विजोत्तमान् ॥५॥

सब राजाओं के विदा हो जाने के बाद महाराज दशरथ ने श्रेष्ठ ब्राह्मणों को आगे कर, पुरी में प्रवेश किया ॥५॥

शान्तया प्रययौ सार्धमृष्यशृङ्गः सुपूजितः ।
अन्वीयमानो राज्ञाऽथ सानुयात्रेण धीमता ॥६॥

ऋष्यश्रृङ्ग भी अपनी पत्नी शान्ता सहित महाराज से विदा हो, अपने स्थान को चल दिए। महाराज उनको पहुँचाने के लिए कुछ दूर तक उनके साथ गये ॥६॥

एवं विसृज्य तान्सर्वान्राजा सम्पूर्णमानवः ।
उवास सुखितस्तत्र पुत्रोत्पत्तिं विचिन्तयन् ॥७॥

इस प्रकार उन सब को विदा कर, महराज दशरथ सफल-मनोरथ हो, सन्तानोत्पत्ति की प्रतीक्षा करते हुए रहने लगे ॥७॥

ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्ययुः ।
ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ ॥८॥

यज्ञ होने के दिन से जब छः ऋतुएँ बीत चुकीं और बारहवाँ महीना लगा, तब चैत्र मास की नवमी तिथि को ॥८॥

नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु ।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह ॥९॥

पुनर्वसु नक्षत्र मे सूर्य, मंगल, शनि, बृहस्पति और शुक्र के उच्च स्थानों मे प्राप्त होने पर, अर्थात् क्रमशः मेष, मकर, तुला, कर्क और मीन राशियों में आने पर और जब चन्द्रमा बृहस्पति के साथ हो गये, तब कर्क लग्न के उदय होते ही ॥९॥

प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोकनमस्कृतम् ।
कौसल्याऽजनयद्रामं दिव्यलक्षणसंयुतम् ॥१०॥

सर्ववन्द्य, जगत् के स्वामी और दिव्य लक्षणों से युक्त श्रीरामचन्द्र जी का जन्म कौसल्या जी के गर्भ से हुआ ॥१०॥

विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकवर्धनम् ।
कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा ॥११॥

यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ।
भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः ॥१२॥

इक्ष्वाकुवंश को बढ़ाने वाले विष्णु भगवान् का आधा भाग कौसल्या के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। इस अमित तेजस्वी पुत्र के उत्पन्न होने पर कौसल्या जी की वैसी ही शोभा हुई, जैसी कि देवताओं के वरदान से इन्द्र द्वारा अदिति की हुई थी। सत्य-पराक्रमी भरत कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न हुए ॥११॥१२॥

साक्षाद्विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः ।
पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः ॥१३॥
अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत्सुतौ ॥
सर्वास्त्रकुशलौ वीरौ विष्णोरर्धसमन्वितौ ॥१४॥

[नोट—लक्ष्मण और शत्रुघ्न जुड़वाँ भाई थे ।]

भरत जी विष्णु भगवान् के चतुर्थांश थे और सब गुणों से युक्त थे। पुष्य नक्षत्र और मीन लग्न में, सदा प्रसन्न रहने वाले भरत जी का जन्म हुआ। सुमित्रा के गर्भ से लक्ष्मण और शत्रुघ्न उत्पन्न हुए। ये दोनों विष्णु के अष्टमांश थे और सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या में कुशल शूरवीर थे ॥१३॥१४॥

सार्पे जातौ च सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ ।
राज्ञः पुत्रा महात्मानश्चत्वारो जज्ञिरे पृथक् ॥ १५॥

श्लेषा नक्षत्र और कर्क लग्न में सूर्योदय के समय लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म हुआ। महाराज के चारों पुत्र पृथक् पृथक् गुणों वाले पैदा हुए ॥१५॥

गुणवन्तोऽनुरूपाश्च रुच्या प्रोष्ठपदोपमाः ।
जगुः कलं च गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥१६॥
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता ।
उत्सवश्च महानासीदयोध्यायां जनाकुलः ॥१७॥

चारो पुत्र गुणवान् और पूर्वा एव उत्तरा भाद्रपद नक्षत्रों के तुल्य कान्तियुक्त थे। इनके जन्म क समय गन्धर्वों ने मधुर गान किया, अप्सराएँ नाचीं, देवताओं ने बाजे बजाए और आकाश से पुष्पो की वर्षा हुई। इस प्रकार अयोध्या में बड़ी धूमधाम से उत्सव हुआ और लोगो की बड़ी भीड हुई ॥१६॥१७॥

रथ्याश्च जनसम्बाधा नटनर्तकसङ्कुलाः ।
गायनैश्च विराविण्यो वादकैश्च तथाऽपरैः ॥१८॥

अयोध्या में घर-घर आनन्द की बधाई बजने लगी। गली-कूचों में जिधर देखो उधर ही लोगो की भीड़ लगा हुई थी और वेश्या, नट-नटी आदि गा-बजा रही थीं ॥१८॥

प्रदेयांश्च ददौ राजा सूतमागधवन्दिनाम् ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं गोधनानि सहस्रशः ॥१९॥

इस उत्सव में महाराज दशरथ ने सूत, मागध और वन्दीगण को पारितोपिक यानी "सिरोपा" और ब्राह्मणों को धन और बहुत सी गोएँ दी ॥१९॥

अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाऽकरोत् ।
ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकयीसुतम् ॥२०॥

बारहवें दिन चारो शिशुओ का नाम-करण संस्कार किया गया। सब से बड़े अर्थात् कौसल्यानन्द-वर्द्धन का नाम श्रीरामचन्द्र और कैकेयी के पुत्र का नाम भरत रखा गया ॥२०॥

सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा ।
वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कृतवांस्तदा ॥२१॥

सुमित्रा जी के पुत्रों का नाम लक्ष्मण और शत्रुघ्न रखा गया। नामकरण-संस्कार बड़े हर्ष के साथ वसिष्ठ जी ने किया ॥२१॥

ब्राह्मणान्भोजयामास पौरजानपदानपि ।
अददद्ब्राह्मणानां च रत्नौघममितं बहु ॥२२॥

इस दिन पुरवासियों को और बाहर से आए हुए ब्राह्मणों को महाराज ने भोजन कराया और ब्राह्मणो को बहुत से रत्न बाँटे ॥२२॥

तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत् ।
तेषां केतुरिव[1] ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः ॥२३॥

इन सब बालको के जातकर्म, अन्नप्राशनादि संस्कार महाराज ने यथासमय करवाये। इन चारो मे कुल की पताका के समान श्रीरामचन्द्र अपने पिता दशरथ को अत्यन्त प्यारे थे ॥२३॥

बभूव भूयो भूतानां स्वयंभूरिव सम्मतः ।
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः ॥२४॥

यही नही, बल्कि वे ब्रह्मा जी की तरह सब लोगो के प्रेमास्पद थे। चारो राजकुमार वेद के जानने वाले, शूर और सब लोगो के हितैषी थे ॥२४॥

---

[1] केतुरिव—ध्वज इव (गो०)

सर्वे ज्ञानोपसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः ।
तेषामपि महातेजा रामः सत्यपराक्रमः ॥२५॥
इष्टः सर्वस्य लोकस्य शशाङ्क इव निर्मलः ।
गजस्कन्धेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु सम्मतः ॥२६॥

यद्यपि सब राजकुमार परम ज्ञानी और सर्वगुण-सम्पन्न थे, तथापि उनमें महातेजस्वी और सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी निर्मल चन्द्रमा की तरह सब के प्यारे थे। उनको हाथी के कन्धे पर और घोड़े की पीठ पर तथा रथ पर बैठना बहुत पसन्द था अर्थात् हाथी, घोड़ा और रथ स्वयं हाँकने का शौक था ॥२५॥२६॥

धनुर्वेदे च निरतः पितृशुश्रूषणे रतः ।
बाल्यात्प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः ॥२७॥
रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः ।
सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः ॥२८॥

वे धनुर्विद्या में निपुण थे और सदा पिता की सेवा में लगे रहते थे। शोभा के बढ़ाने वाले लक्ष्मण जी लड़कपन ही से अपने लोकहितैषी अथवा लोकाभिराम ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा में सदा रहते थे और श्रीरामचन्द्र जी को अपने शरीर से बढ़कर चाहते थे ॥२७॥२८॥

लक्ष्मणो लक्ष्मिसम्पन्नो बहिः प्राण इवापरः ।
न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः ॥२९॥
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना ।
यदा हि हयमारूढो मृगयां याति राघवः ॥३०॥

तदैनं पृष्ठतोऽभ्येति सधनुः परिपालयन् ।
भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः ॥३१॥
प्राणैः प्रियतरो नित्यं तस्य चासीत्तथा प्रियः ।
स चतुर्भिर्महाभागैः पुत्रैर्दशरथः प्रियैः ॥३२॥

कान्ति-सम्पन्न लक्ष्मण जी को श्रीरामचन्द्र जी अपना दूसरा प्राण ही मानते थे और इतना चाहते थे कि, बिना उनके न तो सोते और न कोई मिठाई ही खाते थे। जब श्रीरामचन्द्रजी घोड़े पर सवार होकर शिकार खेलने जाते तब लक्ष्मण जी धनुष हाथ में लेकर उनके पीछे-पीछे हो लिया करते थे। भरत जी को भी शत्रुघ्न उसी प्रकार प्राणों के समान प्रिय थे, जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी को लक्ष्मण। इन चारों महाभाग्यशाली प्यारे पुत्रों से महाराज दशरथ ॥२६॥३०॥३१॥३२॥

बभूव परमप्रीतो[१] वेदैरिव पितामहः ।
ते यदा ज्ञानसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः ॥३३॥

वैसे ही प्रसन्न रहते थे जैसे चारों वेदों से ब्रह्माजी। उन चारों ज्ञानी, सब गुणों से युक्त ॥३३॥

ह्रीमन्तः कीर्त्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः ।
तेषामेवंप्रभावाणां सर्वेषां दीप्ततेजसाम् ॥३४॥

लज्जालु, कीर्तिमान्, सर्वज्ञ और दूरदर्शी पुत्रों का प्रभाव व तेज देख ॥३४॥

पिता दशरथो हृष्टो ब्रह्मा लोकाधिपो यथा ।
ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः ॥३५॥

---

[१] परमप्रीतो 'देवैरिव'।

उनके पिता महाराज दशरथ वैसे ही प्रसन्न होते थे, जैसे ब्रह्मा जी लोकपालो से अथवा दिक्पालो से। वे चारों पुरुषसिंह राजकुमार वेदाध्ययन में निरत रहते थे ॥३५॥

पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः ।
अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां प्रति ॥३६॥
चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः ।
तस्य चिन्तयमानस्य मन्त्रिमध्ये महात्मनः ॥३७॥
अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।
स राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षी द्वाराध्यक्षानुवाच ह ॥३८॥

वे पिता की सेवा किया करते थे और धनुर्विद्या में निष्ठा रखते थे। उनके विवाह के लिये महाराज दशरथ उपाध्यायों और कुटुम्बियों तथा मंत्रियो से सलाह कर रहे थे कि, इसी बीच में महामुनि महातेजस्वी विश्वामित्र पधारे। वे महाराज से मिलने की अभिलाषा से ड्योढीदार से बोले—॥३६॥३७॥३८॥

शीघ्रमाख्यात मां प्राप्तं कौशिकं गाधिनः सुतम् ।
तच्छ्रुत्वा वचनं त्रासाद्राज्ञो वेश्म प्रदुद्रुवुः ॥३९॥

तुरन्त जाकर महाराज को सूचना दो कि, गाधि के पुत्र कौशिक आये हैं। यह सुन और भयभीत हो, द्वारपाल राजगृह की ओर दौड़े ॥३९॥

सम्भ्रान्तमनसः सर्वे तेन वाक्येन चोदिताः ।
ते गत्वा राजभवनं विश्वामित्रमृषिं तदा ॥४०॥
प्राप्तमावेदयामासुर्नृपायैक्ष्वाकवे तदा ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा सपुरोधाः समाहितः ॥४१॥

विश्वामित्रजी के कहने पर उन्होने राजभवन मे जाकर बड़े आदर के साथ विश्वामित्रजी के आने का संवाद महाराज दशरथ से निवेदन किया। आगमन सुन, महाराज प्रसन्न हो और वसिष्ठजी को साथ ले ॥४०॥४१॥

प्रत्युज्जगाम तं हृष्टो ब्रह्माणमिव वासवः ।
स दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्त्या तापसं संशितव्रतम् ॥४२॥

विश्वामित्रजी से मिलने उसी प्रकार गये, जिस प्रकार ब्रह्मा जी से मिलने इन्द्र जाते हैं। तेज से देदीप्यमान, महातेजस्वी, अति कड़े नियमों का पालन करने वाले और प्रसन्नमुख विश्वामित्रजी को खड़ा देख ॥४२॥

प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यं समुपाहरत् ।
तं राज्ञः प्रतिगृह्यार्घ्यं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥४३॥

महाराज ने प्रसन्न हो शास्त्र-विधि के अनुसार उनको अर्घ्य प्रदान किया। महाराज से अर्घ्य ले ॥४३॥

कुशलं चाव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम् ।
पुरे कोशे जनपदे बान्धवेषु सुहृत्सु च ॥४४॥

विश्वामित्रजी ने महाराज से पुर, कोश, राज्य, कुटुम्ब और इष्टमित्रों की कुशल पूछी ॥४४॥

कुशलं कौशिको राज्ञः पर्यपृच्छत्सुधार्मिकः ।
अपि ते सन्नता सर्वे सामन्ता रिपवो जिताः ॥४५॥

विश्वामित्र ने कुशल पूछते हुए अत्यन्त धार्मिक महाराज से पूछा—आपके समस्त सामन्त आपके अधीन रहते हैं? आपने अपने शत्रुओं को तो जीत कर अपने वश मे कर रखा है? ॥४५॥

दैवं च मानुषं चापि कर्म ते साध्वनुष्ठितम् ।
वसिष्ठं च समागम्य कुशलं मुनिपुङ्गवः ॥४६॥

यज्ञादि देवकर्म, तथा अतिथियों का सत्कार आदि कर्म, भली भाँति होते हैं ? फिर विश्वामित्रजी ने मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी से कुशल पूछी ॥४६॥

ऋषींश्चान्यान्यथान्यायं महाभागानुवाच ह ।
ते सर्वे हृष्टमनसस्तस्य राज्ञो निवेशनम् ॥४७॥

इसके बाद विश्वामित्रजी ने यथाक्रम अन्य ऋषियों (जाबालादि) से कुशल-मङ्गल पूछा। तब वे सब प्रसन्नमन महाराज के सभा-भवन मे गये ॥४७॥

विविशुः पूजितास्तत्र निषेदुश्च यथार्हतः ।
अथ हृष्टमना राजा विश्वामित्रं महामुनिम् ॥४८॥

वहाँ वे लोग यथोचित सम्मान पा कर, यथोचित आसनों पर बैठ गये। तब महाराज दशरथ प्रसन्न हो, महामुनि विश्वामित्र जी से ॥४८॥

उवाच परमोदारो हृष्टस्तमभिपूजयन् ।
यथाऽमृतस्य सम्प्राप्तिर्यथा वर्षमनूदके ॥४९॥
यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य च ।
प्रनष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदयः ॥५०॥
तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने ।
कं च ते परमं कामं करोमि किन्तु हर्षितः ॥५१॥

परमोदार महाराज दशरथ आदरपूर्वक बोले—हे महर्षे ! आपके आगमन से मुझे वैसा ही हर्ष हुआ है, जैसा कि अमृत के मिलने से, सूखती हुई खेती को वर्षा होने से, अपुत्रक को पुत्र के जन्म से और टोटा उठाने वाले (वैश्य) को लाभ होने से सुख प्राप्त होता है। हे महामुने ! मै आपका सहर्ष स्वागत करता हूँ,

पात्रभूतोऽसि मे ब्रह्मन्दिष्ट्या प्राप्तोऽसि धार्मिक ।
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् ॥५२॥

आप सुपात्र और धार्मिक हैं। बड़े भाग्य से आप आये हैं। आपकी कृपादृष्टि मेरे ऊपर पड़ने से आज मेरा जन्म सफल हुआ और मेरा जीवन सुजीवन हो गया ॥५२॥

पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः ।
ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया ॥५३॥

आप प्रथम जब राजर्षि थे तभी बड़े तेजस्वी थे; फिर अब तो आप ब्रह्मर्षि पदवी को प्राप्त होने से सब प्रकार से मेरे लिये अत्यन्त पूज्य है ॥५३॥

तदद्भुतमिदं ब्रह्मन्पवित्रं परमं मम ।
शुभक्षेत्रगतश्चाहं तव सन्दर्शनात्प्रभो ॥५४॥

आपका आगमन अति पवित्र और अद्भुत होने से आपके शुभदर्शन कर मेरा शरीर भी पवित्र हो गया, अथवा यह स्थान पवित्र हो गया ॥५४॥

ब्रूहि यत्प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति ।
इच्छाम्यनुगृहीतोऽहं त्वदर्थपरिवृद्धये ॥५५॥

आप जिस काम के लिये पधारे हों, वह बतलाइये। मैं चाहता हूँ कि, आपकी सेवा कर, मैं अनुगृहीत होऊँ ॥५५॥

कार्यस्य न विमर्शं च गन्तुमर्हसि कौशिक ।
कर्ता चाहमशेषेण दैवतं हि भवान्मम ॥५६॥

हे कौशिक! आप किसी बात के लिये सङ्कोच न करें; मैं आपके सब कार्य करूँगा। क्योंकि आप तो मेरे देवता (पूज्य) हैं ॥५६॥

मम चायमनुप्राप्तो महानभ्युदयो द्विज ।
तवागमनजः कृत्स्नो धर्मश्चानुत्तमो मम ॥५७॥

हे ब्रह्मर्षि ! आपके पधारने से मानो मेरा भाग्य जागा और बड़ा पुण्य प्राप्त हुआ ॥५७॥

इति हृदयसुखं निशम्य वाक्यं
श्रुतिसुखमात्मवता विनीतमुक्तम् ।
प्रथितगुणयशा गुणैर्विशिष्टः
परमऋषिः परमं जगाम हर्षम् ॥५८॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

महाराज दशरथ के—मन को प्रसन्न करने वाले, शास्त्रानुमोदित और—विनम्र वचनों को सुन कर, बड़े यशस्वी और सर्वगुण-सम्पन्न महर्षि विश्वामित्रजी परम प्रसन्न हुए ॥५८॥

बालकाण्ड का अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—०—

एकोनविंशः सर्गः

—०—

तच्छ्रुत्वा राजसिंहस्य वाक्यमद्भुतविस्तरम् ।
हृष्टरोमा महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥१॥

राजसिंह महाराज दशरथ के अद्भुत और विस्तृत वचन सुन महातेजस्वी विश्वामित्र पुलकित हो कहने लगे ॥१॥

सदृशं राजशार्दूल तवैतद्भुवि नान्यथा ।
महावंशप्रसूतस्य वसिष्ठव्यपदेशिनः ॥२॥

हे राजशार्दूल ! ऐसे वचन आप जैसे इक्ष्वाकुवंशी और वसिष्ठजी के यजमान को छोड़ और कौन कहेगा ॥२॥

यत्तु मे हृद्गतं वाक्यं तस्य कार्यस्य निश्चयम् ।
कुरुष्व राजशार्दूल भव सत्यप्रतिश्रवाः ॥३॥

हे राजशार्दूल ! अब मैं अपने मन की बात कहता हूँ। उसके अनुसार कार्य करके, आप अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कीजिए ॥३॥

अहं नियममातिष्ठे सिद्ध्यर्थं[1] पुरुषर्षभ ।
तस्य विघ्नकरौ द्वौ तु राक्षसौ कामरूपिणौ ॥४॥

हे नरश्रेष्ठ ! मैं जब फल-प्राप्ति के लिए यज्ञदीक्षा ग्रहण करता हूँ तब दो कामरूपी राक्षस आकर उसमे विघ्न किया करते है ॥४॥

व्रते मे बहुशश्चीर्णे समाप्त्यां राक्षसाविमौ ।
मारीचश्च सुबाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ ॥५॥
तौ मांसरुधिरौघेण वेदिं तामभ्यवर्षताम् ।
अवधूते यथाभूते तस्मिन्नियमनिश्चये ॥६॥
कृतश्रमो निरुत्साहस्तस्माद्देशादपाक्रमे ॥७॥

मारीच और सुबाहु नाम के दोनों पराक्रमी सुशिक्षित राक्षस मेरे व्रत की आराधना समाप्त होने पर वेदी के ऊपर मास और शोणित की वर्षा किया करते हैं। बहुत परिश्रम से किये हुए अपने नियम और व्रत के दूषित कर दिये जाने पर मैं हतोत्साह होकर उस स्थान से चला आता हूँ ॥५॥६॥७॥

---

१ सिद्ध्यर्थं = फलार्थम् (गो०)

न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव ।
तथाभूता हि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते ॥८॥

हे राजन्! इस चर्या मे क्रोध करना वर्जित होने के कारण मैं उनको शाप भी नहीं दे सकता ॥८॥

स्वपुत्रं राजशार्दूल रामं सत्यपराक्रमम् ।
काकपक्षधरं शूरं ज्येष्ठं मे दातुमर्हसि ॥९॥

अतएव हे राजशार्दूल! सत्यपराक्रमी और सीस पर जुल्फें रखाये हुए और शूर अपने ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र को मुझे दीजिये ॥९॥

शक्तो ह्येष मया गुप्तो दिव्येन[1] स्वेन तेजसा ।
राक्षसा ये विकर्ता[2] रस्तेषामपि विनाशने ॥१०॥

मुझसे रक्षित हो वे अपने दिव्य तेज से मेरे यज्ञ की रक्षा करेंगे और विघ्नकारी राक्षसो को भी नष्ट करेंगे ॥१०॥

श्रेयश्चास्मै प्रदास्यामि बहुरूपं न संशयः ।
त्रयाणामपि लोकानां येन ख्यातिं गमिष्यति ॥११॥

मैं इनके कल्याण के लिये ऐमी-ऐसी अनेक विधियाँ और क्रियायें इन्हें बतलाऊँगा, जिससे इनकी ख्याति तीनों लोकों में होगी ॥११॥

न च तौ राममासाद्य शक्तौ स्थातुं कथञ्चन ।
न च तौ राघवादन्यो हन्तुमुत्सहते पुमान् ॥१२॥

---

[1] दिव्यं तेजोवर्णवम तेन (गो०)

[2] विकर्त्तारः = विघ्नकर्त्तारः (गो०)

श्रीरामजी के सामने वे कभी टिक न सकेंगे और अन्य मनुष्य को वे कुछ भी न गिनेंगे। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी को छोड़ और कोई भी मनुष्य उन्हें नही मार सकता ॥१२॥

वीर्योत्सिक्तौ हि तौ पापौ कालपाशवशं गतौ ।
रामस्य राजशार्दूल न पर्याप्तौ महात्मनः ॥१३॥

क्योंकि वे दोनो गर्वीले पापी बड़े बलवान् हैं; किन्तु अब उनके मरने का समय आ गया है। हे राजशार्दूल! वे श्रीरामचन्द्र की बराबरी नहीं कर सकते ॥१३॥

न च पुत्रकृतं स्नेहं कर्तुमर्हसि पार्थिव ।
अहं ते प्रतिजानामि हतौ तौ विद्धि राक्षसौ ॥१४॥

हे राजन्! इस समय आप पुत्रस्नेह के वशवर्ती न हो। मैं आपसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि, आप उन राक्षसो को मरा हुआ ही समझिये ॥१४॥

अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिताः ॥१५॥

मैं, महातेजस्वी वसिष्ठ तथा ये वामदेवादि तपस्वी, सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र को जानते हैं ॥१५॥

यदि ते धर्मलाभं च यशश्च परमं भुवि ।
*स्थिरमिच्छसि राजेन्द्र रामं मे दातुमर्हसि ॥१६॥

यदि आप इस संसार में अपने लिये सबसे बढ़ कर पुण्य और यश को स्थायी बनाना चाहते हों तो हे राजेन्द्र! श्रीरामजी को मेरे साथ भेज दीजिये ॥१६॥

यद्यभ्यनुज्ञां काकुत्स्थ ददते तव मन्त्रिणः ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ततो रामं विसर्जय ॥१७॥

---

* पाठान्तरे—"स्थितमिच्छसि" ।

आप वसिष्ठ आदि अपने मन्त्रियों के साथ परामर्श कर लें यदि वे लोग आपको अनुकूल परामर्श दें, तो आप श्रीराम को मेरे साथ भेज दीजिये ॥१७॥

अभिप्रेतमसंसक्तमात्मजं[1] दातुमर्हसि ।
दशरात्रं हि यज्ञस्य रामं राजीवलोचनम् ॥१८॥

मेरा यज्ञ पूरा कराने के लिये दस दिन को राजीवलोचन श्रीरामचन्द्रजी को मुझे तुरन्त दे दीजिये ॥१८॥

नात्येति कालो यज्ञस्य यथाऽयं मम राघव ।
तथा कुरुष्व भद्रं ते मा च शोके मनः कृथाः ॥१९॥

ऐसा कीजिये जिससे मेरे यज्ञ का समय न निकलने पावे। आपका कल्याण हो। आप मन में दुखी न हों ॥१९॥

इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्मार्थसहितं वचः ।
विरराम महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥२०॥

धर्मात्मा महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्रजी इन धर्मार्थयुक्त वचनों को कह कर चुप हो गये ॥२०॥

स तन्निशम्य राजेन्द्रो विश्वामित्रवचः शुभम् ।
शोकमभ्यागमत्तीव्रं व्यषीदत भयान्वितः ॥२१॥

विश्वामित्र की इन शुभ बातों को सुन कर, महाराज दशरथ बहुत डरे और अत्यन्त दुखी हो उदास हो गए ॥२१॥

शोकेन महताविष्टश्चचाल च मुमोह च ।
लब्धसंज्ञस्तनोत्थाय व्यषीदत भयान्वितः ॥२२॥

अत्यन्त शोकाभिभूत होकर महाराज दशरथ किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये। चेत होने पर वे उठे और भयकातर होकर खेद प्रकट करने लगे ॥२२॥

---

[1] असंसक्तं = अविलम्बितमिति (गो०)

इति हृदयमनोविदारणं
मुनिवचनं तदतीव शुश्रुवान् ।
नरपतिरगमद्भयं महद्-
व्यथितमनाः प्रचचाल चासनात् ॥२३॥

इति एकोनविंशः सर्गः।

महाराज दशरथ हृदय और मन को विदीर्ण करने वाले वचन सुन और अत्यन्त भयभीत एवं विकल हो तथा मूर्च्छित हो सिंहासन से गिर पड़े ॥२३॥

बालकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

त्रिंशः सर्गः

—:o.—

तच्छ्रुत्वा राजशार्दूलो विश्वामित्रस्य भाषितम् ।
मुहूर्तमिव निःसंज्ञः संज्ञावानिदमब्रवीत् ॥१॥

विश्वामित्रजी का कथन सुन, महाराज दशरथ एक मुहूर्त्त तक अचेत रहे। तदनन्तर सचेत हो कर यह बोले ॥१॥

ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः ।
न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः ॥२॥

[नोट—श्रीराम जी के लिए, राजीवलोचन का विशेषण आदिकवि ने विशेष कारण से दिया है। राजीव कमल को कहते हैं। कमल सूर्यास्त

होते ही सिमट कर बन्द हो जाता है। अतः श्रीरामचन्द्रजी सूर्यास्त के बाद सो जायँगे और राक्षस रात में प्रबल होते हैं अत. श्रीरामजी आपकी सहायता कुछ भी न कर सकेंगे। यह भाव दिखाने को राजीवलोचन का प्रयोग किया गया है।]

मेरे राजीवलोचन श्रीराम अभी केवल पन्द्रह वर्ष ही की उम्र के तो हैं। मैं उन्हें किसी भी तरह राक्षसों के साथ लड़ने योग्य नहीं समझता ॥२॥

इयमक्षौहिणी पूर्णा यस्याहं पतिरीश्वरः ।
अनया संवृतो गत्वा योद्धाऽहं तैर्निशाचरैः ॥३॥

मेरे पास जो बड़ी सेना है, उसको साथ लेकर मैं उन राक्षसों से लड़ूँगा ॥३॥

इमे शूराश्च विक्रान्ता भृत्या मेऽस्त्रविशारदाः ।
योग्या रक्षोगणैर्योद्धुं न रामं नेतुमर्हसि ॥४॥

ये मेरे शूर, पराक्रमी और युद्धविद्या मे दक्ष, वेतनभोगी योद्धा राक्षसो से युद्ध करने योग्य हैं। आप राम को न ले जाइए ॥४॥

अहमेव धनुष्पाणिर्गोप्ता समरमूर्धनि ।
यावत्प्राणान् धरिष्यामि तावद्योत्स्ये निशाचरैः ॥५॥

मैं स्वय धनुष-बाण लिये हुए रणक्षेत्र में खड़ा और आपके यज्ञ की रक्षा करता हुआ जब तक शरीर में प्राण रहेंगे, राक्षसो से लड़ता रहूँगा ॥५॥

निर्विघ्ना व्रतचर्या सा भविष्यति सुरक्षिता ।
अहं तत्र गमिष्यामि न रामं नेतुमर्हसि ॥६॥

आपकी व्रतचर्या निर्विघ्न समाप्त होगी। मैं स्वयं वहाँ जाऊँगा, आप श्रीराम जी को न ले जाइए ॥६॥

बालो ह्यकृतविद्यश्च न च वेत्ति बलाबलम् ।
न चास्त्रबलसंयुक्तो न च युद्धविशारदः ॥७॥

क्योंकि श्रीराम अभी निरे बालक हैं। वे न तो अनुभवी हैं, न शत्रु के बलाबल को समझ सकते हैं और न युद्धविद्या में कुशल ही हैं ॥७॥

न चासौ रक्षसां योग्यः कूटयुद्धा हि ते ध्रुवम् ।
विप्रयुक्तो हि रामेण मुहूर्तमपि नोत्सहे ॥८॥

आप जानते हैं राक्षस युद्ध करते समय छल-कपट करने में कैसे कुशल होते हैं। श्रीरामचन्द्र उनका सामना करने योग्य नहीं। मैं श्रीराम का उनके साथ युद्ध करना कभी सहन नही कर सकता ॥८॥

जीवितुं मुनिशार्दूल न रामं नेतुमर्हसि ।
यदि वा राघवं ब्रह्मन्नेतुमिच्छसि सुव्रत ॥९॥
चतुरङ्गसमायुक्तं मया च सहितं नय ।
षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक ॥१०॥
दुःखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि ।
चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम ॥११॥

मै श्रीराम के वियोग मे क्षण भर भी नहीं जीवित रह सकता। अत. हे मुनिवर! आप उनको न ले जाइए और यदि उनको

ले॰ही जाना हो तो मुझे और मेरी चतुरङ्गिणी सेना को भी उनके साथ ही लेते चलिए। हे विश्वामित्र! देखिए, साठ हजार वर्षों के वय मे, बड़े क्लेश से मैने इनको पाया है। अतः इनको न ले जाइए। चारों राजकुमारों मे मेरा परम स्नेह श्रीरामचन्द्र ही के ऊपर है ॥९॥१०॥११॥

ज्येष्ठं धर्मप्रधानं च न रामं नेतुमर्हसि ।
किंवीर्या राक्षसास्ते च कस्य पुत्राश्च के च ते ॥१२॥

वह धर्मप्रधान और ज्येष्ठ हैं। अत राजकुमार श्रीरामचन्द्र को आप न ले जाइए। अच्छा, यह तो बतलाइए। उन राक्षसो में बल कितना है और वे किनके बेटे हैं? ॥१२॥

कथंप्रमाणाः के चैतान् रक्षन्ति मुनिपुंगव ।
कथं च प्रतिकर्तव्यं तेषां रामेण रक्षसाम् ॥१३॥

वे कितने बड़े हैं और उनके सहायक कौन कौन हैं। उन्हे श्रीराम किस तरह मार सकेंगे? ॥१३॥

मामकैर्वा बलैर्ब्रह्मन्मया वा कूटयोधिनाम् ।
सर्वं मे शंस भगवन् कथं तेषां मया रणे ॥१४॥
स्थातव्यं दुष्टभावानां वीर्योत्सिक्ता हि राक्षसाः ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥१५॥

हे भगवन्! यह सब भी बताइए कि, हमारी सेना और मैं उन मायावियों और दुष्ट भाव वाले बड़े पराक्रमी राक्षसों के साथ युद्ध में क्योंकर ठहर सकूँगा? महाराज के वचन सुन विश्वामित्र जी बोले ॥१४॥१५॥

पौलस्त्यवंशप्रभवो रावणो नाम राक्षसः ।
स ब्रह्मणा दत्तवरस्त्रैलोक्यं वाधते भृशम् ॥१६॥

हे राजन् ! महर्षि पुलस्त्य के वंश मे उत्पन्न रावण नाम का राक्षस, जिसे ब्रह्मा जी ने वरदान दे रखा है, तीनो लोको को वहुत सताता है ॥१६॥

महावलो महावीर्यो राक्षसैर्वहुभिर्वृतः ।
श्रूयते हि महावीर्यो रावणो राक्षसाधिपः ॥१७॥

वह स्वयं वड़ा वलवान् तथा वड़ा पराक्रमी है और उसके अनुयायी अनेक राक्षस हैं। सुनते हैं कि, वह महावीर रावण राक्षसों का राजा है ॥१७॥

साक्षाद्वैश्रवणभ्राता पुत्रो विश्रवसो मुनेः ।
यदा स्वयं न यज्ञस्य विघ्नकर्ता महावलः ॥१८॥

वह साक्षात् कुवेर का भाई और विश्रवा मुनि का पुत्र है। वह महावली स्वयं तो छोटे यज्ञो मे विघ्न नही करता, किन्तु ॥१८॥

तेन संचोदितौ द्वौ तु राक्षसौ सुमहावलौ ।
मारीचश्च सुवाहुश्च यज्ञविघ्नं करिष्यतः ॥१९॥

उसकी प्रेरणा से वड़े वलवान् दो राक्षस, जिनके नाम मारीच और सुवाहु हैं, ऐसे यज्ञों मे विघ्न डालते हैं ॥१९॥

इत्युक्तो मुनिना तेन राजोवाच मुनिं तदा ।
न हि शक्तोऽस्मि संग्रामे स्थातुं तस्य दुरात्मनः ॥२०॥

विश्वामित्र के इन वचनों को सुन, महाराज दशरथ उनसे कहने लगे कि मैं तो उस दुरात्मा का सामना नहीं कर सकता ॥२०॥

स त्वं प्रसादं धर्मज्ञ कुरुष्व मम पुत्रके ।
मम चैवाल्पभाग्यस्य दैवतं हि भवान्गुरुः ॥२१॥

हे धर्मज्ञ! आप मेरे बच्चे पर और मुझ पर कृपा करें, क्योंकि आप तो मुझ अल्पभाग्य वाले के केवल देवता की तरह पूज्य ही नहीं, किन्तु गुरु भी हैं ॥२१॥

देवदानवगन्धर्वा यक्षाः पतगपन्नगाः ।
न शक्ता रावणं सोढुं किं पुनर्मानवा युधि ॥२२॥

जब देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, पक्षी और साँप भी रावण को युद्ध में नहीं जीत सकते, तब फिर बेचारे मनुष्य किस गिनती में हैं ॥२२॥

स हि वीर्यवतां वीर्यमादत्ते युधि राक्षसः ।
तेन चाहं न शक्नोमि संयोद्धुं तस्य वा बलैः ॥२३॥

रावण युद्ध में बलवानों के बल को क्षय कर देता है, अतएव मैं उसके अथवा उसकी फौज के साथ युद्ध कर पार नहीं पा सकता ॥२३॥

सबलो वा मुनिश्रेष्ठ सहितो वा ममात्मजैः ।
कथमप्यमरप्रख्यं संग्रामाणामकोविदम् ॥२४॥
बालं मे तनयं ब्रह्मन्नैव दास्यामि पुत्रकम् ।
अथ कालोपमौ युद्धे सुतौ सुन्दोपसुन्दयोः ॥२५॥

यज्ञविघ्नकरौ तौ ते नैव दास्यामि पुत्रकम् ।
तयोरन्यतरेणाहं योद्धा स्यां ससुहृद्गणः ॥२६॥
अन्यथा त्वनुनेष्यामि भवन्तम् सह बान्धवैः ।

फिर मैं उन लोगों के साथ लड़ने के लिए, अपने पुत्र को, जो देवताओं के समान रूप वाला है, युद्धविद्या मे अदक्ष है, कैसे भेज सकता हूँ ? हे ब्रह्मन् ! मैं अपने नन्हे से पुत्र को न दूँगा । सुन्द-उपसुन्द के पुत्र मारीच और सुबाहु, जो युद्ध मे काल के समान हैं, बड़े बलवान् हैं और युद्ध करने मे पूर्ण दक्ष हैं तथा यज्ञ में विघ्न करते हैं । उनके साथ लड़ने के लिए मैं अपने पुत्र को न भेजूँगा । उनको छोड़, आप और जिससे कहें उसके साथ, अपने मित्र तथा बांधवो सहित, लड़ने को मैं तैयार हूँ ॥२४॥२५॥२६॥

इति नरपतिजल्पनाद्द्विजेन्द्रं
कुशिकसुतं सुमहान्विवेश मन्युः ।
सुहुत इव मखेऽग्निराज्यसिक्तः
समभवदुज्ज्वलितो महर्षिवह्निः ॥२७॥

इति विंश सर्ग. ॥

महाराज दशरथ के इन असङ्गत वचनो को सुन, विश्वामित्र जी अत्यन्त कुपित हुए। जिस प्रकार भली भाँति घी की आहुति पड़ने से आग धधकती है, उसी प्रकार उनका क्रोधाग्नि (दशरथ के वचनरूपी घृत की आहुति से) धधकने लगा ॥२७॥

बालकाण्ड का बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

एकत्रिंशः सर्गः

—॰—

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य स्नेहपर्याकुलाक्षरम् ।
समन्युः कौशिको वाक्यं प्रत्युवाच महीपतिम् ॥१॥

महाराज दशरथ के पुत्रस्नेह से सने वचनों को सुन, मुनिप्रवर विश्वामित्र जी क्रुद्ध हुए और कहने लगे ॥१॥

पूर्वमर्थं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमिच्छसि ।
राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्यास्य विपर्ययः ॥२॥

हे राजन्! आप महाराज रघु के वंश में उत्पन्न होकर, बात कह कर मुकरते हैं। यह तो आपकी वंशपरम्परा से उल्टी बात है और ठीक भी नहीं है ॥२॥

यदीदं ते क्षमं राजन् गमिष्यामि यथागतम् ।
मिथ्याप्रतिज्ञः काकुत्स्थ सुखी भव सबान्धवः ॥३॥

अच्छा, यदि आपकी यही इच्छा है तो, लो मैं यह चला। आप अपनी प्रतिज्ञा मेट कर भाई-बन्धुओं सहित प्रसन्न रहिये ॥३॥

तस्य रोषपरीतस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ।
चचाल वसुधा कृत्स्ना विवेश च भयं सुरान् ॥४॥

इस प्रकार बुद्धिमान् विश्वामित्र के कुपित होने पर, समस्त पृथ्वी हिल उठी और देवता लोग डर गये ॥४॥

त्रस्तरूपं तु विज्ञाय जगत्सर्वं महानृषिः ।
नृपतिं सुव्रतो धीरो वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥५॥

तब सारे संसार को त्रस्त देख, श्रेष्ठव्रतपरायण एवं धैर्यवान् महर्षि वसिष्ठ जी, महाराज दशरथ से बोले ॥५॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातः साक्षाद्धर्म इवापरः ।
धृतिमान् सुव्रतः श्रीमान्न धर्मं हातुमर्हसि ॥६॥

आप महाराज इक्ष्वाकु के कुल में उत्पन्न मानो साक्षात् धर्म की दूसरी मूर्ति हैं। आप श्रीमान्, धृतिवान् और सुव्रतधारी हो कर, धर्म का त्याग न करें ॥६॥

त्रिषु लोकेषु विख्यातो धर्मात्मा इति राघवः ।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व नाधर्मं वोढुमर्हसि ॥७॥

तीनों लोकों में आप धर्मात्मा कह कर प्रसिद्ध हैं। अतएव आप अपने धर्म की रक्षा कीजिए, अधर्म न कीजिए ॥७॥

संश्रुत्यैवं करिष्यामीत्यकुर्वाणस्य राघव ।
इष्टापूर्तवधो भूयात्तस्माद्रामं विसर्जय ॥८॥

हे राजन्! जो कोई प्रतिज्ञा करके उसे पूरी नहीं करता है, उसे इष्टा * पूर्त के नाश करने का पाप लगता है। अतः आप श्रीरामचन्द्र जी को भेज दीजिए ॥८॥

कृतास्त्रमकृतास्त्रं वा नैनं शक्ष्यन्ति राक्षसाः ।
गुप्तं कुशिकपुत्रेण ज्वलनेनामृतं यथा ॥९॥

---

*इष्ट — इष्टं अश्वमेधान्तोयागः। पूर्त—वाप्यादि निर्माणम्। अर्थात् अश्वमेधादि यज्ञ इष्ट कहलाते हैं और कुआँ, बावड़ी, तालाब आदि बनवाना "पूर्त" कहलाता है।

श्रीरामचन्द्र चाहे अस्त्रविद्या में कुशल हों या न हों, राक्षस उनका कुछ भी नहीं कर सकते। फिर जब विश्वामित्र उनके रक्षक हैं, तब श्रीरामचन्द्र का कोई क्या कर सकता है? अरे अमृत की रक्षा जब अग्निचक्र से होती है* तब क्या अमृत को कोई पा सकता है ॥६॥

एष विग्रहवान्धर्म एष वीर्यवतां वरः।
एष बुद्ध्याधिको लोके तपसश्च परायणम् ॥१०॥

यह विश्वामित्र शरीर धारण किए हुए धर्म हैं। यह बड़े बलवान् हैं। इनसे बढ़कर बुद्धिमान् और तप.परायण इस संसार में तो दूसरा कोई है नहीं ॥१०॥

एषोऽस्त्रंविविधं वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे।
नैनमन्यः पुमान्वेत्ति न च वेत्स्यन्ति केचन ॥११॥

अनेक अस्त्रों के चलाने की विधियो को जानने वाले, तीनों लोकों में तथा चर-अचर में यह अकेले ही हैं। इनके स्वरूप का ज्ञान हर किसी को नहीं है और न हो सकता है ॥११॥

न देवा नर्षयः केचिन्नासुरा न च राक्षसाः।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥१२॥

इनकी महिमा को देवता, ऋषि, असुर, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और महोरग—कोई भी नहीं जानता ॥१२॥

सर्वास्त्राणि कृशाश्वस्य पुत्राः परमधार्मिकाः।
कौशिकाय पुरा दत्ता यदा राज्यं प्रशासति ॥१३॥

* महाभारत में लिखा है कि अमृत की रक्षा के लिए उसके चारो ओर चक्राकार अग्नि जला करता है।

कृशाश्व प्रजापति के परम धार्मिक पुत्रों ने विश्वामित्र को, जब वे पहले राज्य करते थे, सब अस्त्र दिए थे ॥१३॥

तेऽपि पुत्राः कृशाश्वस्य प्रजापतिसुतासुताः ।
नैकरूपा महावीर्या दीप्तिमन्तो जयावहाः ॥१४॥

वे कृशाश्व के पुत्र प्रजापति की कन्याओं के पुत्र हैं। वे एक रूप के नहीं हैं। वे बड़े बलवान्, दीप्तिमान् और सबको जीतने में समर्थ हैं ॥१४॥

जया च सुप्रभा चैव दक्षकन्ये सुमध्यमे ।
ते सुवातेऽस्त्रशस्त्राणि शतं परमभास्वरम् ॥१५॥

दक्ष प्रजापति की दो कन्याओं—जया और सुप्रभा—ने सैकड़ों अति चमचमाते हुए अस्त्र-शस्त्र उत्पन्न किए ॥१५॥

पञ्चाशतं सुतांल्लेभे जया नाम परान्पुरा ।
वधायासुरसैन्यानाममेयान् कामरूपिणः ॥१६॥

जया ने ५०० अस्त्ररूपी पुत्र उत्पन्न किए अर्थात् ५०० प्रकार के अस्त्रों का आविष्कार किया जो कि, अमित तेज वाले थे और मायावी असुरसेना का संहार करने में समर्थ हुए ॥१६॥

सुप्रभाऽजनयच्चापि पुत्रान्पञ्चाशतं पुनः ।
संहारान्नाम दुर्धर्षान् दुराक्रामान् बलीयसः ॥१७॥

फिर सुप्रभा के भी ५०० शस्त्रास्त्ररूपी पुत्र उत्पन्न हुए अर्थात् शत्रु का संहार करने के लिए सुप्रभा ने भी ५०० प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार किया। उनका नाम संहार पड़ा। इनका प्रहार कोई भी शत्रु सह नहीं सकता। ये कभी निष्फल नहीं जाते, क्योंकि ये बड़े बलवान् हैं ॥१७॥

तानि चास्त्राणि वेत्त्येष यथावत्कुशिकात्मज : ।
अपूर्वाणां च जनने शक्तो भूयश्च धर्मवित् ॥१८॥

इन सब अस्त्र-शस्त्रों को विश्वामित्र यथावत् जानते हैं। यही नहीं, बल्कि इनके अतिरिक्त और नए नए अस्त्र-शस्त्र बनाने की सामर्थ्य भी इन धर्मात्मा में है ॥१८॥

तेनास्य मुनिमुख्यस्य सर्वज्ञस्य महात्मनः ।
न किञ्चिदप्यविदितं भूतं भव्यं च राघव ॥१९॥

हे राघव ! इन मुनिप्रवर सर्वज्ञ महात्मा विश्वामित्र को कोई भी बात, जो हो चुकी है या होने वाली है, अविदित नहीं है। अर्थात् इनको त्रिकाल-ज्ञान प्राप्त है ॥१९॥

एवंवीर्यो महातेजा विश्वामित्रो महातपाः ।
न रामगमने राजन् संशयं गन्तुमर्हसि ॥२०॥

इन महातेजस्वी, महातपस्वी और पराक्रमी विश्वामित्र जी के साथ श्रीरामचन्द्र को भेजने मे जरा भी न डरिए या किसी प्रकार का सन्देह ही कीजिए ॥२०॥

तेषां निग्रहणे शक्तः स्वयं च कुशिकात्मजः ।
तव पुत्रहितार्थाय त्वामुपेत्याभियाचते ॥२१॥

इन विश्वामित्र जी में इतनी सामर्थ्य है कि, ये उन राक्षसों को स्वय मार सकते हैं। यह तो आपसे, पुत्र की भलाई के लिए ही, इन्हें माँगने आए हैं ॥२१॥

इति मुनिवचनात् प्रसन्नचित्तो
रघुवृषभश्च मुमोद भास्वराङ्गः ।
गमनमभिरुरोच राघवस्य
प्रथितयशाः कुशिकात्मजाय बुद्ध्या ॥२२॥

इति एकविंशः सर्गः

गुरु वसिष्ठ जी के इस प्रकार समझाने पर महाराज दशरथ, श्रीरामचन्द्र जी को विश्वविख्यात विश्वामित्र के साथ भेजने को राजी हो गए ॥२२॥

बालकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

द्वाविंशः सर्गः

—:o:—

तथा वसिष्ठे ब्रुवति राजा दशरथः सुतम् ।
प्रहृष्टवदनो राममाजुहाव सलक्ष्मणम् ॥१॥

इस प्रकार वसिष्ठ जी के समझाने पर महाराज ने श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी को बुलवाया ॥१॥

कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्रा दशरथेन च ।
पुरोधसा वसिष्ठेन मङ्गलैरभिमन्त्रितम् ॥२॥

और उनको भेजते समय कौसल्या, महाराज दशरथ तथा कुलपुरोहित वसिष्ठ जी ने स्वस्तिवाचन और मङ्गलाचार किए ॥२॥

स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथः प्रियम् ।
ददौ कुशिकपुत्राय सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥३॥

महाराज दशरथ ने प्रसन्न हो कर और पुत्रों के माथे सूंघ कर, उन्हें विश्वामित्र जी को सौंपा ॥३॥

ततो वायुः सुखस्पर्शो विरजस्को ववौ तदा ।
विश्वामित्रगतं दृष्ट्वा रामं राजीवलोचनम् ॥४॥
पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद्देवदुन्दुभिनिःस्वनः ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः प्रयाते तु महात्मनि ॥५॥

विश्वामित्र जी के साथ कमललोचन श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी के जाने के समय शीतल, मन्द और सुगन्धियुक्त पवन चलने लगा, आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई और देवताओं ने नगाड़े बजाए। अयोध्या में भी जगह जगह राजकुमारों के जाने के समय शङ्खध्वनि की गई और नगाड़े बजाए गए ॥४॥५॥

विश्वामित्रो ययावग्रे ततो रामो महायशाः ।
काकपक्षधरो धन्वी तंच सौमित्रिरन्वगात् ॥६॥

सब से आगे विश्वामित्र थे, उनके पीछे महायशस्वी श्रीरामचन्द्र और उनके पीछे हाथ में धनुष लिये और सिर पर जुल्फें रखाए सुमित्रानन्दन श्रीलक्ष्मण जी चले जाते थे ॥६॥

कलापिनौ धनुष्पाणी शोभयानौ दिशो दश ।
विश्वामित्रं महात्मानं त्रिशीर्षाविव पन्नगौ ।
अनुजग्मतुरक्षुद्रौ पितामहमिवाश्विनौ ॥७॥

बड़े रूपवान् और बलवान् दोनों भाई, पीठों पर तरकस और हाथों में धनुष लिये तथा दशों दिशाओं को सुशोभित करते हुए

मुनि के पीछे ऐसे चले जाते थे, मानों तीन सिर के सर्प चले जाते हों अथवा मानो ब्रह्माजी के पीछे अश्विनीकुमार चले जाते हों ॥७॥

तदा कुशिकपुत्रं तु धनुष्पाणी स्वलंकृतौ ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ खड्गवन्तौ महाद्युती ॥८॥
कुमारौ चारुवपुषौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
अनुयातौ श्रिया जुष्टौ शोभतेतामनिन्दितौ ॥९॥
स्थाणुं देवमिवाचिन्त्यं कुमाराविव पावकी ।
अध्यर्धयोजनं गत्वा सरय्वा दक्षिणे तटे ॥१०॥

उस समय धनुष धारण किए हुए, अच्छे अच्छे गहने पहिने हुए, गोह के चमड़े के बने हुए दस्ताने हाथों में पहने हुए, तलवार लिये हुए, महाद्युतिमान् दोनो सुन्दर भाई श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मण से मुनि उसी प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार शिवजी स्कन्ध और विशाख से शोभित होते हैं। जब अयोध्या से छः कोश दूर सरयू के दक्षिणतट पर पहुँचे ॥८॥९॥१०॥

रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ।
गृहाण वत्स सलिलं मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥११॥

तब वहाँ विश्वामित्रजी, श्रीरामचन्द्र से, मधुर वाणी मे बोले कि, हे वत्स! जल से शरीर शुद्ध कर डालो, अथवा आचमन करो। अब विलम्ब मत करो ॥११॥

मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा ।
न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः ॥१२॥

शरीर शुद्ध हो जाने पर हम तुम्हे बला और अतिबला विद्याएँ पढ़ावेंगे। इनके प्रभाव से न तो तुम्हें थकावट व्यापेगी, न कभी शरीर ज्वराक्रान्त होगा और न तुम्हारे रूप की हानि होगी यानी सूरत न बिगड़ेगी ॥१२॥

न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः ।
न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन ॥१३॥

सोते हुए भी अशुद्ध दशा में राक्षस लोग तुम्हारा कुछ भी न कर सकेंगे। संसार भर में कोई भी तुम्हारे बाहुबल की समानता न कर पावेगा ॥१३॥

त्रिषु लोकेषु वै राम न भवेत्सदृशस्तव ।
न सौभाग्ये न दाक्षिण्ये न ज्ञाने बुद्धिनिश्चये ॥१४॥

सौभाग्य, दाक्षिण्य, ज्ञान और चतुराई मे तुम्हें तीनों लोकों मे कोई भी न पावेगा ॥१४॥

नोत्तरे प्रतिवक्तव्ये समो लोके तवानघ ।
एतद्विद्याद्वये लब्धे भविता नास्ति ते समः ॥१५॥

हे राम! इन विद्याओं के सीख लेने पर तुम्हारे बराबर किसी बात का उत्तर देने में भी, तुम्हारी समानता कोई न कर सकेगा ॥१५॥

बला चातिबला चैव सर्वज्ञानस्य मातरौ ।
क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम ॥१६॥

पुरुषोत्तम राम! सब विद्याओं की माताएँ इन बला-अतिबला नाम्नी विद्याओं के प्रभाव से तुमको भूख और प्यास भी कभी न सतावेगी ॥१६॥

बलामतिबलां चैव पठतस्तव राघव ।
विद्याद्वयमधीयाने यशश्चाप्यतुलं त्वयि ॥१७॥

हे राघव ! इन दोनों विद्याओं—बला और अतिबला—के पढ़ लेने से तुम्हारा अतुल यश सर्वत्र फैल जायगा ॥१७॥

पितामहसुते ह्येते विद्ये तेजःसमन्विते ।
प्रदातुं तव काकुत्स्थ सदृशस्त्वं हि धार्मिक ॥१८॥

ये दोनों तेजस्विनी विद्याएँ पितामह ब्रह्मा की पुत्री हैं। हे काकुत्स्थ ! हम तुम्हें ये विद्याएँ पढ़ावेंगे, क्योंकि तुम्हीं इनके लिए योग्य पात्र भी हो ॥१८॥

कामं बहुगुणाः सर्वे त्वय्येते नात्र संशयः ।
तपसा सम्भृते चैते बहुरूपे भविष्यतः ॥१९॥

यद्यपि जो बातें इन विद्याओं के पढ़ने से उत्पन्न होती हैं, उनमें से अनेक निस्सन्देह अब भी तुममें मौजूद हैं, तो भी तुम्हारे द्वारा, तपस्या द्वारा प्राप्त इन विद्याओं के ग्रहण किए जाने पर, इनकी उन्नति होगी अर्थात् आपके उपदेश से इनका प्रचार होगा ॥१९॥

ततो रामो जलं स्पृष्ट्वा प्रहृष्टवदनः शुचिः ।
प्रतिजग्राह ते विद्ये महर्षेर्भावितात्मनः ॥२०॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी जल से आचमन कर पवित्र हुए और प्रसन्न चित्त होकर उन्होंने विश्वामित्र से उन विद्याओं को सीखा ॥२०॥

विद्यासमुदितो रामः शुशुभे भूरिविक्रमः ।
सहस्ररश्मिर्भगवाञ्शरदीव दिवाकरः ॥२१॥

तत्राश्रमपदं पुण्यमृषीणामुग्रतेजसाम् ।
बहुवर्षसहस्राणि तप्यतां परमं तपः ॥६॥

वहाँ पर उन्होंने उन अनेक उग्रतपा ऋषियो के परमपवित्र आश्रम देखे, जो वहाँ सहस्रो वर्षों से कठोर तप कर रहे थे ॥६॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतौ राघवौ पुण्यमाश्रमम् ।
ऊचतुस्तं महात्मानं विश्वामित्रमिदं वचः ॥७॥

उस परम पवित्र आश्रम को देख श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मण जी परम प्रसन्न हुए और महात्मा विश्वामित्र से बोले ॥७॥

कस्यायमाश्रमः पुण्यः को न्वस्मिन् वसते पुमान् ।
भगवञ्श्रोतुमिच्छावः परं कौतूहलं हि नौ ॥८॥

हे भगवन्! यह परम पवित्र आश्रम किसका है और यहाँ अब कौन पुरुष रहता है? हम दोनों को इसका वृत्तान्त सुनने की बड़ी श्रद्धा है ॥८॥

तयोस्तद्वचनं श्रुत्वा प्रहस्य मुनिपुङ्गवः ।
अब्रवीच्छ्रूयतां राम यस्यायं पूर्व आश्रमः ॥९॥

राजकुमारों की यह बात सुन विश्वामित्र (प्रश्न के माधुर्य से प्रसन्न हुए और) हँस पड़े और कहने लगे हे राम! सुनिए। मैं बतलाता हूँ कि, यह पहिले किसका आश्रम था ॥९॥

कन्दर्पो मूर्तिमानासीत् काम इत्युच्यते बुधैः ।
तपस्यन्तमिह स्थाणुं[1] नियमेन समाहितम् ॥१०॥

कन्दर्प, जिसको पण्डित लोग कामदेव कहते हैं, पहिले शरीरधारी था। इस स्थान पर नियम से (निरन्तर) ध्यानावस्थित हो शिव जी तप करते थे ॥१०॥

---

१ स्थाणु—रुद्र। (गो०)

कृतोद्वाहं तु देवेशं गच्छन्तं समरुद्गणम् ।
धर्षयामास दुर्मेधा हुंकृतश्च महात्मना ॥११॥

जब विवाह कर महादेव जी देवताओं सहित चले आते थे, तब कामदेव ने उनके मन मे विकार उत्पन्न करना चाहा—उस समय शिव जी ने हुङ्कारी की ॥११॥

दग्धस्य तस्य रौद्रेण चक्षुषा रघुनन्दन ।
व्यशीर्यन्त शरीरात् स्वात् सर्वगात्राणि दुर्मतेः ॥१२॥

फिर क्रुद्ध हो शिव जी ने अपना तीसरा नेत्र खोल कर, उसको देखा। देखते ही दुष्ट के शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग अलग अलग होकर बिखर गए ॥१२॥

तस्य गात्रं हतं तत्र निर्दग्धस्य महात्मना ।
अशरीरः कृतः कामः क्रोधाद्देवेश्वरेण ह ॥१३॥

जब से उसका समस्त शरीर महादेव के कोप से भस्म हुआ है, तब से वह बिना शरीर का हो गया है ॥१३॥

अनङ्ग इति विख्यातस्तदाप्रभृति राघव ।
स चाङ्गविषयः श्रीमान्यत्राङ्गं स मुमोच ह ॥१४॥

हे राम! तभी से उसका नाम अनङ्ग (बिना अंगों वाला) पड़ा है। कामदेव के भागने पर उसके अंग जिस देश मे गिरे थे वह देश, अंग देश के नाम से प्रख्यात हो गया है ॥१४॥

तस्यायमाश्रमः पुण्यस्तस्येमे मुनयः पुरा ।
शिष्या धर्मपरा नित्यं तेषां पापं न विद्यते ॥१५॥

[टिप्पणी—सरयू और गङ्गा के बीच का देश अङ्गदेश अर्थात् भागलपुर जिला ।]

यह आश्रम महादेव जी का है और इस आश्रम के वासी समस्त मुनि, परम्परा से शिव जी के भक्त हैं। अत. उस परम्परा को प्रचलित रखने के कारण ये बडे धर्मात्मा और निष्पाप हैं ॥१५॥

इहाद्य रजनीं राम वसेम शुभदर्शन ।
पुण्ययोः सरितोर्मध्ये श्वस्तरिष्यामहे वयम् ॥१६॥

हे शुभदर्शन श्रीराम ! आज की रात हम यहीं ठहरेंगे और कल इन पुण्यतोया नदियों को पार कर, हम लोग आगे चलेंगे ॥१६॥

अभिगच्छामहे सर्वे शुचयः पुण्यमाश्रमम् ।
स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम ॥१७॥

हे राम ! प्रथम स्नान कर, पवित्र हो कर तथा जप, होम कर के, हम सब इस पवित्र आश्रम में प्रवेश करेंगे ॥१७॥

तेषां संवदतां तत्र तपोदीर्घेण चक्षुषा ।
विज्ञाय परमप्रीता मुनयो हर्षमागमन् ॥१८॥

ये लोग तो यहाँ यह बातचीत कर रहे थे और उधर तप के प्रभाव से उस आश्रम के वासी दूरदर्शी तपस्वी मुनि, इन लोगों का आगमन जान, बहुत प्रसन्न हुए ॥१८॥

अर्घ्यं पाद्यं तथाऽऽतिथ्यं निवेद्य कुशिकात्मजे ।
रामलक्ष्मणयोः पश्चादकुर्वन्नातिथिक्रियाम् ॥१९॥

उन ऋषियों ने विश्वामित्र जी को अर्घ्य, पाद्य अर्पण किया और आतिथ्य किया और पीछे श्रीरामचन्द्र और श्रीलक्ष्मण जी का अतिथि-सत्कार किया ॥१९॥

सत्कारं समनुप्राप्य कथाभिरभिरञ्जयन् ।
यथार्हमजपसन्ध्यामृषयस्ते समाहिताः ॥२०॥

इस प्रकार उन आश्रमवासी मुनियों से सत्कार प्राप्त कर और नाना कथावार्ता सुन कर, उन सब ने सन्ध्योपासन तथा गायत्री-जप आदि आवश्यक कर्म किए। तदुपरान्त आश्रमवासी सब ऋषिगण विश्वामित्र जी के पास एकत्र हुए ॥२०॥

तत्र वासिभिरानीता मुनिभिः सुव्रतैः सह ।
न्यवसन्सुसुखं तत्र कामाश्रमपदे तदा ॥२१॥
कथाभिरभिरामाभिरभिरामौ नृपात्मजौ ।
रमयामास धर्मात्मा कौशिको मुनिपुङ्गवः ॥२२॥

इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

और अच्छे व्रत धारण करने वाले मुनि, इन्हें अपने आश्रम मे लिवा ले गए। उस कामाश्रम में श्रीराम और लक्ष्मण सहित विश्वामित्र जी ने सुखपूर्वक वास किया और राजकुमारों को तरह-तरह की मनोरंजक कथा-कहानियाँ सुना, उनका मनोरंजन किया ॥२१॥२२॥

बालकाण्ड का तेइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

चतुर्विंशः सर्गः

—:०:—

ततः प्रभाते विमले कृताऽऽह्निकमरिन्दमौ ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य नद्यास्तीरमुपागतौ ॥१॥

प्रात:काल होते ही प्रात कृत्य कर, दोनों राजकुमार विश्वामित्र जी को आगे कर नदी के तट पर पहुँचे ॥१॥

ते च सर्वे महात्मानो मुनयः संशितव्रताः
उपस्थाप्य शुभां नावं विश्वामित्रमथाब्रुवन् ॥२॥

उस आश्रम मे रहने वाले व्रतधारी ऋषिगण भी उनके साथ (विश्वामित्र तथा राजकुमारों के साथ) नदी-तट तक गए और एक सुन्दर नाव का प्रबन्ध कर, विश्वामित्र जी से बोले ॥२॥

आरोहतु भवान्नावं राजपुत्रपुरस्कृतः ।
अरिष्ठं गच्छ पन्थानं मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥३॥

अब आप विलम्ब न कर, राजपुत्रों को लेकर नाव पर सवार हों जिससे रास्ते में (सूर्यातापादि से) किसी प्रकार का कष्ट न हो ॥३॥

विश्वामित्रस्तथेत्युक्त्वा तानृषीनभिपूज्य च ।
ततार सहितस्ताभ्यां सरितं सागरङ्गमाम् ॥४॥

यह सुन, विश्वामित्र जी ने उन ऋषियों की पूजा की और सागरगामिनी उस नदी के उस पार पहुँचे ॥४॥

ततः शुश्राव तं शब्दमतिसंरम्भवर्धनम् ।
मध्यमागम्य तोयस्य सह रामः कनीयसा ॥५॥

जब नाव बीच धार मे पहुँची, तब वहाँ जल की तरङ्गो के परस्पर टकराने का शब्द श्रीराम जी और उनके छोटे भाई लक्ष्मण जी ने सुना ॥५॥

अथ रामः सरिन्मध्ये पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम् ।
वारिणो भिद्यमानस्य किमयं तुमुलो ध्वनिः ॥६॥

तब, नाव पर सवार श्रीरामचन्द्र जी ने विश्वामित्र जी से पूछा—"महाराज! यह जो तुमुल शब्द हो रहा है, सो क्या जल के टकराने का है? (अथवा इस शब्द का कुछ और कारण है?) ॥६॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितः ।
कथयामास धर्मात्मा तस्य शब्दस्य निश्चयम् ॥७॥

कौतूहलपूर्ण श्रीरामचन्द्र जी का यह प्रश्न सुन, विश्वामित्र जी ने उस शब्द होने का कारण इस प्रकार बतलाया ॥७॥

कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं सरः ।
ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः ॥८॥

हे राम! कैलास पर्वत पर ब्रह्मा जी ने अपने मन से एक सरोवर बनाया। हे नरशार्दूल! मन से बनाने के कारण उसका नाम "मानसरोवर" पड़ा ॥८॥

तस्मात्सुस्राव सरसः साऽयोध्यामुपगूहते ।
सरःप्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता ॥९॥

ब्रह्मा जी के उसी मानसरोवर से निकली हुई पवित्र सरयू नदी जो अयोध्या होती हुई बहती है ॥९॥

तस्यायमतुलः शब्दो जाह्नवीमभिवर्तते ।
वारिसंक्षोभजो राम प्रणामं नियतः[१] कुरु ॥१०॥

---

१ नियतः = नियतमनस्कः (गो०)।

यहाँ गंगा जी से मिलती है। इन दोनो सरिताओं के जलों के परस्पर टकराने से यह शब्द होता है। तुम, इनको मन से (दिखाने के लिए नहीं) प्रणाम करो ॥१०॥

ताभ्यां तु तावुभौ कृत्वा प्रणाममतिधार्मिकौ ।
*तीरं दक्षिणमासाद्य जग्मतुर्लघुविक्रमौ ॥११॥

दोनो राजकुमारो ने उन नदियों को प्रणाम किया। इतने में उनकी नाव भी दक्षिण तट पर ताटका वन में सहज में जा लगी। वहाँ नाव से उतर कर वे दोनों आगे चले ॥११॥

स वनं घोरसंकाशं दृष्ट्वा नृपवरात्मजः ।
अविप्रहतमैक्ष्वाकः पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम् ॥१२॥

दोनो राजकुमारों ने चलते हुए एक बड़ा भयानक निर्जन वन देखा। उस निर्जन वन को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने विश्वामित्र जी से पूछा ॥१२॥

अहो वनमिदं दुर्गं झिल्लिकागणनादितम् ।
भैरवैः श्वापदैः कीर्णं शकुन्तैर्दारुणारुतैः ॥१३॥

ओहो! ऋषिवर, यह वन तो बड़ा ही भयानक देख पड़ता है। इसमें झींगुर झंकार कर रहे हैं और बड़े-बड़े भयंकर जीवों के नाद से यह परिपूर्ण है। बाज पक्षी भी बड़ी दारुण बोली बोल रहे हैं ॥१३॥

नानाप्रकारैः शकुनै[1]र्वाश्यद्भिर्भैरवैः स्वनैः ।
सिंहव्याघ्रवराहैश्च वारणैश्चोपशोभितम् ॥१४॥

---

* गङ्गादक्षिणतीरे ताटकावनमिति ज्ञेयम्। (गो०)

१ शकुन्तै = भासैः। (गो०)

बाज पक्षी अनेक प्रकार की भयावह बोलियाँ बोल रहे हैं। इस वन में देखिये सिंह, व्याघ्र, वराह और हाथी भी बहुत देख पड़ते हैं ॥१४॥

धवाश्वकर्णककुभैर्बिल्वतिन्दुकपाटलैः ।
सङ्कीर्णं बदरीभिश्च किं न्वेतद्दारुणं वनम् ॥१५॥

धव, असगंध, अर्जुन, बेल, तेंदुआ, पाडरी और बेरियों के वृक्षों से यह वन कैसा सघन और भयङ्कर हो गया है ॥१५॥

तमुवाच महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।
श्रूयतां वत्स काकुत्स्थ यस्यैतद्दारुणं वनम् ॥१६॥

यह सुन, महातेजस्वी विश्वामित्र ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे बेटा श्रीरामचन्द्र ! सुनो, मैं बतलाता हूँ कि, यह विकट वन किसका है ॥१६॥

एतौ जनपदौ स्फीतौ पूर्वमास्तां नरोत्तम ।
मलदाश्च करूशाश्च देवनिर्माणनिर्मितौ ॥१७॥

पहले यहाँ पर देवलोक के समान और धनधान्य से भरे-पुरे मलद और करूष नाम के दो देश बसे हुए थे ॥१७॥

पुरा वृत्रवधे राम मलेन समभिप्लुतम् ।
क्षुधा चैव सहस्राक्षं ब्रह्महत्या समाविशत् ॥१८॥

हे राम ! वृत्रासुर को मार कर जब इन्द्र अपवित्र अवस्था में भूखे-प्यासे थे, तब उनके शरीर में ब्रह्महत्या ने प्रवेश किया ॥१८॥

तमिन्द्रं स्नापयन्देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
कलशैः स्नापयामासुर्मलं चास्य प्रमोचयन् ॥१९॥

तब इन्द्र को उनकी अपवित्रता दूर करने के लिए देवताओं और तपस्वी ऋषियों ने प्रथम गंगाजल से, फिर घड़ों मे भरे मंत्रपूत जल से स्नान करवाए ॥१६॥

इह भूम्यां मलं दत्त्वा दत्त्वा कारुशमेव च ।
शरीरजं महेन्द्रस्य ततो हर्षं प्रपेदिरे ॥२०॥

इससे इन्द्र की क्षुधा और उनका श्रम यानी अपवित्रता और ब्रह्महत्या यहाँ छूटी, तब इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥२०॥

निर्मलो निष्करुशश्च शुचिरिन्द्रो यदाऽभवत् ।
ददौ देशस्य सुप्रीतो वरं प्रभुरनुत्तमम् ॥२१॥

जब इन्द्र निर्मल, निष्पाप और पवित्र हो गए तब उन्होने प्रसन्न हो इस देश को यह उत्तम वरदान दिया ॥२१॥

इमौ जनपदौ स्फीतौ ख्यातिं लोके गमिष्यतः ।
मलदाश्च करूशाश्च ममाङ्गमलधारिणौ ॥२२॥

मेरे शरीर के मल को धारण करने वाले मलद और करूष नामों से विख्यात और धनधान्य से भरे-पुरे दो देश तीनों लोकों में प्रसिद्ध होंगे ॥२२॥

साधु साध्विति तं देवा पाकशासनमब्रुवन् ।
देशस्य पूजां तां दृष्ट्वा कृतां शक्रेण धीमता ॥२३॥

इन्द्र का यह वरदान सुन और उन देशो की इन्द्र द्वारा प्रतिष्ठा देख सब देवता "साधु" "साधु"—बहुत अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ—कह कर इन्द्र की प्रशसा करने लगे ॥२३॥

एतौ जनपदौ स्फीतौ दीर्घकालमरिन्दम ।
मलदाश्च करूशाश्च मुदितौ धनधान्यतः ॥२४॥

हे अरिन्दम ! ये दोनों मलद और करूप देश, बहुत दिनों तक धन-धान्य से भरे-पुरे बने रहे ॥२४॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य यक्षी वै कामरूपिणी ।
बलं नागसहस्रस्य धारयन्ती तदा ह्यभूत् ॥२५॥

कुछ दिनों बाद यहाँ एक स्वेच्छाचारिणी यक्षिणी पैदा हुई। उसके शरीर में हजार हाथियों का बल है ॥२५॥

ताटका नाम भद्रं ते भार्या सुन्दस्य धीमतः ।
मारीचो राक्षसः पुत्रो यस्याः शक्रपराक्रमः ॥२६॥

उसका नाम ताटका है वह सुन्द की स्त्री है। उसके मारीच नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो इन्द्र के समान पराक्रमी है ॥२६॥

वृत्तबाहुर्महावीर्यो विपुलास्यतनुर्महान् ।
राक्षसो भैरवाकारो नित्यं त्रासयते प्रजाः ॥२७॥

वह बड़ी-बड़ी बाहों, बड़े सिर और बड़े मुँह वाला तथा अति भयानक शरीर वाला राक्षस यानी मारीच, नित्य ही प्रजा को सताया करता है ॥२७॥

इमौ जनपदौ नित्यं विनाशयति राघव ।
मलदांश्च करूशांश्च ताटका दुष्टचारिणी ॥२८॥

हे राघव ! वह दुष्टा ताटका या ताड़का इन दोनों भरे-पुरे मलद और करूष देशों को नित्य ही उजाड़ा करती है ॥२८॥

सेयं पन्थानमावृत्य वसत्यध्यर्धयोजने ।
अतएव च गन्तव्यं ताटकाया वनं यतः ॥२९॥

वह यक्षिणी इस मार्ग को रोके हुए यहाँ से आधे योजन अर्थात् दो कोस पर रहती है। अत अब ताड़का के वन में चलना चाहिए और ॥२६॥

स्वबाहुबलमाश्रित्य जहीमां दुष्टचारिणीम् ।
मन्नियोगादिमं देशं कुरु निष्कण्टकं पुनः ॥३०॥

मेरे कहने से तुम अपने बाहुबल से उस दुष्टा यक्षिणी का वध कर, इस स्थान को पुनः निष्कण्टक बना दो ॥३०॥

न हि कश्चिदिमं देशं शक्नोत्यागन्तुमीदृशम् ।
यक्षिण्या घोरया राम उत्सादितमसह्यया ॥३१॥

हे राम! इस दुष्टा के डर के मारे, आने की आवश्यकता होते हुए भी, कोई यहाँ नहीं आता। ऐसा कीजिए जिससे यह भयङ्कर यक्षिणी इस पवित्र देश को अब न उजाड़ पावे ॥३१॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथैतद्दारुणं वनम् ।
यक्ष्या चोत्सादितं सर्वमद्यापि न निवर्तते ॥३२॥

॥ इति चतुर्विंश सर्गः ॥

जिस प्रकार यह स्थान निर्जन वन बना है तथा जिस प्रकार अब इस स्थान की रक्षा की जा सकती है, सो मैंने तुम्हें बतला दिया। वह दुष्टा यक्षिणी अब भी अपनी दुष्टता से बाज नहीं आती ॥३२॥

बालकाण्ड का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

पञ्चविंशः सर्गः

—:०:—

अथ तस्याप्रमेयस्य मुनेर्वचनमुत्तमम् ।
श्रुत्वा पुरुषशार्दूलः प्रत्युवाच शुभां गिरम् ॥१॥

अमित प्रभावशाली ऋषिश्रेष्ठ विश्वामित्र जी के ये उत्तम वचन सुन, पुरुषशार्दूल श्रीरामचन्द्र यह शुभ वचन बोले ॥१॥

अल्पवीर्या यदा यक्षाः श्रूयन्ते मुनिपुङ्गव ।
कथं नागसहस्रस्य धारयत्यबला बलम् ॥२॥

हे मुनिपुङ्गव ! सुनते हैं, यक्ष जाति तो अल्प बल वाली होती है। तब इस अबला (अर्थात् यक्ष स्त्री) के शरीर में हजार हाथियों का बल क्योंकर आ गया ? ॥२॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
विश्वामित्रोऽब्रवीद्वाक्यं शृणु येन बलोत्तरा ॥३॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रश्न को सुन, महात्मा विश्वामित्र बोले—हे राघव ! सुनिए, मैं कहता हूँ, जिस प्रकार यह यक्षिणी इतनी बलवती हुई है ॥३॥

वरदानकृतं वीर्यं धारयत्यबला बलम् ।
पूर्वमासीन्महायक्षः सुकेतुर्नाम वीर्यवान् ॥४॥

यह अबला वरदान के प्रभाव से इतनी बलवती हो गई है। सुकेतु नाम का एक बड़ा बलवान यक्ष था ॥४॥

अनपत्यः शुभाचारः स च तेपे महत्तपः ।
पितामहस्तु सुप्रीतस्तस्य यक्षपतेस्तदा ॥५॥

हे राम! सदाचारी होने पर भी उसके कोई सन्तान न थी। अतएव उसने बड़ा तप किया। तब प्रसन्न हो, उस यक्षपति को ब्रह्मा जी ने ॥५॥

कन्यारत्नं ददौ राम ताटकां नाम नामतः ।
बलं नागसहस्रस्य ददौ चास्याः पितामहः ॥६॥

ताटका नाम की एक उत्तम कन्या प्रदान की। ब्रह्मा जी ने उसके शरीर में हजार हाथियों का बल भी दिया ॥६॥

न त्वेवं पुत्रं यक्षाय ददौ ब्रह्मा महायशाः ।
तां तु जातां विवर्धन्तीं रूपयौवनशालिनीम् ॥७॥

किन्तु, महायशस्वी ब्रह्मा जी ने उस यक्ष को ऐसा बली पुत्र नहीं दिया। जब वह लड़की बढ़ती-बढ़ती रूप और यौवनशालिनी की हुई ॥७॥

जम्भपुत्राय सुन्दाय ददौ भार्यां यशस्विनीम् ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य यक्षी पुत्रं व्यजायत ॥८॥

तब उसके पिता ने उसका विवाह जम्भ के पुत्र सुन्द के साथ कर दिया। थोड़े दिनों बाद (इस) यक्षिणी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥८॥

मारीचं नाम दुर्धर्षं यः शापाद्राक्षसोऽभवत् ।
सुन्दे तु निहते राम सागस्त्यं* मुनिपुङ्गवम् ॥९॥

---

* पाठान्तरे-अगस्त्यमृषिसत्तमम् ।

उसका नाम मारीच है। वह बड़ा बलवान् है। वह यक्ष होने पर भी शापवश राक्षस हुआ है। हे राम! जब अगस्त्य जी ने सुन्द को शाप दे कर, मार डाला ॥९॥

ताटका सह पुत्रेण प्रधर्षयितुमिच्छति ।
भक्षार्थं जातसंरम्भा गर्जन्ती साऽभ्यधावत ॥१०॥

तब ताटका अपने पुत्र सहित अगस्त्य जी को खाने के लिए गरजती हुई दौड़ी ॥१०॥

आपतन्तीं तु तां दृष्ट्वा अगस्त्यो भगवानृषिः ।
राक्षसत्वं भजस्वेति मारीचं व्याजहार सः ॥११॥

उस यक्षिणी को अपनी ओर आती हुई देख, भगवान् अगस्त्य ऋषि ने उसके पुत्र मारीच को यह शाप दिया कि, "तू राक्षस हो जा" ॥११॥

अगस्त्यः परमक्रुद्धस्ताटकामपि शप्तवान् ।
पुरुषादी महायक्षी विरूपा विकृतानना ॥१२॥

फिर अगस्त्य जी ने अत्यन्त कुपित हो, ताटका को भी शाप दिया कि, तू मनुष्यभक्षिणी हो जा और तेरी शकल बुरी और भयानक हो जाय ॥१२॥

इदं रूपं विहायाथ दारुणं रूपमस्तु ते ।
सैषा शापकृतामर्षा ताटका क्रोधमूर्छिता ॥१३॥

तेरा यह रूप न रहे। तू विकराल रूप वाली हो जा। यह शाप सुन ताटका अत्यन्त कुपित हुई ॥१३॥

तुमको भी मेरी आज्ञा से इस दुष्टा यक्षिणी को मारने में किसी प्रकार का आगा-पीछा न करना चाहिए ॥२१॥२२॥

—:०:—

षड्विंशः सर्गः

—:०:—

मुनेर्वचनमक्लीबं श्रुत्वा नरवरात्मजः ।
राघवः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रत्युवाच दृढव्रतः ॥१॥

दृढ़व्रत दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने ऋषिवर विश्वामित्र जी के अक्लीब अर्थात् उत्साहवर्द्धक वचन सुन हाथ जोड़ कर यह उत्तर दिया ॥१॥

पितुर्वचननिर्देशात्पितुर्वचनगौरवात् ।
वचनं कौशिकस्येति कर्तव्यमविशङ्कया ॥२॥

अपने पिता की आज्ञा से और उनकी बात रखने के लिए आपके कथनानुसार निःशङ्क हो कर, कार्य करना, मेरा कर्त्तव्य है ॥२॥

अनुशिष्टोऽस्म्ययोध्यायां गुरुमध्ये महात्मना ।
पित्रा दशरथेनाहं नावज्ञेयं हि तद्वचः ॥३॥

क्योंकि महाराज ने गुरु वसिष्ठ जी के सामने, अयोध्या से प्रस्थान करते समय, मुझे यह आज्ञा दी है। अतः मैं उस आज्ञा की अवज्ञा नहीं कर सकता ॥३॥

सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद् ब्रह्मवादिनः ।
करिष्यामि न सन्देहस्ताटकावधमुत्तमम् ॥४॥

अतः पिता के आज्ञानुसार और आपके कहने से ताटका का वध निस्सन्देह ही करूँगा ॥४॥

गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्यास्य सुखाय च ।
तव चैवाप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः ॥५॥

मैं आपके कथनानुसार ताटका को मार कर गो ब्राह्मण का हित साधन करने तथा इस देश के वासियों को सुखी करने को तैयार हूँ ॥५।

एवमुक्त्वा धनुर्मध्ये बद्ध्वा मुष्टिमरिन्दमः ।
ज्याघोषमकरोत्तीव्रं दिशः शब्देन नादयन् ॥६॥

यह कह और धनुष हाथ में ले, श्रीरामचन्द्र जी ने दशों दिशाओं को प्रतिध्वनित करने वाली, प्रत्यञ्चा (धनुष की डोरी) को टंकार कर, घोर शब्द किया ॥६॥

तेन शब्देन वित्रस्तास्ताटकावनवासिनः ।
ताटका च सुसंक्रुद्धा तेन शब्देन मोहिता ॥७॥

उस शब्द को सुन ताटका के वन में रहने वाले जीवधारी बहुत डरे । ताटका उस शब्द को सुन बहुत कुपित हुई किन्तु उस समय अपना कर्त्तव्य निश्चित न कर सकी ॥७॥

तं शब्दमभिनिध्याय राक्षसी क्रोधमूर्छिता ।
श्रुत्वा चाभ्यद्रवद्वेगाद्यतः शब्दो विनिःसृतः ॥८॥

वह अत्यन्त कुपित राक्षसी उसी ओर बड़े वेग से झपटी जिस ओर शब्द हुआ था ॥८॥

तां दृष्ट्वा राघवः क्रुद्धां विकृतां विकृताननाम् ।
प्रमाणेनातिवृद्धां च लक्ष्मणं सोऽभ्यभाषत ॥९॥

उस बड़ी लंबी-चौड़ी, घोर विकराल रूप वाली, जलमुही, कुपित राक्षसी को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥९॥

पश्य लक्ष्मण यक्षिण्या भैरवं दारुणं वपुः ।
भिद्येरन्दर्शनादस्या भीरूणां हृदयानि च ॥१०॥

देखो लक्ष्मण ! इस यक्षिणी का शरीर कैसा भयङ्कर और विकट है। इसे देखते ही डरपोकों के हृदय तो काँप उठते होंगे ॥१०॥

एनां पश्य दुराधर्षां मायाबलसमन्विताम् ।
विनिवृत्तां करोम्यद्य हृतकर्णाग्रनासिकाम् ॥११॥

देखो, इस विकट मायाविनी और दुर्जेया के कान और नाक काट कर, मैं अभी इसे भगाए देता हूँ ॥११॥

न ह्येनामुत्सहे हन्तुं स्त्रीस्वभावेन रक्षिताम् ।
वीर्यं चास्या गतिं चापि हनिष्यामीति मे मतिः ॥१२॥

क्योंकि स्त्री की जान लेना ठीक नहीं, स्त्री की 'तो रक्षा करनी चाहिए। किन्तु मैं इसके हाथ-पैर तोड़ कर, इसे अब आगे दुष्ट कर्म करने योग्य न रहने दूँगा ॥१२॥

एवं ब्रुवाणे रामे तु ताटका क्रोधमूर्छिता ।
उद्यम्य बाहू गर्जन्ती राममेवाभ्यधावत ॥१३॥

श्रीराम जी ऐसा कह ही रहे थे कि, अत्यन्त कुपित ताटका हाथ उठाए और गरजती हुई श्रीरामचन्द्र जी की ओर झपटी ॥१३॥

विश्वामित्रस्तु ब्रह्मर्षिर्हुङ्कारेणाभिभर्त्स्य ताम् ।
स्वस्ति राघवयोरस्तु जयं चैवाभ्यभाषत ॥१४॥

यह देख ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने "हुं" कह कर, उसे डपटा और श्रीरामचन्द्र-लक्ष्मण को आशीर्वाद दे कर कहा कि, तुम्हारी जय हो ॥१४॥

उद्धुन्वाना रजो घोरं ताटका राघवावुभौ ।
रजोमोहेन महता मुहूर्तं सा व्यमोहयत् ॥१५॥

इतने पर भी ताटका ने इतनी धूल उड़ाई कि, कुछ देर तक राम और लक्ष्मण को कुछ भी न देख पड़ा ॥१५॥

ततो मायां समास्थाय शिलावर्षेण राघवौ ।
अवाकिरत्सुमहता ततश्चुक्रोध राघवः ॥१६॥

ताटका ने ऐसी माया रची कि, वह छिपे-छिपे श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण पर पत्थरों की वर्षा करती रही। यह देख श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥१६॥

शिलावर्षं महत्तस्याः शरवर्षेण राघवः ।
प्रतिहत्योपधावन्त्याः करौ चिच्छेद पत्रिभिः ॥१७॥

और श्रीरामचन्द्र जी ने इस महती शिलावृष्टि को बाणों द्वारा बन्द कर दिया और बाणों ही से उसके दोनों हाथों को भी काट डाला ॥१७॥

ततश्छिन्नभुजां श्रान्तामभ्याशे परिगर्जतीम् ।
सौमित्रिरकरोत्क्रोधाद्धृतकर्णाग्रनासिकाम् ॥१८॥

भुजाओं के कट जाने से श्रान्त, किन्तु तिस पर भी उसे गरजते हुए अपने समीप आते देख और क्रुद्ध हो, लक्ष्मण जी ने उसके नाक-कान काट डाले ॥१८॥

कामरूपधरा सद्यः कृत्वा रूपाण्यनेकशः ।
अन्तर्धानं गता यक्षी मोहयन्ती च मायया ॥१९॥

वह कामरूपिणी तुरन्त अनेक प्रकार के रूप धारण करने लगी और राजकुमारों को धोखा देने के लिए कभी कभी छिप भी जाने लगी ॥१९॥

अश्मवर्षं विमुञ्चन्ती भैरवं विचचार ह ।
ततस्तावश्मवर्षेण कीर्यमाणौ समन्ततः ॥२०॥

और छिपे-छिपे वह विकट यक्षिणी घूम घूम कर पत्थर बरसाने लगी । चारों ओर राजकुमारों पर पत्थर वरसते ॥२०॥

दृष्ट्वा गाधिसुतः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ।
अलं ते घृणया राम पापैषा दुष्टचारिणी ॥२१॥

देख, श्रीमान् विश्वामित्र जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा।—हे राम ! वस, बहुत हुआ । अब इस पापिनी दुष्टा पर अधिक दया दिखलाने की आवश्यकता नहीं है ॥२१॥

यज्ञविघ्नकरी यक्षी पुरा वर्धेत मायया ।
वध्यतां तावदेवैषा पुरा सन्ध्या प्रवर्तते ॥२२॥

यदि इसको छोड़ दोगे, तो यह यज्ञ में विघ्न डालने वाली माया द्वारा फिर प्रबल पड़ जायगी। सन्ध्या होने के पहिले ही तुम इसे झटपट मार डालो ॥२२॥

रक्षांसि सन्ध्याकालेषु दुर्धर्षाणि भवन्ति हि ।
इत्युक्तस्तु तदा यक्षीमश्मवृष्ट्याभिवर्षतीम् ॥२३॥
दर्शयञ्शब्दवेधित्वं तां रुरोध स सायकैः ।
सा रुद्धा शरजालेन मायाबलसमन्विता ॥२४॥
अभिदुद्राव काकुत्स्थं लक्ष्मणं च विनेदुषी ।
तमापतन्तीं वेगेन विक्रान्तामशनीमिव ॥२५॥

क्योंकि सन्ध्या बेला में राक्षसो का बल बढ़ जाता है। यह कह विश्वामित्र ने पत्थर बरसाने वाली यक्षी को श्रीरामचन्द्र को दिखा दिया। श्रीरामचन्द्र जी ने शब्दवेधी बाणों से उसे चारों ओर से घेर लिया। वह मायाविनी और बलवती यक्षिणी शरजाल में घिरी हुई दोनो राजकुमारों पर गरजती हुई झपटी। उसे बिजली की तरह बड़े वेग से अपनी ओर आती हुई देख ॥२३॥२४॥२५॥

शरेणोरसि विव्याध सा पपात ममार च ।
तां हतां भीमसंकाशां दृष्ट्वा सुरपतिस्तदा ॥२६॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उसकी छाती मे एक बाण ऐसा मारा कि, वह पृथ्वी पर गिर पड़ी और मर गई। उस विकराल रूप वाली यक्षिणी को मरी हुई देख, इन्द्र ॥२६॥

साधु साध्विति काकुत्स्थं सुराश्च समपूजयन् ।
उवाच परमप्रीतः सहस्राक्षः पुरन्दरः ॥२७॥

आदि देवता श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति करने लगे और इन्द्र परम प्रसन्न हुए ॥२७॥

सुराश्च सर्वे संहृष्टा विश्वामित्रमथाब्रुवन् ।
मुने कौशिक भद्रं ते सेन्द्राः सर्वे मरुद्गणाः ॥२८॥

सब देवतागण प्रसन्न होकर विश्वामित्र जी से बोले—"हे कौशिक मुनि ! आपका कल्याण हो, इन्द्र सहित हम सब देवता लोग ॥२८॥

तोषिताः कर्मणा तेन स्नेहं दर्शय राघवे ।
प्रजापतेः कृशाश्वस्य पुत्रान्सत्यपराक्रमान् ॥२९॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस कार्य से परम सन्तुष्ट हुए हैं। अब तुम श्रीरामचन्द्र जी पर विशेष स्नेह प्रदर्शित कर, कृशाश्व प्रजापति के सत्यपराक्रमी अस्त्र-शस्त्र रूपी जो पुत्र हैं, ॥२९॥

तपोबलभृतान् ब्रह्मन् राघवाय निवेदय ।
पात्रभूतश्च ते ब्रह्मंस्तवानुगमने धृतः ॥३०॥

वे सब तपस्वी एवं बलवान् श्रीरामचन्द्र जी को दे दो। क्योंकि ये इनके योग्य पात्र हैं और आपकी इच्छानुसार काम करने वाले हैं अथवा आपकी सेवा-शुश्रूषा मन लगा कर करने वाले हैं ॥३०॥

कर्तव्यं च महत्कर्म सुराणां राजसूनुना ।
एवमुक्त्वा सुराः सर्वे जग्मुर्हृष्टा यथागतम् ॥३१॥
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य ततः सन्ध्या प्रवर्तते ।
ततो मुनिवरः प्रीतस्ताटकावधतोषितः ।
मूर्ध्नि राममुपाघ्राय इदं वचनमब्रवीत् ॥३२॥

और ये राजकुमार देवताओं के बड़े-बड़े काम करेंगे। कह और विश्वामित्र जी के प्रति सम्मान प्रदर्शित कर, सब देवता जहाँ से आए थे वहाँ प्रसन्नतापूर्वक लौट कर चले गए। इतने में सन्ध्या हो गई। तब मुनिवर विश्वामित्र ताटका के वध से प्रसन्न हो और श्रीरामचन्द्र जी का माथा सूँघ कर, यह बोले ॥३१।३२॥

इहाद्य रजनीं राम वसेम शुभदर्शन।
श्वः प्रभाते गमिष्यामस्तदाश्रमपदं मम ॥३३॥

हे शुभदर्शन राम! आज की रात यहीं विश्राम कर, प्रातःकाल होते ही हम अपने आश्रम को चलेंगे ॥३३॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा हृष्टो दशरथात्मजः।
उवास रजनीं तत्र ताटकाया वने सुखम् ॥३४॥

विश्वामित्र जी के इन वचनों को सुन, श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए। रात भर सुखपूर्वक ताटका के वन ही में विश्राम किया ॥३४॥

मुक्तशापं वनं तच्च तस्मिन्नेव तदाहनि।
रमणीयं विबभ्राज तथा चैत्ररथं वनम् ॥३५॥

ताटका जिस दिन मारी गई उसी दिन से ताटका के वन का शाप छूट गया और वह चैत्ररथ वन की तरह अत्यन्त रमणीक हो गया ॥३५॥

निहत्य तां यक्षसुतां स रामः
प्रशस्यमानः सुरसिद्धसंघैः।
उवास तस्मिन्मुनिना सहैव
प्रभातवेलां प्रतिबोध्यमानः ॥३६॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने ताटका को मार कर सुरों तथा सिद्धों से बड़ी प्रशंसा प्राप्त की अर्थात् बड़ाई पाई। विश्वामित्र के साथ वहाँ रात भर विश्राम कर, वे, सबेरा होने पर, जागे ॥३६॥

बालकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

सप्तविंशः सर्गः

—:o:—

अथ तां रजनीमुष्य विश्वामित्रो महायशाः ।
प्रहस्य राघवं वाक्यमुवाच मधुराक्षरम् ॥१॥

उस रात में वहाँ निवास कर, महायशस्वी विश्वामित्र ने मुसकुरा कर मधुर वाणी से श्रीरामचन्द्र जी से कहा। १॥

परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।
प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यस्त्राणि सर्वशः ॥२॥

हे महायशस्वी राजकुमार! मैं तुमसे बहुत सन्तुष्ट हूँ। तुमको प्रसन्नतापूर्वक सब अस्त्र देता हूँ ॥२॥

देवासुरगणान् वापि सगन्धर्वोरगानपि ।
यैरमित्रान्प्रसह्याजौ वशीकृत्य जयिष्यसि ॥३॥

इन अस्त्रों से तुम सुर, असुर, गन्धर्व और नाग आदि अपने शत्रुओं को अपने वश मे कर जीत लोगे ॥३॥

तानि दिव्यानि भद्रं ते ददाम्यस्त्राणि सर्वशः ।
दण्डचक्रं महद्दिव्यं तव दास्यामि राघव ॥४॥

हे राम ! तुम्हें मैं इन सब अस्त्रों को देता हूँ। लो, यह महा दिव्य दण्डचक्र है ॥४॥

धर्मचक्रं ततो वीर कालचक्रं तथैव च ।
विष्णुचक्रं तथाऽत्युग्रमैन्द्रमस्त्रं तथैव च ॥५॥

हे वीर ! यह लो धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, बड़ा पैना ऐन्द्रास्त्र ॥५॥

वज्रमस्त्रं नरश्रेष्ठ शैवं शूलवरं तथा ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव ऐषीकमपि राघव ॥६॥

हे नरश्रेष्ठ ! यह लो वज्रास्त्र, महादेवास्त्र ! हे राघव ! यह है ब्रह्मशिर और ऐषीक ॥ ॥

ददामि ते महाबाहो ब्राह्ममस्त्रमनुत्तमम् ।
गदे द्वे चैव काकुत्स्थ मोदकी शिखरी उभे ॥७॥

हे राम ! मैं तुमको सब अस्त्रों से बढ़ कर यह ब्रह्मास्त्र देता हूँ और यह लो मोदकी और शिखरी नाम की दो गदाएँ ॥७॥

प्रदीप्ते नरशार्दूल प्रयच्छामि नृपात्मज ।
धर्मपाशमहं राम कालपाशं तथैव च ॥८॥

हे राजकुमार राम ! मैं तुमको अत्यन्त उग्र धर्मपाश और काल-पाश नामक अस्त्र देता हूँ ॥८॥

पाशं वारुणमस्त्रं च ददाम्यहमनुत्तमम् ।
अशनी द्वे प्रयच्छामि शुष्कार्द्रे रघुनन्दन ॥९॥

यह लो वरुणपाश, शुष्क और अशनी नामक दो वज्र ॥९॥

गृहाण परमोदार क्षिप्रमेव नृपात्मज ।
स्थितस्तु प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिर्मुनिवरस्तदा ॥२१॥

तथा परमोदार अस्त्रों को हे राजकुमार! शीघ्र ग्रहण करो। तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र ने पूर्व की ओर मुख कर, पवित्र हो ॥२१॥

ददौ रामाय सुप्रीतो मन्त्रग्राममनुत्तमम् ।
सर्वसंग्रहणं येषां दैवतैरपि दुर्लभम् ॥२२॥

और प्रसन्न हो, उन सम्पूर्ण अस्त्रों के मंत्र (अर्थात् चलाने और रोकने की विधि) बतलाए, जिन सब अस्त्रों का प्राप्त होना देवताओं के लिए भी दुर्लभ है ॥२२॥

तान्यस्त्राणि तदा विप्रो राघवाय न्यवेदयत् ।
जपतस्तु मुनेस्तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ॥२३॥
उपतस्थुर्महार्हाणि सर्वाण्यस्त्राणि राघवम् ।
ऊचुश्च मुदिताः सर्वे रामं प्राञ्जलयस्तदा ॥२४॥

वे सब अस्त्र विश्वामित्र जी ने श्रीरामचन्द्र जी को दे दिए। (ज्योंहीं) श्रीमान् विश्वामित्र जी उन मंत्रास्त्रों का उच्चारण करने लगे (त्योंहीं) वे मत्र अपना साक्षात् रूप धारण कर, श्रीरामचन्द्र जी के सामने हाथ जोड़ कर आ खड़े हुए और मुदित हो कहने लगे ॥२३॥२४॥

इमे स्म परमोदाराः किङ्करास्तव राघव ।
प्रतिगृह्य च काकुत्स्थ समालभ्य च पाणिना ।
मानसा मे भविष्यध्वमिति तानभ्यचोदयत् ॥२५॥

हे परमोदार राघव ! हम सब आपके दास हैं। जो काम आप हमसे लेना चाहेंगे वही हम करेंगे। तब श्रीरामचन्द्र जी ने उनको अपने हाथ से छुआ और बोले—मैं जब तुम्हारा स्मरण करूँ तब तुम आकर मेरा काम कर जाना ॥२५॥

ततः प्रीतमना रामो विश्वामित्रं महामुनिम् ।
अभिवाद्य महातेजा गमनायोपचक्रमे ॥२६॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने मुनिप्रवर एवं महातेजस्वी विश्वामित्र जी को प्रणाम किया और कहा कि, पधारिए (अर्थात् आगे चलिए) ॥२६॥

बालकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

अष्टाविंशः सर्गः

—:०:—

प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि प्रहृष्टवदनः शुचिः ।
गच्छन्नेव च काकुत्स्थो विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥१॥

उन सब अस्त्रों को पवित्रतापूर्वक ग्रहण कर (अर्थात् उन अस्त्रों को ले और उनके चलाने की विधि जान कर) मार्ग में चलते-चलते श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हो, विश्वामित्र जी से बोले ॥१॥

गृहीतास्त्रोऽस्मि भगवन्दुराधर्षः सुरासुरैः ।
अस्त्राणां त्वहमिच्छामि संहारं मुनिपुङ्गव ॥२॥

हे भगवन्! आपके अनुग्रह से मुझे वे अस्त्र, जो सुरों और असुरों को भी दुष्प्राप्य हैं, मिल गए, (और उनके चलाने की विधि भी मालूम हो गई, किन्तु अब) मुझे आप इनके संहार (अर्थात् अस्त्र चला कर उसे वापस लेने की विधि) भी बतला दीजिए ॥२॥

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे विश्वामित्रो महामतिः ।
संहारं व्याजहाराथ धृतिमान्सुव्रतः शुचिः ॥३॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह कहने पर महाबुद्धिमान्, धैर्यवान्, सुव्रत और पवित्र विश्वामित्र जी ने उन सब मंत्रास्त्रों का संहार भी बतला दिया ॥३॥

सत्यवन्तं सत्यकीर्त्तिं धृष्टं रभसमेव च ।
प्रतिहारतरं नाम पराङ्मुखमवाङ्मुखम् ॥४॥

फिर और भी मन्त्रास्त्र बतलाए (जो प्रथम बतलाने से रह गए थे) उनके नाम ये हैं—सत्यवन्त, सत्यकीर्ति, धृष्ट, रभस, प्रतिहारतर, पराङ्मुख, अवाङ्मुख ॥४॥

लक्ष्यालक्ष्यविषमौ चैव दृढनाभसुनाभकौ ।
दशाक्षशतवक्त्रौ च दशशीर्षशतोदरौ ॥५॥

लक्ष्य, अलक्ष्य, दृढनाभ, सुनाभ, दशाक्ष, शतवक्त्र, दशशीर्ष, शतोदर ॥५॥

पद्मनाभमहानाभौ दुन्दुनाभसुनाभकौ ।
ज्योतिषं कृशनं चैव नैराश्यविमलावुभौ ॥६॥

पद्मनाभ, महानाभ, दुन्दुनाभ, सुनाभ, ज्योतिष, कृशन, नैराश्य, विमल ॥६॥

यौगन्धरहरिद्रौ च दैत्यप्रमथनं तथा ।
शुचिर्बाहुर्महाबाहुर्निष्कुलिर्विरुचिस्तथा ॥७॥

यौगन्धर, हरिद्र, दैत्यप्रमथन, शुचिर्बाहु, महाबाहु, निष्कुलि और विरुचि ॥७॥

सार्चिर्माली धृतिर्माली वृत्तिमान् रुचिरस्तदा ।
पित्र्यं सौमनसं चैव विधूतमकरावुभौ ॥८॥

सार्चिमाली, धृतिमाली, वृत्तिमान, रुचिर, पित्र्य, सौमनस, विधूत, मकर ॥८॥

करवीरकरं चैव धनधान्यौ च राघव ।
कामरूपं कामरुचिं मोहमावरणं तथा ॥९॥

करवीरकर, धन, धान्य, कामरूप, कामरुचि, मोह और आवरण ॥९॥

जृम्भकं सर्वनाभं च सन्तानवरुणौ तथा ।
कृशाश्वतनयान् राम भास्वरान् कामरूपिणः ॥१०॥

जृम्भक, सर्वनाम, सन्तान और वरुण । विश्वामित्र जी कहने लगे) हे राम ! ये सब कृशाश्व के पुत्र बड़े तेजस्वी और कामरूपी हैं ॥१०॥

प्रतीच्छ मम भद्रं ते पात्रभूतोऽसि राघव ।
बाढमित्येव काकुत्स्थ प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥११॥

इनको तुम ग्रहण करो । तुम्हारा कल्याण हो । क्योंकि हे राघव! तुम इनके ग्रहण करने के योग्य हो । यह सुन श्रीरामचन्द्र जी ने प्रसन्न हो कहा "बहुत अच्छा" ॥११॥

दिव्यभास्वरदेहाश्च मूर्तिमन्तः सुखप्रदाः ।
केचिदङ्गारसदृशाः केचिद्धूमोपमास्तथा ॥१२॥

तव दिव्यरूप, देदीप्यमान, मूर्त्तिमान् और सुखप्रद (ये अस्त्र श्रीरामचन्द्र जी के सामने उपस्थित हुए ।) उनमें कोई तो दहकते हुए अंगार (शाले) के समान, कोई धुएँ के रंग वाले, ॥१२॥

चन्द्रार्कसदृशाः केचित्प्रह्वाञ्जलिपुटास्तथा ।
रामं प्राञ्जलयो भूत्वाब्रुवन्मधुरभाषिणः ॥१३॥

कोई चन्द्र और सूर्य के समान थे और कोई हाथ जोड़े हुए थे ; वे श्रीरामचन्द्र जी से बड़ी नम्रता के साथ बोले ॥१३॥

इमे स्म नरशार्दूल शाधि किं करवाम ते ।
मानसाः कार्यकालेषु साहाय्यं मे करिष्यथ ॥१४॥

हे नरशार्दूल ! हम उपस्थित हैं, क्या आज्ञा है ? (इस पर श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा) तुम मेरे मन में वास करो और काम पड़ने पर मेरी सहायता करना ॥१४॥

गम्यतामिति तानाह यथेष्टं रघुनन्दनः ।
अथ ते राममामन्त्र्य कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ॥१५॥

अब तुम जहां चाहो वहां जा सकते हो । श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन तथा उनकी आज्ञा ले एव प्रदक्षिणा कर, ॥१५॥

एवमस्त्विति काकुत्स्थमुक्त्वा जग्मुर्यथागतम् ।
स च तान्राघवो ज्ञात्वा विश्वामित्रं महामुनिम् ॥१६॥

और "बहुत अच्छा" कह कर वे जहां से आए थे वहां चले गये । इस प्रकार इन अस्त्रों को पाकर, श्रीरामचन्द्र जी ने ऋषिप्रवर विश्वामित्र जी से ॥१६॥

गच्छन्नेवाथ मधुरं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ।
किन्वेतन्मेघसंकाशं पर्वतस्याविदूरतः ॥१७॥

चलते-चलते पूछा—महाराज ! पहाड़ के समीप जो काले मेघ जैसा देख पड़ता है वह क्या है ॥१७॥

वृक्षषण्डमितो भाति परं कौतूहलं हि मे ।
दर्शनीयं मृगाकीर्णं मनोहरमतीव च ॥१८॥

वह तो वृक्षों का समूह जैसा जान पड़ता है । उसे देखने से मुझे बड़ा कुतूहल हो रहा है । वह अनेक वन-पशुओं से युक्त, देखने योग्य एवं अत्यन्त मनोहर-सा जान पड़ता है ॥१८॥

नानाप्रकारैः शकुनैर्वल्गुनादैरलङ्कृतम् ।
निःसृताः स्म मुनिश्रेष्ठ कान्ताराद्रोमहर्षणात् ॥१९॥

वहाँ तो मीठी बोली बोलने वाले पक्षी बोल रहे हैं । जान पड़ता है, अब हम लोग भयङ्कर रोमाञ्चकारी वन के पार हो गये ॥१९॥

अनया त्ववगच्छामि देशस्य सुखवत्तया ।
सर्वं मे शंस भगवन्कस्याश्रमपदं त्विदम् ॥२०॥

वहाँ चल कर सुखी होने की मेरी इच्छा है । भगवन् ! कृपया बतलाइए कि, यह किसका आश्रम है ॥२०॥

संप्राप्ता यत्र ते पापा ब्रह्मघ्ना दुष्टचारिणः ।
तव यज्ञस्य विघ्नाय दुरात्मानो महामुने ॥२१॥

हे महामुने ! क्या हम लोग आपके उस आश्रम में पहुँच गये, जहाँ दुराचारी ब्रह्महत्यारे राक्षस आकर यज्ञ में विघ्न किया करते हैं ? ॥२१॥

भगवंस्तस्य को देशः सा यत्र तव याज्ञिकी ।
रक्षितव्या क्रिया ब्रह्मन्मया वध्याश्च राक्षसाः ।
एतत्सर्वं मुनिश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥२२॥

इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

हे भगवन्! बतलाइए, आपका वह स्थान, जहाँ आप यज्ञ करते हैं, कहाँ है। हे ब्रह्मन्! मैं राक्षसों को मार कर आपके यज्ञ की रक्षा करूँगा। हे मुनिवर! हे प्रभो! ये सब बातें मैं जानना चाहता हूँ ॥२२॥

बालकाण्ड का अट्ठाइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—.o—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—.o:—

अथ तस्याप्रमेयस्य तद्वनं परिपृच्छतः ।
विश्वामित्रो महातेजा व्याख्यातुमुपचक्रमे ॥१॥

अचिन्त्य वैभव वाले श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार उस वन के विषय में पूछने पर, महातेजस्वी विश्वामित्र जी कहने लगे ॥१॥

इह राम महाबाहो विष्णुर्देववरः प्रभुः ।
वर्षाणि सुबहून्येव तथा युगशतानि च ॥२॥

हे राम! यह वह स्थान है, जहाँ देवताओं में श्रेष्ठ भगवान् विष्णु ने बहुत-बहुत वर्षों और सैकड़ों युगों तक ॥२॥

तपश्चरणयोगार्थमुवास सुमहातपाः ।
एष पूर्वाश्रमो राम वामनस्य महात्मनः ॥३॥

तपस्या करने के लिए वास किया था। यह आश्रम पहले महात्मा वामन जी का था ॥३॥

सिद्धाश्रम इति ख्यातः सिद्धो ह्यत्र महातपाः ।
एतस्मिन्नेव काले तु राजा वैरोचनिर्बलिः ॥४॥

[नोट—आजकल सिद्धाश्रम को बक्सर कहते हैं।]

यहाँ पर उन महातपा का तप सिद्ध हुआ था; इसीसे यह सिद्धाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। उसी समय राजा विरोचन के पुत्र बलि ने ॥४॥

निर्जित्य दैवतगणान् सेन्द्रांश्च समरुद्गणान् ।
कारयामास तद्राज्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥५॥

इन्द्र और मरुद्गण सहित सब देवताओ को जीत कर जगद्विख्यात तीनों लोकों का राज्य किया था ॥५॥

बलेस्तु यजमानस्य देवाः साग्निपुरोगमाः ।
समागम्य स्वयं चैव विष्णुमूचुरिहाश्रमे ॥६॥

बलि ने जब यज्ञ करना आरम्भ किया, तब सब देवता अग्नि को आगे कर, विष्णु के पास इसी आश्रम मे आकर बोले ॥६॥

बलिर्वैरोचनिर्विष्णो यजते यज्ञमुत्तमम् ।
असमाप्ते क्रतौ तस्मिन् स्वकार्यमभिपद्यताम् ॥७॥

विरोचनपुत्र राजा बलि एक उत्तम यज्ञ कर रहा है। उस यज्ञ की समाप्ति होने के पूर्व देवताओ के हितार्थ जो कुछ करना हो कीजिए ॥७॥

ये चैनमभिवर्तन्ते याचितार इतस्ततः ।
यच्च यत्र यथावच्च सर्वं तेभ्यः प्रयच्छति ॥८॥

उसके यज्ञ में अनेक देशों के आये हुए, याचक जो कुछ मांगते हैं, वह उन्हें वही देता है ।।८।।

स त्वं सुरहितार्थाय मायायोगमुपाश्रितः ।

वामनत्वं गतो विष्णो कुरु कल्याणमुत्तमम् ।।९।।

अत: आप देवताओं के हित के लिए अपनी माया के योग से अथवा बल से, वामनावतार धारण कर, हम लोगों का कल्याण कीजिए ।।९।।

एतस्मिन्नन्तरे राम कश्यपोऽग्निसमप्रभः ।

अदित्या सहितो राम दीप्यमान इवौजसा ।।१०।।

हे राम ! इसी बीच में अग्नि के समान प्रभा वाले कश्यप जो अपनी स्त्री अदिति सहित तप:प्रभाव से देदीप्यमान थे ।।१०।।

देवीसहायो भगवान्दिव्यं वर्षसहस्रकम् ।

व्रतं समाप्य वरदं तुष्टाव मधसूदनम् ।।११।।

देवी के सहित कश्यप जी, सहस्र वर्षों की तपस्या का व्रत समाप्त कर, वरदानी भगवान् मधुसूदन की स्तुति करने लगे ।।११।।

तपोमयं तपोराशिं तपोमूर्तिं[1] तपात्मकम्[2] ।

तपसा त्वां सुतप्तेन पश्यामि पुरुषोत्तमम् ।।१२।।

हे पुरुषोत्तम ! आप तपद्वारा आराध्य हैं, तप का फल देने वाले हैं, ज्ञान-स्वरूप हैं और तपस्वभाव हैं। इसलिए मैं अपने तप: प्रभाव से आपको देखता हूँ ।।१२।।

शरीरे तव पश्यामि जगत्सर्वमिदं प्रभो ।

त्वमनादिरनिर्देश्यस्त्वामहं शरणं गतः ।।१३।।

---

१ तपोमूर्तिं = सत स्वरूपम् (गो०)

२ तपात्मकम् = तप. स्वभावम् (गो०)

हे प्रभो ! मैं आपके शरीर मे यह चेतन-अचेतनात्मक सारा जगत् देख रहा हूँ। आप अनादि हैं अर्थात् उत्पत्ति रहित हैं, अनिर्देश्य हैं, (अर्थात् आपकी महिमा वा वर्णन कोई कर नहीं सकता अथवा आप अकथनीय हैं) मै आपके शरण मे आया हूँ ॥१३॥

तमुवाच हरिः प्रीतः कश्यपं धूतकल्मषम् ।
वरं वरय भद्रं ते वरार्होऽसि मतो मम ॥१४॥

(इस स्तुति से प्रसन्न होकर) यह सुन, भगवान् विष्णु पाप-रहित कश्यप जी से बोले—कश्यप ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम वर माँगो, मैं तुम्हें वरदान देने योग्य समझता हूँ ॥१४॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य मारीचः कश्यपोऽब्रवीत् ।
अदित्या देवतानां च मम चैवानुयाचतः ॥१५॥

यह सुन मारीच के पुत्र कश्यप जी ने कहा—मेरी, मेरी स्त्री अदिति की तथा देवताओं की प्रार्थना है कि, ॥१५॥

वरं वरद सुप्रीतो दातुमर्हसि सुव्रत ।
पुत्रत्वं गच्छ भगवन्नादित्या मम चानघ ॥१६॥

हे वरद ! आप प्रसन्न होकर मुझे यह वर दें कि, आप मेरी निष्पापा स्त्री अदिति के गर्भ से पुत्र रूप मे जन्म लें ॥१६॥

भ्राता भव यवीयांस्त्वं शक्रस्यासुरसूदन ।
शोकार्तानां तु देवानां साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥१७॥

हे अरिसूदन ! इन्द्र के छोटे भाई बन कर, आप शोकार्त्त देवताओं की सहायता कीजिए ॥१७॥

अयं सिद्धाश्रमो नाम प्रसादात्ते भविष्यति ।
सिद्धे कर्मणि देवेश उत्तिष्ठ भगवन्नितः ॥१८॥

यह आश्रम आपकी कृपा से सिद्धाश्रम के नाम से प्रसिद्ध होगा। हे देवेश! जब काम सिद्ध हो जाय तब आप यहाँ से उठिए ॥१८॥

अथ विष्णुर्महातेजा अदित्यां समजायत ।
वामनं रूपमास्थाय वैरोचनिमुपागमत् ॥१९॥

यह सुन महातेजस्वी भगवान् विष्णु अदिति के गर्भ से वामन-रूप धारण कर, राजा वलि के पास गये ॥१९॥

त्रीन् क्रमानथ भिक्षित्वा प्रतिगृह्य च मानदः ।
आक्रम्य लोकाँल्लोकात्मा सर्वलोकहिते रतः ॥२०॥

और उनसे तीन पग भूमि की याचना की और तीन पग भूमि पा कर, सब लोगों के हितार्थ, तीन पग से तीनों लोक नाप डाले ॥२०॥

महेन्द्राय पुनः प्रादान्नियम्य बलिमोजसा ।
त्रैलोक्यं स महातेजाश्चक्रे शक्रवशं पुनः ॥२१॥

फिर इन्द्र को तीनों लोकों का राज्य दे, वलि को अपने बल-प्रभाव से बाँध लिया (और पाताल को भेजा)। इस प्रकार उन महातेजस्वी ने तीनों लोकों को पुनः इन्द्र के अधीन कर दिया ॥२१॥

तेनैष पूर्वमाक्रान्त आश्रमः श्रमनाशनः ।
मयापि भक्त्या तस्यैष वामनस्योपभुज्यते ॥२२॥

श्रमनाशक यह आश्रम उन्हीं का है। मैं भी उन्हीं वामन भगवान् की भक्ति कर, इस आश्रम का उपभोग करता हूँ ॥२२॥

एतमाश्रममायान्ति राक्षसा विघ्नकारिणः ।
अत्रैव पुरुषव्याघ्र हन्तव्या दुष्टचारिणः ।
अद्य गच्छामहे राम सिद्धाश्रममनुत्तमम् ॥२३॥

इसी आश्रम मे आकर राक्षस उपद्रव मचाया करते हैं। हे पुरुषसिंह ! यहीं उन दुराचारियो का वध करना होगा। हे राम ! आज (उसी) उत्तम सिद्धाश्रम को हम लोग चलते हैं ॥२३॥

तदाश्रमपदं तात तवाप्येतद्यथा मम ।
प्रविशन्नाश्रमपदं व्यरोचत महामुनिः ॥२४॥

हे वत्स ! वह आश्रम जैसा मेरा है वैसा ही तुम्हारा भी है। यह कह श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण को साथ लिये हुए, विश्वामित्र ने अपने सिद्धाश्रम मे प्रवेश किया ॥२४॥

शशीव गतनीहारः पुनर्वसुसमन्वितः ।
तं दृष्ट्वा मुनयः सर्वे सिद्धाश्रमनिवासिनः ॥२५॥

उस समय ऐसी शोभा जान पड़ी, मानो पुनर्वसु के साथ शरद्-कालीन चन्द्रमा शोभा दे रहा हो। विश्वामित्र जी को देख सब सिद्धाश्रमवासियों ने ॥२५॥

उत्पत्योत्पत्य सहसा विश्वामित्रमपूजयन् ।
यथार्हं चक्रिरे पूजां विश्वामित्राय धीमते ॥२६॥

उठ-उठ कर और परम प्रसन्न हो विश्वामित्र जी के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। जिस प्रकार श्रीमान् विश्वामित्र का सम्मान किया गया, ॥२६॥

तथैव राजपुत्राभ्यामकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ।
मुहूर्तमिव विश्रान्तौ राजपुत्रावरिन्दमौ ॥२७॥

उसी प्रकार राजकुमारों का भी सम्मानपूर्वक अतिथि-सत्कार किया गया। कुछ देर विश्राम कर, शत्रुहन्ता दोनों राजकुमारों ने ॥२७॥

प्राञ्जली मुनिशार्दूलमूचतू रघुनन्दनौ ।
अद्यैव दीक्षां प्रविश भद्रं ते मुनिपुङ्गव ॥२८॥

हाथ जोड़ कर विश्वामित्र जी से कहा, हे मुनिप्रवर! आप आज ही से अपना यज्ञ आरम्भ कीजिए। आपका मङ्गल होगा ॥२८॥

सिद्धाश्रमोऽयं सिद्धः स्यात्सत्यमस्तु वचस्तव ।
एवमुक्तो महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥२९॥

यह सिद्धाश्रम है। अत. आपका कार्य सिद्ध हो और आपका वचन सत्य हो। यह सुन, महातेजस्वी ऋषिप्रवर विश्वामित्र जी ने ॥२९॥

प्रविवेश ततो दीक्षां नियतो नियतेन्द्रियः ।
कुमारावपि तां रात्रिमुषित्वा सुसमाहितौ ॥३०॥

नियमपूर्वक, जितेन्द्रिय हो कर, यज्ञ करना आरम्भ किया और दोनों राजकुमार भी उस रात मे सावधानतापूर्वक वहीं रहे ॥३०॥

प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां सन्ध्यामुपास्य च ।
स्पृष्टोदकौ शुची जप्यं समाप्य नियमेन च ।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमवन्दताम् ॥३१॥

इति एकोनत्रिंशः सर्ग ॥

और प्रात काल होते ही दोनो राजकुमारों ने उठ कर सन्ध्या की। तदनन्तर नियमानुसार आचमनपूर्वक पवित्र हो, गायत्री

मंत्र का जप किया। फिर अग्निहोत्र करके, आसन पर विराजमान विश्वामित्र जी को उन्होंने प्रणाम किया ॥३१॥

बालकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

त्रिंशः सर्गः

—:o:—

अथ तौ देशकालज्ञौ राजपुत्रावरिन्दमौ।
देशे काले च वाक्यज्ञावब्रूतां कौशिकं वचः ॥१॥

देश और काल के जानने वाले और शत्रु के मारने वाले दोनों राजकुमार देश-काल का विचार कर, विश्वामित्र जी से बोले ॥१॥

भगवञ्श्रोतुमिच्छावो यस्मिन्काले निशाचरौ।
संरक्षणीयौ तौ ब्रह्मन्नातिवर्तेत तत्क्षणम् ॥२॥

हे भगवन्! हम जानना चाहते हैं कि, वे दोनों राक्षसराज विध्वंस करने किस समय आते हैं, जिससे वे हमारी अनजान में आक्रमण न कर पावें ॥२॥

एवं ब्रुवाणौ काकुत्स्थौ त्वरमाणौ युयुत्सया।
सर्वे ते मुनयः प्रीताः प्रशशंसुर्नृपात्मजौ ॥३॥

जब सिद्धाश्रमवासी मुनियों ने राजकुमारों की यह बात सुनी और उनको राक्षसों से तुरन्त लड़ने के लिए तत्पर देखा, तब वे सब राजकुमारों की प्रशंसा कर कहने लगे ॥३॥

अद्य प्रभृति षड्रात्रं रक्षतं राघवौ युवाम्।
दीक्षां गतो ह्येष मुनिर्मौनित्वं च गमिष्यति ॥४॥

हे राजकुमारो! आज से आप लोग ६ दिनों तक यज्ञ की रक्षा करें। विश्वामित्र जी यज्ञदीक्षा ले चुके हैं, अतः अब वे छः दिनों तक न बोलेंगे अर्थात् मौन रहेंगे ॥४॥

तौ च तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
अनिद्रौ षडहोरात्रं तपोवनमरक्षताम् ॥५॥

मुनियों के वचन सुनकर वे दोनो यशस्वी राजकुमार, छः दिनों और रातों को बिना शयन किये निरन्तर उस तपोवन की रक्षा करते रहे ॥५॥

उपासांचक्रतुर्वीरौ यत्तौ परमधन्विनौ ।
ररक्षतुर्मुनिवरं विश्वामित्रमरिन्दमौ ॥६॥

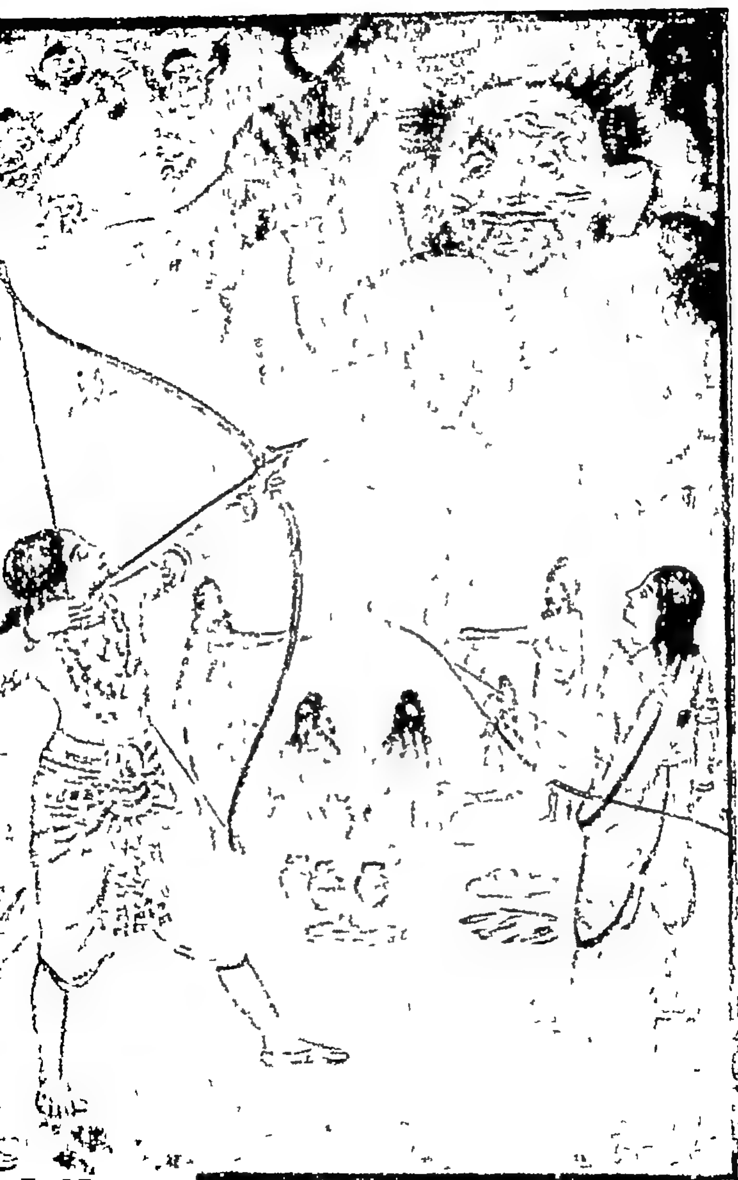
दोनों वीर राजकुमार धनुष-बाण धारण किये विश्वामित्र और उनके यज्ञ की रक्षा दृढतापूर्वक अर्थात् अत्यन्त सावधानता के साथ करते रहे ॥६॥

अथ काले गते तस्मिन्षष्ठेऽहनि समागते ।
सौमित्रिमब्रवीद्रामो यत्तो भव समाहितः ॥७॥

पाँच दिन तो निर्विघ्न बीत गए। छठवें दिन श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा—सावधान रहो अर्थात् खबरदार हो जाओ ॥७॥

रामस्यैवं ब्रुवाणस्य त्वरितस्य युयुत्सया ।
प्रजज्वाल ततो वेदिः सोपाध्यायपुरोहिता ॥८॥
सदर्भचमसस्रुका ससमित्कुसुमोच्चया ।
विश्वामित्रेण सहिता वेदिर्जज्वाल सर्त्विजा ॥९॥

जब युद्ध करने की इच्छा से श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब अकस्मात् यज्ञवेदी भक से जल उठी और उपाध्याय, पुरोहित



ऋत्विक् तथा विश्वामित्र जी के देखते-देखते कुश, चमस, स्रुवा, पुष्प आदि यज्ञीय पदार्थों के सहित वेदी भभक उठी ॥८॥९॥

मन्त्रवच्च यथान्यायं यज्ञोऽसौ सम्प्रवर्तते ।
आकाशे च महाञ्शब्दः प्रादुरासीद्भयानकः ॥१०॥

यद्यपि विश्वामित्र जी का यज्ञ विधि-विधान ही से हो रहा था (अतः कोई विघ्न नहीं होना चाहिए था) तथापि इतने में आकाश मे बड़ा भयानक शब्द हुआ ॥१०॥

आवार्य गगनं मेघो यथा प्रावृषि निर्गतः ।
तथा मायां विकुर्वाणौ राक्षसावभ्यधावताम् ॥११॥

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में मेघ आकाश को ढँक लेते हैं, उसी प्रकार राक्षसगण राक्षसी माया करते हुए (आकाश में) दौड़ने लगे ॥११॥

मारीचश्च सुबाहुश्च तयोरनुचराश्च ये ।
आगम्य भीमसङ्काशा रुधिरौघमवासृजन् ॥१२॥

मारीच, सुबाहु और उनके साथी अन्य भयङ्कर राक्षसो ने आकर वेदी पर रुधिर की वर्षा की ॥१२॥

तां तेन रुधिरौघेण वेदिं तामभ्यवर्षताम् ।
दृष्ट्वा वेदिं तथाभूतां सानुजः क्रोधसंयुतः ॥१३॥
सहसाऽभिद्रुतो रामस्तानपश्यत्ततो दिवि ।
तावापतन्तौ सहसा दृष्ट्वा राजीवलोचनः ॥१४॥

वेदी को रुधिर मे डूबी हुई देख और क्रुद्ध हो, लक्ष्मण सहित जब सहसा श्रीरामचन्द्र जी दौड़े, तब उन्हें आकाश मे मारीचादि

राक्षस देख पड़े। उनको अपनी ओर दौड़ कर आते हुए देख राजीव-लोचन श्रीरामचन्द्र जी ने ॥१३॥१४॥

लक्ष्मणं त्वथ संप्रेक्ष्य रामो वचनमब्रवीत् ।
पश्य लक्ष्मण दुर्वृत्तान्राक्षसान् पिशिताशनान्[1] ॥१५॥

लक्ष्मण को देख उनसे कहा—भाई ! जरा इन मांसाहारी तथा दुराचारी राक्षसों को तो देखो ॥१५॥

मानवास्त्रसमाधूताननिलेन यथा घनान् ।
मानवं परमोदारमस्त्रं परमभास्वरम् ॥१६॥
चिक्षेप परमक्रुद्धो मारीचोरसि राघवः ।
स तेन परमास्त्रेण मानवेन समाहतः ॥१७॥

मैं इनको मानवास्त्र से वैसे ही उड़ाये देता हूँ, जैसे पवन बादल को उड़ा देता है। (यह कह कर) परमोदार श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो, चमचमाता मानवास्त्र मारीच की छाती में मारा। मारीच उस परमास्त्र मानवास्त्र के लगने से घायल हो कर ॥१६॥१७॥

सम्पूर्णं योजनशतं क्षिप्तः सागरसम्प्लवे ।
विचेतनं विघूर्णन्तं शीतेषुबलपीडितम् ॥१८॥

वहाँ से १०० योजन की दूरी पर समुद्र में जा गिरा। उस मानवास्त्र से पीड़ित मूर्च्छित, और चक्कर खाते हुए ॥१८॥

निरस्तं दृश्य मारीचं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
पश्य लक्ष्मणशीतेषुं मानवं मनुसंहितम् ॥१९॥

१ पिशिताशनान्—मांसभक्षकान् (गो०)

मारीच को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा—लक्ष्मण! शीतेषु नामक मनुनिर्मित अस्त्र का प्रभाव तो देखो ॥१९॥

मोहयित्वा नयत्येनं न च प्राणैर्वियुज्यते ।
इमानपि वधिष्यामि निर्घृणान् दुष्टचारिणः ॥२०॥
राक्षसान् पापकर्मस्थान् यज्ञघ्नान् पिशिताशनान् ।
संगृह्यास्त्रं ततो रामो दिव्यमाग्नेयमद्भुतम् ॥२१॥

इसने मारीच को मूर्च्छित कर दूर तो कर दिया, पर उसका वध नहीं किया। अब मैं इन दुष्ट, निर्दयी, पापी, यज्ञ में विघ्न डालने वाले और रुधिर के पीने वाले राक्षसों को भी मारता हूँ। यह कह कर, श्रीरामचन्द्र जी ने आग्नेयास्त्र निकाला ॥२०॥२१॥

सुबाहूरसि चिक्षेप स विद्धः प्रापतद्भुवि ।
शेषान्वायव्यमादाय निजघान महायशाः ॥२२॥

और सुबाहु की छाती में मारा। उसके लगते ही सुबाहु पृथ्वी पर धड़ाम से गिर पड़ा और मर गया। तब अन्य बचे हुए राक्षसों को श्रीरामचन्द्र जी ने वायव्यास्त्र चला कर नष्ट किया ॥२२॥

राघवः परमोदारो मुनीनां मुदमावहन् ।
स हत्वा रक्षसान् सर्वान् यज्ञघ्नान् रघुनन्दनः ॥२३॥

इस प्रकार परमोदार श्रीरामचन्द्र जी ने मुनियों को प्रसन्न किया। उन यज्ञ-विघ्नकारी समस्त राक्षसों को मारने के पश्चात् श्रीरामचन्द्र जी की ॥२३॥

ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा ।

पूर्वकाल में देवताओं ने वह धनुष जनक को दिया था। वह धनुष बड़ा भारी और बहुत ही चमकदार है ॥८॥

नास्य देवा न गन्धर्वा नासुरा न च राक्षसाः ।
कर्तुमारोपणं शक्ता न कथञ्चन मानुषाः ॥९॥

किसी मनुष्यों की तो विसात ही क्या है, उस धनुष पर रोदा चढ़ाने के लिए पर्याप्त बल न तो गन्धर्वों में है, न असुरों में और न राक्षसों में ॥९॥

धनुषस्तस्य वीर्यं तु जिज्ञासन्तो महीक्षितः ।
न शेकुरारोपयितुं राजपुत्रा महाबलाः ॥१०॥

उस धनुष का वल आजमाने के लिए अनेक बड़े-बड़े बलवान् राजा आए, किन्तु कोई भी उस पर रोदा न चढ़ा सका ॥१०॥

तद्धनुर्नरशार्दूल मैथिलस्य महात्मनः ।
तत्र द्रक्ष्यसि काकुत्स्थ यज्ञं चाद्भुतदर्शनम् ॥११॥

हे नरशार्दूल! वहाँ चल कर महात्मा मिथिलाधीश के उस धनुष को और उनके अद्भुत यज्ञ को देखना ॥११॥

तद्धि यज्ञफलं तेन मैथिलेनोत्तमं धनुः ।
याचितं नरशार्दूल सुनाभं सर्वदैवतैः ॥१२॥

हे रामचन्द्र! एक समय महाराज जनक ने यज्ञ किया और उस यज्ञ के फलस्वरूप सुनाभ नामक उत्तम धनुष उन्होंने सब देवताओं से माँग लिया ॥१२॥

आयागभूतं नृपतेस्तस्य वेश्मनि राघव ।
अर्चितं विविधैर्गन्धैर्धूपैश्चागरुगन्धिभिः[1] ॥१३॥

---

१ पाठान्तरे—विविधैर्गन्धैर्माल्यैश्चागरुगन्धिभिः ।

वह धनुष मिथिलाधीश के घर में पूजा के स्थान पर रखा रहता है और धूप-दीपादि से नित्य उसका पूजन किया जाता है ॥१३॥

एवमुक्त्वा मुनिवरः प्रस्थानमकरोत्तदा ।
सर्षिसङ्घः सकाकुत्स्थ आमन्त्र्य वनदेवताः ॥१४॥
स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि सिद्धः सिद्धाश्रमादहम् ।
उत्तरे जाह्नवीतीरे हिमवन्तं शिलोच्चयम् ॥१५॥

यह कह कर मुनिप्रवर विश्वामित्र ने वहाँ से प्रस्थान किया। उनके साथ दोनों राजकुमार तथा ऋषिगण भी गए। चलते समय विश्वामित्र जी ने वनदेवताओं को बुला कर उनसे कहा—तुम्हारा कल्याण हो, मेरी यज्ञक्रिया सुसम्पन्न हुई। अब मैं सिद्धाश्रम से श्रीगङ्गा जी के उत्तर तट पर और हिमालय पर्वत की तराई में होकर (जनकपुर) जाऊँगा ॥१४॥१५॥

प्रदक्षिणं ततः कृत्वा सिद्धाश्रममनुत्तमम् ।
उत्तरां दिशमुद्दिश्य प्रस्थातुमुपचक्रमे ॥१६॥

तदनन्तर उस उत्तम सिद्धाश्रम की परिक्रमा कर, वे उत्तर की ओर रवाना हुए ॥१६॥

तं प्रयान्तं मुनिवरमन्वयादनुसारिणम् ।
शकटीशतमात्रं च प्रयाते ब्रह्मवादिनाम् ॥१७॥

विश्वामित्र जी के चलते ही ब्रह्मवादी ऋषि भी चले और उनके सैकड़ों छकड़े भी चले ॥१७॥

मृगपक्षिगणाश्चैव सिद्धाश्रमनिवासिनः ।
अनुजग्मुर्महात्मानं विश्वामित्रं महामुनिम् ॥१८॥

उस सिद्धाश्रम के रहने वाले हिरन और पक्षी भी महर्षि महात्मा विश्वामित्र जी के पीछे हो लिए ॥१८॥

निवर्तयामास ततः पक्षिसङ्घान्मृगानपि ।
ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ॥१९॥

परन्तु विश्वामित्र जी ने उन सब पशु-पक्षियों को लौटा दिया। जब वे लोग बहुत दूर निकल गए और सूर्य अस्ताचल-गामी होने लगे ॥१९॥

वासं चक्रुर्मुनिगणाः शोणकूले समागताः ।
तेऽस्तं गते दिनकरे स्नात्वा हुतहुताशनाः ॥२०॥

[टिप्पणी—शोण—सोन नदी का नाम है, जो गोंडवाने से निकल पटना के पास गङ्गा में गिरती है।]

तब सब लोगों ने शोण नदी के तट पर डेरा डाला। सूर्य के अस्त होने पर उन लोगों ने स्नान कर सन्ध्योपासन और अग्नि-होत्र किया ॥२०॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य निषेदुरमितौजसः ।
रामो हि सहसौमित्रिर्मुनींस्तानभिपूज्य च ॥२१॥

तदनन्तर सब मुनि, विश्वामित्र को आगे कर बैठे। श्रीराम-चन्द्र और लक्ष्मण ने सब मुनियों का पूजन किया और ॥२१॥

अग्रतो निषसादाथ विश्वामित्रस्य धीमतः ।
अथ रामो महातेजा विश्वामित्रं महामुनिम् ॥२२॥

बुद्धिमान् विश्वामित्र जी के सामने जा बैठे। महातेजस्वी श्री-रामचन्द्र ने महर्षि विश्वामित्र से ॥२२॥

पप्रच्छ नरशार्दूलः कौतूहलसमन्वितः ।

भगवन् कोन्वयं देशः* समृद्धवनशोभितः ।
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥२३॥

कौतूहलपूर्वक पूछा कि हे भगवन्! यह हरे-भरे वन वाला देश कौनसा है ? मैं यह जानना चाहता हूँ। कृपया मुझे इसका ठीक-ठीक वृत्तान्त बतलाइए ॥२३॥

चोदितो रामवाक्येन कथयामास सुव्रतः ।
तस्य देशस्य निखिलमृषिमध्ये महातपाः ॥२४॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार पूछने पर, महातेजस्वी और सुव्रत विश्वामित्र जी ने प्रसन्न हो, उन सब ऋषियों के बीच बैठ कर, उस देश का सारा हाल बतलाया ॥२४॥

बालकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

द्वात्रिंशः सर्गः

—:०:—

ब्रह्मयोनिर्महानासीत्कुशो नाम महातपाः ।
अक्लिष्टव्रतधर्मज्ञः सज्जनप्रतिपूजकः ॥१॥

हे राम! ब्रह्मा जी के पुत्र, बड़े तपस्वी, अखण्डित व्रतधारी, धर्मज्ञ और सज्जनो का सत्कार करने वाले कुश नाम के एक राजा थे ॥१॥

स महात्मा कुलीनायां युक्तायां सुगुणोल्वणान् ।
वैदर्भ्यां जनयामास चतुरः सदृशान् सुतान् ॥२॥

---

* पाठान्तरे—'भगवन् कस्य देशोऽय ।'

उन्होंने उत्तम कुल में उत्पन्न अपने अनुरूप वैदर्भी नामक रानी के गर्भ से अपने समान चार पुत्र उत्पन्न किए ॥२॥

कुशाम्बं कुशनाभं च आधूर्तरजसं वसुम् ।
दीप्तियुक्तान्महोत्साहान्[1] क्षात्रधर्मचिकीर्षया ॥३॥

उनके नाम कुशाम्ब, कुशनाभ, आधूर्तरजस और वसु थे। ये चारों राजकुमार बड़े तेजस्वी और उत्साही थे। तदनन्तर प्रजापालन धर्म की प्रेरणा से ॥३॥

तानुवाच कुशः पुत्रान् धर्मिष्ठान् सत्यवादिनः ।
क्रियतां पालनं पुत्रा धर्मं प्राप्स्यथ पुष्कलम् ॥४॥

धर्मिष्ठ और सत्यवादी पुत्रों से राजा कुश ने कहा, हे पुत्रो! प्रजा का पालन करो, इससे बड़ा पुण्य प्राप्त होगा ॥४॥

कुशस्य वचनं श्रुत्वा चत्वारो लोकसम्मताः ।
निवेशं चक्रिरे सर्वे पुराणां नृवरास्तदा ॥५॥

पिता का यह वचन सुन चारों श्रेष्ठ राजकुमारों ने अपने अपने नाम के चार नगर बसाए ॥५॥

कुशाम्बस्तु महातेजाः कौशाम्बीमकरोत्पुरीम् ।
कुशनाभस्तु धर्मात्मा पुरं चक्रे महोदयम् ॥६॥

महातेजस्वी कुशाम्ब ने कौशाम्बी नाम की पुरी बसाई। धर्मात्मा कुशनाभ ने "महोदय" नामक नगर बसाया ॥६॥

आधूर्तरजसो राम धर्मारण्यं महीपतिः ।
चक्रे पुरवरं राजा वसुश्चक्रे गिरिव्रजम् ॥७॥

---

१ क्षात्रधर्मः=प्रजापालनम् (गो०)

हे राम ! राजा आधूर्तरजस ने धर्मारण्य और राजा वसु ने गिरिव्रज नामक नगर बसाया ॥७॥

एषा वसुमती राम वसोस्तस्य महात्मनः ।
एते शैलवराः[1] पञ्च प्रकाशन्ते समन्ततः ॥८॥

हे राम ! गिरिव्रज का दूसरा नाम वसुमती हुआ । इसके चारों ओर प्रकाशमान पाँच बड़े-बड़े पर्वत हैं ॥८॥

सुमागधी नदी पुण्या मगधान्विश्रुता ययौ ।
पञ्चानां शैलमुख्यानां मध्ये मालेव शोभते ॥९॥

मगध देश में बहने वाली यह मागधी नदी, जिसे शोण (सोन) भी कहते हैं, पाँचों पर्वतों के बीच (पर्वतों की) माला की तरह शोभायमान है ॥९॥

[नोट—मगध देश—बिहार प्रान्त है । रामायण काल में इसकी पश्चिमी सीमा सोन नद था ।]

सैषा हि मागधी राम वसोस्तस्य महात्मनः ।
पूर्वाभिचरिता राम सुक्षेत्रा सस्यमालिनी ॥१०॥

हे राम ! वसु की वही मागधी नदी (सोन) पूर्व दिशा की ओर बहती है और इसके दोनों तटों पर अनाज के अच्छे-अच्छे खेत हैं ॥१०॥

कुशनाभस्तु राजर्षिः कन्याशतमनुत्तमम् ।
जनयामास धर्मात्मा घृताच्यां रघुनन्दन ॥११॥

हे रघुनन्दन ! घृताची नाम की अप्सरा से धर्मात्मा राजर्षि कुशनाभ के सौ सुन्दरी कन्याएँ उत्पन्न हुईं ॥११॥

---

१ शैलवराः = गिरिव्रज सञ्ज्ञामूलाः (गो०)

तास्तु यौवनशालिन्यो रूपवत्यः स्वलङ्कृताः ।
उद्यानभूमिमागम्य प्रावृषीव शतह्रदाः ॥१२॥

वे जवानी में पहुँचने पर बडी रूपवती हुईं और (एक दिन) सजधज कर फुलवाड़ी में जा वैसे ही शोभायुक्त हुईं, जैसे वर्षाकाल में बिजली शोभायमान होती है ॥१२॥

गायन्त्यो नृत्यमानाश्च वादयन्त्यश्च सर्वशः ।
आमोदं परमं जग्मुर्वराभरणभूषिताः ॥१३॥

वे गहने कपड़ो से सुसज्जित उस वाटिका में चारों ओर गाती, नाचती और बाजे बजाती हुई, बड़ा आनन्द मनाने लगीं ॥१३॥

अथ ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
उद्यानभूमिमागम्य तारा इव घनान्तरे ॥१४॥

उनके सब अंग सुन्दर थे। वे पृथ्वीतल पर सौन्दर्य की मूर्त्तियां थी। वे उस बाग मे वैसे ही सुशोभित हो रही थीं जैसे आकाश में तारागण सुशोभित होते हैं ॥१४॥

ताः सर्वगुणसम्पन्ना रूपयौवनसंयुताः ।
दृष्ट्वा सर्वात्मको वायुरिदं वचनमब्रवीत् ॥१५॥

उन सब गुणवतियो और रूपवतियों को देख, सब जगह रहने वाले वायुदेव ने उन सबसे कहा ॥१५॥

अहं वः कामये सर्वा भार्या मम भविष्यथ ।
मानुषस्त्यज्यतां भावो दीर्घमायुरवाप्स्यथ ॥१६॥

मैं तुमको चाहता हूँ, तुम सब मेरी पत्नी बनो। तुम मनुष्यो का अनुराग त्यागो, जिससे तुम दीर्घजीविनी हो सको ॥१६॥

चलं हि यौवनं नित्यं मानुषेषु विशेषतः ।
अक्षयं यौवनं प्राप्ता अमर्यश्च भविष्यथ ॥१७॥

क्योंकि यौवन तो कभी किसी का रहता नहीं—फिर विशेषकर मनुष्य जाति का यौवन तो शीघ्र ही चलायमान अर्थात् नष्ट होता है। अतः (यदि तुम मेरी पत्नी बनोगी तो) तुम्हारा यौवन अक्षय (कभी क्षय न होने वाला) हो जायगा और तुम अमर भी हो जाओगी ॥१७॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा वायोरक्लिष्टकर्मणः ।
अपहास्य ततो वाक्यं कन्याशतमथाब्रवीत् ॥१८॥

अप्रतिहत कर्म करने वाले वायुदेव की इन बातों को सुन, वे सौ राजकन्याएँ वायुदेव का उपहास करती हुई बोलीं ॥१८॥

अन्तश्चरसि भूतानां सर्वेषां त्वं सुरोत्तम ।
प्रभावज्ञाश्च ते सर्वाः किमस्मानवमन्यसे ॥१६॥

हे देव! तुम तो सब के अन्तःकरण की बात जानते ही हो और हम भी आपके प्रभाव को अच्छी तरह जानती हैं। ऐसी दशा में (ऐसा अनुचित प्रस्ताव कर) आप हमारा अपमान क्यों करते हैं ॥१६॥

कुशनाभसुताः सर्वाः समर्थास्त्वां सुरोत्तम ।
स्थानाच्च्यावयितुं देवं रक्षामस्तु तपो वयम् ॥२०॥

हे देवताओं मे उत्तम वायुदेव! हम सब महाराज कुशनाभ की कन्याएँ हैं। हम अपने तपोबल से तुम्हे तुम्हारे लोक से नीचे गिरा सकती हैं; पर ऐसा इसलिए नहीं करती कि, ऐसा करने से हमारा तपोबल घट जायगा और तप घटाना हमको अभीष्ट नहीं है ॥२०॥

मा भूत्स काले दुर्मेधः पितरं सत्यवादिनम् ।
नावमन्यस्व धर्मेण स्वयंवरमुपास्महे ॥२१॥

हे दुर्बुद्धे ! वह समय (ईश्वर करे) न आवे कि, हम अपने सत्यवादी पिता की अवहेलना कर, हम स्वयवरा होवें अर्थात् हम स्वयं अपने लिए वर* पसन्द करें ॥२१॥

पिता हि प्रभुरस्माकं दैवतं परमं हि नः ।
यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति ॥२२॥

क्योंकि हमारे पिता, हमारे लिए परम देवता-स्वरूप हैं और वे हमारे लिए मालिक हैं। वे हमें जिसे दे देंगे वही हमारा पति होगा ॥२२॥

[नोट—इससे पता चलता है कि उस काल में पुत्री का विवाह अपनी रुचि के अनुसार करना पिता का अधिकार था, कन्याएँ अपना वर स्वय पसन्द करना बुरा समझती थीं । "मा भूत्स कालो" इसका प्रमाण है ।]

तासां तद्वचनं श्रुत्वा वायुः परमकोपनः ।
प्रविश्य सर्वगात्राणि बभञ्ज भगवान्प्रभुः ॥२३॥

उन सब कन्याओं की इन (अपमानजनक) बातों को सुन, पवनदेव अत्यन्त कुपित हुए और उन राजकन्याओं के शरीर में घुस कर उनको कुबड़ी बना दिया अथवा उनके शरीर के अंगों को टेढ़ा मेढ़ा कर उनका सौंदर्य नष्ट कर डाला ॥२३॥

---

* इससे जान पड़ता है कि स्वयवर की प्रथा उस जमाने में अच्छी नहीं समझी जाती थी ।

ताः कन्या वायुना भग्ना विविशुर्नृपतेर्गृहम् ।
प्रापतन्भुवि सम्भ्रान्ताः सलज्जाः साश्रुलोचनाः ॥२४॥

जब वायु ने इनके अङ्ग कुरूप कर डाले तब वे लज्जित हुईं और व्याकुल-चित्त हो रोती हुईं अपने पिता के घर गईं ॥२४॥

स च ता दयिता दीनाः कन्याः परमशोभनाः ।
दृष्ट्वा भग्नास्तदा राजा सम्भ्रान्त इदमब्रवीत् ॥२५॥

राजा, अपनी प्यारी एवं परम सुन्दरी कन्याओं को दुःखी और कुरूपा बनी हुई देख, विकल हुए और यह बोले ॥२५॥

किमिदं कथ्यतां पुत्र्यः को धर्ममवमन्यते ।
कुब्जाः केन कृताः सर्वा वेष्टन्त्यो नाभिभाषथ ।
एवं राजा विनिश्वस्य समाधिं सन्दधे ततः ॥२६॥

इति द्वात्रिंश. सर्गः ॥

बतलाओ तो यह क्या हुआ ? किसने धर्म का अनादर कर तुमको कुबड़ी कर दिया ? तुम जान बूझ कर भी क्यों नहीं बतलातीं ? इस घटना से राजा बड़े व्यथित और चिन्तित हुए ॥२६॥

बालकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—:०:—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कुशनाभस्य धीमतः ।
शिरोभिश्चरणौ स्पृष्ट्वा कन्याशतमभाषत ॥१॥

बुद्धिमान् राजा कुश नाभ के पूछने पर सौओं राजकुमारियों ने पिता के चरणों में सीस नवाया और कहा ॥१॥

वायुः सर्वात्मको राजन्प्रधर्षयितुमिच्छति ।
अशुभं मार्गमास्थाय न धर्मं प्रत्यवेक्षते ॥२॥

यद्यपि पवनदेव सब की आत्माओ मे विराजते हैं, (अतः उन्हें हर एक काम सोच विचार कर करना चाहिए) तथापि वे अधर्म में प्रवृत्त हो हमारा धर्म बिगाड़ना चाहते थे ॥२॥

पितृमत्यः स्म भद्रं ते स्वच्छन्दे न वयं स्थिताः ।
पितरं नो वृणीष्व त्वं यदि नो दास्यते तव ॥३॥

हमने उनसे कहा कि, हमको मनमाना काम करने की स्वतन्त्रता नहीं है, अर्थात् हम स्वेच्छाचारिणी नहीं हैं। हमारे पिता विद्यमान हैं, यदि उनसे हमे आप माँग लें, तो हम आपकी हो सकती हैं ॥३॥

[टिप्पणी—"स्वच्छदे न वय स्थिता." अर्थात् हम स्वेच्छाचारिणी नही हैं—प्रमाणित करता है कि स्त्री का स्वेच्छाचारिणी होना प्राचीन काल से गर्हित कार्य माना गया है।]

तेन पापानुबन्धेन वचनं न प्रतीच्छता ।
एवं ब्रुवन्त्यः सर्वाः स्म वायुना निहता भृशम् ॥४॥

हमारी इस बात को न मान कर, उस पापी ने हमारी सब की यह दशा कर दी ॥४॥

तासां तद्वचनं श्रुत्वा राजा परमधार्मिकः ।
प्रत्युवाच महातेजाः कन्याशतमनुत्तमम् ॥५॥

राजकुमारियों की इन बातों को सुन, परम-धार्मिक राजा कुशनाभ उन शत सुन्दरी राजकुमारियों से बोले ॥५॥

क्षान्तं क्षमावतां पुत्र्यः कर्तव्यं सुमहत्कृतम् ।
ऐकमत्यमुपागम्य कुलं चावेक्षितं[1] मम ॥६॥

तुमने पवनदेव के प्रति क्षमा प्रदर्शित कर, बहुत ही अच्छा काम किया है। हे राजकुमारियो! क्षमाशीलों को ऐसा ही करना चाहिए। तुमने (पवनदेव को क्षमा करके) हमारे कुल के अनुरूप ही काम किया है ॥६॥

अलङ्कारो हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा ।
दुष्करं तच्च यत्क्षान्तं त्रिदशेषु विशेषतः ॥७॥

स्त्रियों अथवा पुरुषों के लिए तो क्षमा ही आभूषण है। तुमने पवनदेव को क्षमा कर अति दुष्कर काम किया है। रूप और ऐश्वर्य सम्पन्न लोगों के लिए तो अपराध-सहिष्णुता विशेष करके दुष्कर है ॥७॥

यादृशी वः क्षमा पुत्र्यः सर्वासामविशेषतः ।
क्षमा दानं क्षमा सत्यं क्षमा यज्ञश्च पुत्रिकाः ॥८॥

जैसी तुमने क्षमा दिखलाई, विशेष कर वैसी क्षमा सब में नहीं होती। हे कन्याओ! क्षमा ही दान है, क्षमा ही सत्य है और क्षमा ही यज्ञ है। अर्थात् दान देने, सत्य बोलने और यज्ञ करने से जो पुण्य, होता है, वही क्षमा से प्राप्त होता है ॥८॥

क्षमा यशः क्षमा धर्मः क्षमया विष्ठितं जगत् ।
विसृज्य कन्या काकुत्स्थ राजा त्रिदशविक्रमः ॥९॥

---

१ कुलं चावेक्षितं = कुलानुरूप कृतम् (गो०)

इसी प्रकार क्षमा ही यश है, क्षमा ही धर्म है और क्षमा ही संसार का आधार है। हे राम! इस प्रकार राजकुमारियों को समझा कर और उनको विदा कर, देवसमान पराक्रमी राजा कुशनाभ ने ॥९॥

मन्त्रज्ञो मन्त्रयामास प्रदानं सह मन्त्रिभिः।
देशे काले प्रदानस्य सदृशे प्रतिपादनम् ॥१०॥

अपने सब मत्रियों को बुला कर, उनसे यह सलाह की कि, उन राजकन्याओं का विवाह अच्छे देशकाल व घर में किया जाय ॥१०॥

एतस्मिन्नेव काले तु चूली नाम महामुनिः।
ऊर्ध्वरेताः शुभाचारो ब्राह्मं तप उपागमत्[1] ॥११॥

कुशनाभ के राज्यत्व काल ही में चूली नाम के एक बड़े तेजस्वी, ऊर्ध्वरेता एवं सदाचारी महर्षि ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए तप किया ॥११॥

तप्यन्तं तमृषिं तत्र गन्धर्वी पर्युपासते।
सोमदा नाम भद्रं ते उर्मिलातनया तदा ॥१२॥

उस समय वहाँ तपस्या करते हुए उन मुनि की सेवा, उर्मिला नाम की गन्धर्वी की कन्या, जिसका नाम सोमदा था, करने लगी ॥१२॥

सा च तं प्रणता भूत्वा शुश्रूषणपरायणा।
उवास काले धर्मिष्ठा तस्यास्तुष्टोऽभवद् गुरुः ॥१३॥

---

१ उपागमत्=हतवान् (गो०)

जब सोमदा ने बहुत दिनों तक उन महर्षि की बड़ी श्रद्धाभक्ति के साथ सेवा-शुश्रूषा की, तब वे महर्षि उस पर प्रसन्न हुए ॥१३॥

स च तां कालयोगेन प्रोवाच रघुनन्दन ।
परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते किं करोमि तव प्रियम् ॥१४॥

हे राम! समय पा कर, महर्षि ने कहा—मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ, जो काम तू कहै, सो मैं तेरे लिए करूँ ॥१४॥

परितुष्टं मुनिं ज्ञात्वा गन्धर्वी मधुरस्वरा ।
उवाच परमप्रीता वाक्यज्ञा वाक्यकोविदम् ॥१५॥

मुनि को अपने ऊपर प्रसन्न जान बातचीत करने में परम प्रवीण (वह) गन्धर्वी मधुर स्वर में बड़ी प्रसन्नता के साथ, वाक्यकोविद चूली ऋषि से बोली ॥१५॥

लक्ष्म्या समुदितो ब्राह्मया ब्रह्मभूतो महातपाः
ब्राह्मेण तपसा युक्तं पुत्रमिच्छामि धार्मिकम् ॥१६॥

हे महाराज! ब्रह्मतेज से युक्त, ब्रह्म में निष्ठा रखने वाला और धार्मिकश्रेष्ठ एक पुत्र मैं चाहती हूँ ॥१६॥

अपतिश्चास्मि भद्रं ते भार्या चास्मि न कस्यचित् ।
ब्राह्मेणो[1]पगतायाश्च दातुमर्हसि मे सुतम् ॥१७॥

पर न तो मेरा कोई पति है और न मैं किसी की स्त्री होना चाहती हूँ। क्योंकि मैं ब्रह्मचारिणी हूँ, इससे मुझे अपने तपोबल से ऐसा मानस पुत्र दीजिए जो धार्मिक हो ॥१७॥

[नोट—जैसे सनक, सनन्दन आदि ब्रह्मा के मानसपुत्र थे, वैसा ही एक मानसपुत्र]

---

१ ब्राह्मेण=तपोगरिम्न (गो०)

तस्याः प्रसन्नो ब्रह्मर्षिर्ददौ पुत्रं तथाविधम् ।
ब्रह्मदत्त इति ख्यातं मानसं चूलिनः सुतम् ॥१८॥

यह सुन ब्रह्मर्षि चूली ने प्रसन्न हो ब्रह्मदत्त नामक एक मानस-पुत्र उसको दिया ॥१८॥

स राजा सौमदेवस्तु पुरीमध्यवसत्तदा ।
काम्पिल्यां परया लक्ष्म्या देवराजो यथा दिवम् ॥१९॥

वह ब्रह्मदत्त कम्पिला का राजा हुआ और वहाँ की राज-लक्ष्मी से ऐसा विभूषित हुआ, जैसे इन्द्र सुरपुर में विभूषित होते हैं ॥१९॥

[नोट—कम्पिला किसी समय दक्षिण पाञ्चाल की राजधानी थी। आज भी यह कम्पिला के नाम से प्रसिद्ध है। यह फर्रुखाबाद ज़िले का एक क़सबा है। द्रौपदी का जन्म यहीं हुआ। वहाँ द्रौपदी कुण्ड है।]

स बुद्धिं कृतवान् राजा कुशनाभः सुधार्मिकः ।
ब्रह्मदत्ताय काकुत्स्थ दातुं कन्याशतं तदा ॥२०॥

कुशनाभ ने इन्हीं ब्रह्मदत्त को अपनी सौ राजकुमारियों को देने का विचार किया ॥२०॥

तमाहूय महातेजा ब्रह्मदत्तं महीपतिः ।
ददौ कन्याशतं राजा सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥२१॥

राजा कुशनाभ ने राजा ब्रह्मदत्त को बुला कर, उन्हें प्रसन्नता-पूर्वक अपनी सौ राजकुमारियाँ दे दीं ॥२१॥

यथाक्रमं ततः पाणीञ्जग्राह रघुनन्दन ।
ब्रह्मदत्तो महीपालस्तासां देवपतिर्यथा ॥२२॥

हे राम! वैभव में इन्द्र के समान राजा ब्रह्मदत्त ने यथाक्रम उन १०० राजकुमारियों का पाणिग्रहण किया। (विवाह के समय जो वर होता है वह उस कन्या का, जिसके साथ उसका विवाह होता है, हाथ पकड़ता है) ॥२२॥

स्पृष्टमात्रे ततः पाणौ विकुब्जा विगतज्वराः।
युक्ताः परमया लक्ष्म्या बभुः कन्याशतं तदा ॥२३॥

ब्रह्मदत्त के द्वारा पाणिग्रहण होते ही उन सब का कुबड़ापन जाता रहा और वे परम सुन्दरी हो गईं ॥२३॥

स दृष्ट्वा वायुना मुक्ताः कुशनाभो महीपतिः।
बभूव परमप्रीतो[1] हर्षं लेभे पुनः पुनः ॥२४॥

राजा कुशनाभ अपना मनचीता कार्य हुआ देख अर्थात् राजकुमारियों के शरीर से वायु का विकार दूर हुआ देख, अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥२४॥

कृतोद्वाहं तु राजानं ब्रह्मदत्तं महीपतिः।
सदारं प्रेषयामास सोपाध्यायगणं तदा ॥२५॥

इस प्रकार ब्रह्मदत्त के साथ उनका विवाह कर, कुशनाभ ने राजकुमारियों को बिदा कर, उनके साथ अपने उपाध्यायों को भी भेजा ॥२५॥

सोमदाऽपि सुसंहृष्टा पुत्रस्य सदृशीं क्रियाम्।
यथान्यायं च गन्धर्वी स्नुषास्ताः प्रत्यनन्दत।
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च ताः कन्याः कुशनाभं प्रशस्य च ॥२६॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

---

१ परमप्रीतः = अनुकूल वरलाभेन परमप्रीतः (गो०)

सोमदा जिस प्रकार अपने पुत्र की पदमर्यादा के अनुरूप सम्बन्ध हुआ देख प्रसन्न हुई, उसी प्रकार सुन्दर बहुओं को देख कर भी वह आनन्दित हुई और उनका सत्कार किया और उन राजकुमारियों को देख और बर्त कर, उसने राजा कुशनाभ की सराहना की ॥२६॥

बालकाण्ड का तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—:o:—

कृतोद्वाहे गते तस्मिन् ब्रह्मदत्ते च राघव ।
अपुत्रः पुत्रलाभाय पौत्रीमिष्टिमकल्पयत् ॥१॥

हे राम! ब्रह्मदत्त के व्याह कर के चले जाने के पश्चात्, कुशनाभ पुत्रवान् न होने के कारण, पुत्रप्राप्ति के लिए पुत्रेष्टियज्ञ करने लगे ॥१॥

इष्ट्यां तु वर्तमानायां कुशनाभं महीपतिम् ।
उवाच परमोदारः कुशो ब्रह्मसुतस्तदा ॥२॥

जब यज्ञ होने लगा, तब ब्रह्मा जी के पुत्र और परमोदार राजा कुशनाभ के पिता, राजा कुश अपने पुत्र से बोले ॥२॥

पुत्र ते सदृशः पुत्रो भविष्यति सुधार्मिकः ।
गाधिं प्राप्स्यसि तेन त्वं कीर्त्तिं लोके च शाश्वतीम् ॥३॥

हे वत्स! तेरे, तेरे ही समान धर्मात्मा पुत्र होगा। उसका

नाम गाधि होगा और उसके होने से संसार में तेरी कीर्ति अमर होगी ॥३॥

एवमुक्त्वा कुशो राम कुशनाभं महीपतिम् ।
जगामाकाशमाविश्य ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥४॥

हे राम ! कुश अपने पुत्र राजा कुशनाभ से यह कह कर, आकाश मार्ग से सनातन ब्रह्मलोक को चले गए ॥४॥

[टिप्पणी—रामायण काल में भी मृत पुरुषों की आत्मा अदृश्य लोकों से मर्त्यलोक में आती थी, यह बात इस आख्यान से सिद्ध है। आत्माओं या रूहों को बुलाकर वार्तालाप करना आधुनिक विज्ञान नहीं; किन्तु इस देश का प्राचीन विज्ञान है।]

कस्यचित्त्वथ कालस्य कुशनाभस्य धीमतः ।
जज्ञे परमधर्मिष्ठो गाधिरित्येव नामतः ॥५॥

कुछ समय बीतने पर बुद्धिमान् कुशनाभ के परम धर्मिष्ठ गाधि नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥५॥

स पिता मम काकुत्स्थ गाधिः परमधार्मिकः ।
कुशवंशप्रसूतोऽस्मि कौशिको रघुनन्दन ॥६॥

हे राम ! वे ही परम धर्मिष्ठ मेरे पिता हैं । कुशवंशोद्भव होने के कारण मैं कौशिक (भी) कहलाता हूँ ॥६॥

पूर्वजा भगिनी चापि मम राघव सुव्रता ।
नाम्ना सत्यवती नाम ऋचीके प्रतिपादिता ॥७॥

हे राघव ! मेरी बड़ी बहिन का नाम सत्यवती था, जो पतिव्रता थी। उसका विवाह ऋचीक के साथ हुआ था ॥७॥

सशरीरा गता स्वर्गं भर्तारमनुवर्तिनी ।
कौशिकी परमोदारा सा प्रवृत्ता महानदी ॥८॥

पति के मरने के बाद, वह सत्यवती पति के साथ सशरीर स्वर्ग को गई। फिर वही परम उदार कौशिकी नदी हो बहने लगी ॥८॥

दिव्या पुण्योदका रम्या हिमवन्तमुपाश्रिता ।
लोकस्य हितकामार्थं प्रवृत्ता भगिनी मम ॥९॥

इसका श्लाघ्य और अति पवित्र जल है और यह बड़ी रमणीक है। यह हिमालय से निकल कर बहती है। लोगों के हित के लिए मेरी बहिन ने नदी का रूप धारण किया है ॥९॥

ततोऽहं हिमवत्पार्श्वे वसामि निरतः सुखम् ।
भगिन्यां स्नेहसंयुक्तः कौशिक्यां रघुनन्दन ॥१०॥

हे राम! अपनी बहिन के स्नेहवश मैं हिमालय के समीप कौशिकी के तट पर ही रहता था ॥१०॥

सा तु सत्यवती पुण्या सत्ये धर्मे प्रतिष्ठिता ।
पतिव्रता महाभागा कौशिकी सरितां वरा ॥११॥

सत्यधर्म में स्थित, बड़ी पतिव्रता वही सत्यवती, नदियों में श्रेष्ठ, महाभागा कौशिकी नदी है ॥११॥

अहं हि नियमाद्राम हित्वा तां समुपागतः ।
सिद्धाश्रममनुप्राप्य सिद्धोऽस्मि तव तेजसा ॥१२॥

हे राम ! यह यज्ञ पूरा करने के लिए मैं उसको छोड़ सिद्धाश्रम में चला आया था। वहाँ तुम्हारे प्रताप से मेरा काम सिद्ध हुआ ॥१२॥

एषा राम ममोत्पत्तिः स्वस्य वंशस्य कीर्तिता ।
देशस्य च महाबाहो यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥१३॥

हे राम ! हे महाबाहो ! मैंने तुम्हारे प्रश्न के उत्तर मे इस देश का तथा अपनी उत्पत्ति और अपने वंश का वृत्तान्त कह सुनाया ॥१३॥

गतोऽर्धरात्रः काकुत्स्थ कथा कथयतो मम ।
निद्रामभ्येहि भद्रं ते मा भूद्विघ्नोऽध्वनीह नः ॥१४॥

हे राम ! यह वृत्तान्त सुनाते सुनाते आधी रात बीत चुकी। तुम्हारा मङ्गल हो, अब जा कर शयन करो, जिससे कल चलने में विघ्न न हो ॥१४॥

निष्पन्दास्तरवः सर्वे निलीना मृगपक्षिणः ।
नैशेन तमसा व्याप्ता दिशश्च रघुनन्दन ॥१५॥

हे रघुनन्दन ! अब किसी वृक्ष का पत्ता तक नहीं हिलता, पशु-पक्षी भी चुपचाप हैं। निशा का घोर अन्धकार सब दिशाओं में छाया हुआ है ॥१५॥

शनैर्वियुज्यते सन्ध्या नभो नेत्रैरिवावृतम् ।
नक्षत्रतारागहनं ज्योतिर्भिरवभासते ॥१६॥

धीरे-धीरे सन्ध्या का समय बीत गया। आकाश तारों से देदीप्यमान हो, शोभित हो रहा है। ऐसा जान पड़ता है, मानों आकाश सहस्र नेत्रों से देख रहा हो ॥१६॥

उत्तिष्ठति च शीतांशुः शशी लोकतमोनुदः ।
ह्लादयन्प्राणिनां लोके मनांसि प्रभया विभो ॥१७॥

समस्त संसार के अन्धकार को नष्ट करने वाला और शीतल किरणों वाला चन्द्रमा, प्राणियो के मन को हर्षित करता हुआ ऊपर को उठता चला आता है ॥१७।

नैशानि सर्वभूतानि प्रचरन्ति ततस्ततः ।
यक्षराक्षससंघाश्च रौद्राश्च पिशिताशनाः ॥१८॥

रात में घूमने वाले और मांसभक्षी भयङ्कर यक्षों और राक्षसों के दल, इधर-उधर घूम-फिर रहे हैं ॥१८॥

एवमुक्त्वा महातेजा विरराम महामुनिः ।
साधु साध्विति तं सर्वे मुनयो ह्यभ्यपूजयन् ॥१९॥

इतना कह कर महातेजस्वी विश्वामित्र जी चुप हो गए। तब मुनियों ने वाह-वाह कह कर विश्वामित्र की प्रशंसा की ॥१९॥

कुशिकानामयं वंशो महान् धर्मपरः सदा ।
ब्रह्मोपमा महात्मानः कुशवंश्या नरोत्तमाः ॥२०॥

(और कहा) यह कुश का वंश सदा से धर्म मे तत्पर रहा है और इस वश के सब राजा लोग ब्रह्मर्षि तुल्य होते चले आते हैं ॥२०॥

विशेषेण भवानेव विश्वामित्रो महायशाः ।
कौशिकी च सरिच्छ्रेष्ठा कुलोद्योतकरी तव ॥२१॥

हे विश्वामित्र जी ! विशेष कर आप तो इस वंश में महायशस्वी हैं तथा नदियों मे श्रेष्ठ कौशिकी नदी ने तो इस वंश को उजागर कर दिया है ॥२१॥

इति तैर्मुनिशार्दूलैः प्रशस्तः कुशिकात्मजः ।
निद्रामुपागमच्छ्रीमानस्तं गत इवांशुमान् ॥२२॥

उन मुनिश्रेष्ठों ने इस प्रकार से विश्वामित्र की प्रशंसा की। तदनन्तर श्रीमान् विश्वामित्र जी सो गए, मानों सूर्य अस्ताचलगामी हो गये हों ॥२२॥

रामोऽपि सहसौमित्रिः किञ्चिदागतविस्मयः ।
प्रशस्य मुनिशार्दूलं निद्रां समुपसेवते ॥२३॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी भी लक्ष्मण जी सहित कुछ-कुछ विस्मित हो और विश्वामित्र की प्रशंसा करते हुए सो गए ॥२३॥

बालकाण्ड का चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



पञ्चत्रिंशः सर्गः

—०:—

उपास्य रात्रिशेषं तु शोणकूले महर्षिभिः ।
निशायां सुप्रभातायां विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥१॥

विश्वामित्र जी ने उन सब ऋषियों सहित शेष रात्रि सोन नदी के तट पर बिताई। जब प्रातःकाल हुआ, तब विश्वामित्र जी रामचन्द्र जी से बोले ॥१॥

सुप्रभाता निशा राम पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गमनायाभिरोचय ॥२॥

हे राम ! उठिए, प्रातःकाल हो चुका। तुम्हारा मङ्गल हो, अब सन्ध्योपासन कर चलने की तैयारी कीजिए ॥२॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम् ।
गमनं रोचयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥३॥

श्रीरामचन्द्र जी, मुनिवर के यह वचन सुन प्रातःक्रिया से निवृत्त हुए और चलने को तैयार हो बोले ॥३॥

अयं शोणः शुभजलोगाधः पुलिनमण्डितः ।
कतरेण पथा ब्रह्मन् सन्तरिष्यामहे वयम् ॥४॥

हे ब्रह्मन् ! इस शोण नद मे जल तो कम है, बालू विशेष है। सो बतलाइए किस रास्ते से हम लोग उस पार चलें ॥४॥

एवमुक्तस्तु रामेण विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ।
एष पन्था मया दृष्टो येन यान्ति महर्षयः ॥५॥

यह सुन विश्वामित्र जी बोले, जिस रास्ते से सब महर्षि जाते हैं वही रास्ता मैं बतलाता हूँ। वह यह है ॥५॥

एवमुक्ता महर्षयो विश्वामित्रेण धीमता ।
पश्यन्तस्ते प्रयाता वै वनानि विविधानि च ॥६॥

बुद्धिमान् महर्षि विश्वामित्र जी के यह कहने पर वे रास्ते में विविध वनों को देखते हुए चलने लगे ॥६॥

ते गत्वा दूरमध्वानं गतेऽर्धदिवसे तदा ।
जाह्नवीं सरितां श्रेष्ठां ददृशुर्मुनिसेविताम् ॥७॥

वे जब बहुत दूर निकल गए तब दोपहर को उनको मुनियों द्वारा सेवित श्रीगङ्गा जी देख पड़ीं ॥७॥

तां दृष्ट्वा पुण्यसलिलां हंससारससेविताम् ।
बभूवुर्मुनयः सर्वे मुदिताः सहराघवाः ॥८॥

श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी सहित सब मुनि, हंस-सारसो से सुशोभित, पुण्यसलिला जाह्नवी के दर्शन कर, बहुत हर्षित हुए ॥८॥

तस्यास्तीरे ततश्चक्रुस्त आवासपरिग्रहम् ।
ततः स्नात्वा यथान्यायं सन्तर्प्य पितृदेवताः ॥९॥

वे सब श्रीगङ्गा जी के तट पर ठहर गए उन्होंने यथाविधि स्नान कर, पितृदेवतर्पणादि कर्म सम्पन्न किए ॥९॥

हुत्वा चैवाग्निहोत्राणि प्राश्य चानुत्तमं हविः ।
विविशुर्जाह्नवीतीरे शुचौ मुदितमानसाः ॥१०॥

फिर अग्निहोत्र कर और बचे हुए पवित्र हविष्यान्न को खाने के पश्चात्, वे लोग प्रसन्नचित हो और आसनो पर गङ्गा जी के पवित्र तट पर बैठे ॥१०॥

विश्वामित्रं महात्मानं परिवार्य समन्ततः ।
*सम्प्रहृष्टमना रामो विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥११॥

सब मुनियो के बीच मे विश्वामित्र जी (और उनके सामने दोनों राजकुमार) बैठे। उस समय प्रसन्नचित्त श्रीराम जी ने विश्वामित्र जी से कहा ॥११॥

---

* पाठान्तरे "अथ तत्र तदा"

भगवञ्श्रोतुमिच्छामि गङ्गां त्रिपथगां नदीम् ।
त्रैलोक्यं कथमाक्रम्य गता नदनदीपतिम् ॥१२॥

हे भगवन् ! मैं त्रिपथगा गङ्गा जी का वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। वे किस प्रकार तीनों लोकों को नाँघ कर समुद्र से जा मिलीं ? ॥१२॥

चोदितो रामवाक्येन विश्वामित्रो महामुनिः ।
वृद्धिं जन्म च गङ्गाया वक्तुमेवोपचक्रमे ॥१३॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के पूछने पर महर्षि विश्वामित्र जी ने श्रीगङ्गा जी की वृद्धि व जन्म की कथा कहना आरम्भ की ॥१३॥

शैलेन्द्रो हिमवान्नाम धातूनामाकरो महान् ।
तस्य कन्याद्वयं जातं रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥१४॥

धातुओं की खान हिमालय नामक पर्वत की दो कन्याएँ हुईं, जो पृथ्वी पर सौन्दर्य में बेजोड़ थीं, अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी थीं ॥१४॥

या मेरुदुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा ।
नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवतः प्रिया ॥१५॥

इन कन्याओं की माता का नाम मेना है जो मेरु पर्वत की सुन्दरी लड़की और हिमाचल की पत्नी है ॥१५॥

तस्यां गङ्गेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता ।
उमा नाम द्वितीयाभूत्कन्या तस्यैव राघव ॥१६॥

हिमाचल की बड़ी बेटी का नाम गङ्गा और छोटी का उमा पड़ा ॥१६॥

अथ ज्येष्ठां सुराः सर्वे देवतार्थचिकीर्षया ।
शैलेन्द्रं वरयामासुर्गङ्गां त्रिपथगां नदीम् ॥१७॥

हिमाचल की बड़ी बेटी त्रिपथगा नदी गङ्गा को सब देवता मिल कर निज कार्यसिद्धि के लिए माँग कर ले गये ॥१७॥

ददौ धर्मेण हिमवांस्तनयां लोकपावनीम् ।
स्वच्छन्दपथगां गङ्गां त्रैलोक्यहितकाम्यया ॥१८॥

हिमाचल ने भी तीनो लोकों को पवित्र करने वाली, मनमाने मार्ग से जाने वाली, गङ्गा को, तीनो लोको की भलाई के लिए, माँगने वाले को देना चाहिए, अपना यह धर्म समझ, देवताओं को दे दिया ॥१८॥

प्रतिगृह्य ततो देवास्त्रिलोकहितकारिणः ।
गङ्गामादाय तेऽगच्छन् कृतार्थेनान्तरात्मना ॥१६॥

तीनों लोको का हित चाहने वाले, देवतागण गङ्गा को लेकर और कृतार्थ हो चले गए ॥१६॥

या चान्या शैलदुहिता कन्याऽऽसीद्रघुनन्दन ।
उग्रं सा व्रतमास्थाय तपस्तेपे तपोधना ॥२०॥

हे रघुनन्दन ! हिमाचल की जो दूसरी बेटी उमा थी, उसका तप ही धन था । अतः उसने अति उग्र तप किया ॥२०॥

उग्रेण तपसा युक्तां ददौ शैलवरः सुताम् ।
रुद्रायाप्रतिरूपाय उमां लोकनमस्कृताम् ॥२१॥

कठोर तप करने वाली तथा लोकवन्दिता अपनी बेटी उमा, शैलवर हिमाचल ने, महादेव को, उस (उमा) के लिए उपयुक्त वर समझ, उन्हें व्याह दी ॥२१।

एते ते शैलराजस्य सुते लोकनमस्कृते ।
गङ्गा च सरितां श्रेष्ठा उमा देवी च राघव ॥२२॥

हे राम ! ये दोनों लोकनमस्कृता गङ्गा नदी और उमादेवी प्रसिद्ध हिमाचल की बेटियाँ हैं ॥२२॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा त्रिपथगा नदी ।
खं गता प्रथमं तात गतिं गतिमतां वर ॥२३॥

हे तात ! हे चलने वालों में श्रेष्ठ ! मैंने तुमसे त्रिपथगा श्रीगङ्गा जी के प्रथम स्वर्ग जाने का वृत्तान्त कहा ॥२३॥

सैषा सुरनदी रम्या शैलेन्द्रस्य सुता तदा ।
सुरलोकं समारूढा विपापा जलवाहिनी ॥२४॥

इति पञ्चत्रिंश. सर्ग. ॥

हिमाचल की बेटी, रमणीक और पाप नाश करने वाले जल से बहने वाली और सुरलोक को जाने वाली यही सुरनदी गङ्गा नदी है ॥२४॥

बालकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:❀:—

षट्त्रिंशः सर्गः

—:o:—

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन्नुभौ राघवलक्ष्मणौ ।
अभिनन्द्य कथां वीरावूचतुर्मुनिपुङ्गवम् ॥१॥

मुनि विश्वामित्र जी के इस प्रकार कहने पर, दोनों राजकुमार विश्वामित्र जी (की जानकारी और स्मरणशक्ति और कथा कहने की रीति) की बड़ाई करते हुए बोले ॥१॥

धर्मयुक्तमिदं ब्रह्मन् कथितं परमं त्वया ।
दुहितुः शैलराजस्य ज्येष्ठाया वक्तुमर्हसि ॥२॥

हे ब्रह्मर्षि ! आपने पुण्य देने वाली उत्तम कथा कही । अब हिमालय की जेठी बेटी गङ्गा जी की कथा मुझसे कहिए ॥२॥

विस्तरं विस्तरज्ञोऽसि दिव्यमानुषसम्भवम् ।
त्रीन्पथो हेतुना केन प्लावयेल्लोकपावनी ॥३॥

आप सब जानते हैं, सो अब आप विस्तारपूर्वक यह कहिये कि, लोकपावनी गङ्गा स्वर्ग से मनुष्यलोक में क्यों आई और तीनों लोकों मे क्योंकर बहीं ? ॥३॥

कथं गङ्गा त्रिपथगा विश्रुता सरिदुत्तमा ।
त्रिषु लोकेषु धर्मज्ञ कर्मभिः कैः समन्विता ॥४॥

हे धर्मज्ञ ! नदियों में उत्तम गङ्गा का नाम तीनों लोकों में त्रिपथगा किन-किन कर्मों के कारण हुआ ॥४॥

तथा ब्रुवति काकुत्स्थे विश्वामित्रस्तपोधनः ।
निखिलेन कथां सर्वामृषिमध्ये न्यवेदयत् ॥५॥

श्रीरामचन्द्र के पूछने पर तपोधन विश्वामित्र जी ने सारा वृत्तान्त ऋषियों के बीच बैठ कर (इस प्रकार) कहा ॥५॥

पुरा राम कृतोद्वाहो नीलकण्ठो महातपाः ।
दृष्ट्वा च स्पृहया देवीं मैथुनायोपचक्रमे ॥६॥

हे राम! पूर्वकाल में महातपस्वी महादेव जी का विवाह पार्वती जी के साथ हुआ और वे उनको देख, कामवशवर्ती हो, उनके साथ विहार करने लगे ॥६॥

शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्षशतं गतम् ।
तस्य संक्रीडमानस्य महादेवस्य धीमतः ॥७॥

देवताओं के मान से सौ वर्ष तक धीमान् नीलकण्ठ महादेव जी के देवी के साथ विहार करने पर भी ॥७॥

न चापि तनयो राम तस्यामासीत्परन्तप ।
ततो देवाः समुद्विग्नाः पितामहपुरोगमाः ॥८॥

हे राम! कोई सन्तान न हुआ। तब सब देवता व्याकुल हो ब्रह्मा जी सहित विचारने लगे ॥८॥

यदिहोत्पद्यते भूतं कस्तत्प्रतिसहिष्यते ।
अभिगम्य सुराः सर्वे प्रणिपत्येदमब्रुवन् ॥९॥

कि इन दोनों के सम्भोग से जो जीव उत्पन्न होगा, उसका भार कौन सम्हाल सकेगा। तब सब देवता महादेव जी के शरण में जाकर और उनको प्रणाम कर बोले ॥९॥

देवदेव महादेव लोकस्यास्य हिते रत ।
सुराणां प्रणिपातेन प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥१०॥

हे देवदेव महादेव! देवताओं के प्रणाम से प्रसन्न हूजिए और इस लोक की रक्षा कीजिए ॥१०॥

न लोका धारयिष्यन्ति तव तेजः सुरोत्तम ।
ब्राह्मेण तपसा युक्तो देव्या सह तपश्चर ॥११॥

हे सुरोत्तम! आपका तेज कोई भी लोक धारण नहीं कर सकेगा। अतः आप देवीसहित वैदिक विधि से तप कीजिए ॥११॥

त्रैलोक्यहितकामार्थं तेजस्तेजसि धारय ।
रक्ष सर्वानिमांल्लोकानालोकं कर्तुमर्हसि ॥१२॥

तीनों लोकों के हित के लिए अपना तेज अपने शरीर ही में रखिए, जिससे तीनों लोकों की रक्षा हो, उनका नाश न कीजिए ॥१२॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकमहेश्वरः ।
बाढमित्यब्रवीत्सर्वान्पुनश्चेदमुवाच ह ॥१३॥

सर्वलोकों के परम नियन्ता महादेव जी, देवताओं के वचन सुन बोले, बहुत अच्छा। तदनन्तर कहने लगे ॥१३॥

धारयिष्याम्यहं तेजस्तेजस्येव सहोमया ।
त्रिदशाः पृथिवी चैव निर्वाणमधिगच्छतु ॥१४॥

हे देवतागण! मैं उमा के साथ अपना तेज शरीर ही में धारण किए रहूँगा। देवतागण एवं पृथिव्यादि समस्त लोक सुख से रहें ॥१४॥

यदिदं क्षुभितं स्थानात् मम तेजो ह्यनुत्तमम् ।
धारयिष्यति कस्तन् मे ब्रुवन्तु सुरसत्तमाः ॥१५॥

परन्तु हे देवताओ ! यह तो बतलाओ कि, जो मेरा तेज (वीर्य) स्थानच्युत हो गया है, उसे कौन धारण करेगा ? ॥१५॥

एवमुक्तास्ततो देवाः प्रत्यूचुर्वृषभध्वजम् ।
यत्तेजः क्षुभितं ह्येतत्तद्धरा धारयिष्यति ॥१६॥

इस पर देवताओं ने महादेव जी को यह उत्तर दिया कि आपका जो तेज स्थानच्युत हुआ अर्थात् गिरा, उसे पृथ्वी धारण करेगी ॥१३॥

एवमुक्तः सुरपतिः प्रमुमोच महीतले ।
तेजसा पृथिवी येन व्याप्ता स-गिरिकानना ॥१७॥

यह सुन महादेव जी ने अपना तेज पृथिवी पर छोड़ा, जिससे वन-पर्वतों सहित पृथ्वी पूर्ण हो गई ॥१७॥

ततो देवाः पुनरिदमूचुश्चाथ हुताशनम् ।
प्रविश त्वं महातेजो रौद्रं वायुसमन्वितः ॥१८॥

(जब देवताओं को यह मालूम हुआ कि, उस तेज को धारण करने में पृथ्वी असमर्थ है तब) वे अग्नि से बोले कि, तुम वायु के साथ इस रुद्र के तेज में प्रवेश करो ॥१८॥

तदग्निना पुनर्व्याप्तं सञ्जातः श्वेतपर्वतः ।
दिव्यं शरवणं चैव पावकादित्यसन्निभम् ॥१९॥

तब उसमें अग्नि के प्रवेश करने से वह तेज एक स्थान पर (सिमट कर) श्वेत पर्वताकार हो गया। फिर अग्नि और सूर्य की तरह चमकीला अति दिव्य सरपत का वन हो गया ॥१६॥

यत्र जातो महातेजाः कार्त्तिकेयोऽग्निसम्भवः ।
अथोमां च शिवं चैव देवाः सर्षिगणास्तदा ॥२०॥

उसी से स्वामिकार्त्तिक अग्नि के समान तेजस्वी उत्पन्न हुए। तदनन्तर सब देवताओं और ऋषियों ने उमा और शिव की पूजा की ॥२०॥

पूजयामासुरत्यर्थं सुप्रीतमनसस्ततः ।
अथ शैलसुता राम त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥२१॥

हे राम ! जब प्रसन्न मन से देवताओं ने पूजन किया, तब उमा (क्रुद्ध होकर) देवताओं से बोली ॥२१॥

अप्रियस्य कृतस्याद्य फलं प्राप्स्यथ मे सुराः ।
इत्युक्त्वा सलिलं गृह्य पार्वती भास्करप्रभा ॥२२॥

अरे देवताओ, तुमने जो मेरे लिए अप्रिय कार्य किया है उसका फल तुम पावोगे। सूर्य के समान दीप्तिमान् उमा ने यह कह कर हाथ में जल लिया और ॥२२॥

समन्युरशपत्सर्वान्क्रोधसंरक्तलोचना ।
यस्मान्निवारिता चैव सङ्गतिः पुत्रकाम्यया ॥२३॥

क्रोध के मारे लाल नेत्र कर उन सब देवताओं को यह शाप दिया कि तुमने मेरे पुत्र उत्पन्न होने में बाधा डाली है ॥२३॥

अपत्यं स्वेषु दारेषु नोत्पादयितुमर्हथ ।
अद्यप्रभृति युष्माकमप्रजाः सन्तु पत्नयः ॥२४॥

सो कोई भी देवता अपनी स्त्री से पुत्र उत्पन्न न कर सके; आज से तुम्हारी स्त्रियाँ सन्तानरहित होंगी ॥२४॥

एवमुक्त्वा सुरान् सर्वाञ्शशाप पृथिवीमपि ।
अवने नैकरूपा त्वं बहुभार्या भविष्यसि ॥२५॥

देवताओं को इस प्रकार शाप दे कर, (शान्त न हुई) उमा ने पृथ्वी को भी शाप दिया कि, हे पृथ्वी! तू एक सी नहीं रहेगी और तेरे अनेक पति होंगे। अर्थात् समस्त भूमण्डल का एक राजा न होगा—अनेक राजा होंगे ॥२५॥

न च पुत्रकृतां प्रीतिं मत्क्रोधकलुषीकृता ।
प्राप्स्यसि त्वं सुदुर्मेधे मम पुत्रमनिच्छती ॥२६॥

हे सुदुर्मेधे! मेरे क्रोध से तुझे पुत्रसुख न होगा, क्योंकि तूने मेरे पुत्र को नहीं चाहा ॥२६॥

तान् सर्वान् व्रीडितान् दृष्ट्वा सुरान् सुरपतिस्तदा ।
गमनायोपचक्राम दिशं वरुणपालिताम् ॥२७॥

महादेव जी ने इन्द्र तथा सब देवताओं को लज्जित देख, वरुण दिशा की ओर जाने की इच्छा की ॥२७॥

स गत्वा तप आतिष्ठत्पार्श्वे तस्योत्तरे गिरेः ।
हिमवत्प्रभवे शृङ्गे सह देव्या महेश्वरः ॥२८॥

वहाँ जा कर हिमालय के उत्तर भाग में हिमवत्प्रभव नामक पर्वतशृङ्ग पर उमा सहित वे तप करने लगे ॥२८॥

एष ते विस्तरो राम शैलपुत्र्या निवेदितः ।
गङ्गायाः प्रभवं चैव शृणु मे सहलक्ष्मणः ॥२९॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

हे राम! हिमालय की एक बेटी की यह कथा मैंने विस्तार-पूर्वक कही। अब हिमालय की दूसरी बेटी गङ्गा की (विस्तृत) कथा लक्ष्मण सहित तुम सुनो ॥२९॥

बालकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

— ❀ —

सप्तत्रिंशः सर्गः

—*—

तप्यमाने तपो देवे देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
सेनापतिमभीप्सन्तः पितामहमुपागमन् ॥१॥

जब महादेव तप करने लगे, तब इन्द्रादि देवता अग्नि को आगे कर, (अपनी देवसेना के लिए एक) सेनापति प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मा जी के पास गये ॥१॥

ततोऽब्रुवन् सुराः सर्वे भगवन्तं पितामहम् ।
प्रणिपत्य शुभं वाक्यं सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ॥२॥

और प्रणाम कर, इन्द्र और अग्नि को आगे कर ब्रह्मा जी सब देवता प्रणामपूर्वक बोले ॥२॥

योनः सेनापतिर्देव दत्तो भगवता पुरा ।
तपः परममास्थाय तप्यते स्म सहोमया ॥३॥

हे भगवन्! आदि काल में जिन (रुद्र) को आपने हमारा सेनापति बनाया था, वे तो उमा के साथ हिमालय पर जाकर तप कर रहे हैं ॥३॥

[टिप्पणी—किसी-किसी पोथी में "यो नः" की जगह "येन" भी पाठ मिलता है । जहाँ पर "येन" पाठ है वहाँ उक्त श्लोक का अर्थ यह होगा, कि जिन महादेव जी ने हम लोगों से पहले कहा था कि, हम तुम्हें एक सेनापति देंगे, वे महादेव उमा सहित हिमालय पर तप कर रहे हैं ।]

यदत्रानन्तरं कार्यं लोकानां हितकाम्यया ।
संविधत्स्व विधानज्ञ त्वं हि नः परमा गतिः ॥४॥

अतएव इसके बाद लोकों के हितार्थ जो करना उचित जान पड़े, वह कीजिए, क्योंकि हमारी दौड़ तो आप तक है ॥४॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः ।
सान्त्वयन् मधुरैर्वाक्यैस्त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥५॥

देवताओं के इन वचनों को सुन, ब्रह्मा जी मधुर वचनों से देवताओं को सान्त्वना प्रदान कर, अर्थात् ढाढ़स बँधा कर, यह बोले ॥५॥

शैलपुत्र्या यदुक्तं तन्न प्रजाः सन्तु पत्निषु ।
तस्या वचनमक्लिष्टं सत्यमेव न संशयः ॥६॥

हे देवगण! उमा देवी ने तुम लोगों को जो शाप दिया है कि, तुम्हारी स्त्रियों के सन्तान न होगी, वह तो अन्यथा होगा नहीं ॥६॥

इयमाकाशगा गङ्गा यस्यां पुत्रं हुताशनः ।
जनयिष्यति देवानां सेनापतिमरिन्दमम् ॥७॥

हाँ, अग्निदेव इस आकाशगङ्गा से जिस पुत्र को उत्पन्न करेंगे वह देवताओं के शत्रुओं का नाश करने वाला होगा ॥७॥

ज्येष्ठा शैलेन्द्रदुहिता मानयिष्यति तं सुतम् ।
उमायास्तद्बहुमतं भविष्यति न संशयः ॥८॥

हिमाचल की ज्येष्ठा पुत्री गङ्गा, अपनी छोटी वहिन का पुत्र होने के कारण, उसे निज पुत्रवत् समझेगी और उमा तो उसे निश्चय ही बहुत मानेगी अर्थात् उसे बहुत प्यार करेगी ॥८॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कृतार्था रघुनन्दन ।
प्रणिपत्य सुराः सर्वे पितामहमपूजयन् ॥९॥

हे राम ! ब्रह्मा के ये वचन सुन, देवताओं ने अपने को कृतार्थ समझा और प्रणामादि कर ब्रह्मा जी का पूजन किया ॥९॥

ते गत्वा पर्वतं राम कैलासं धातुमण्डितम् ।
अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः ॥१०॥

तदनन्तर सब देवता अनेक धातुओं से परिपूर्ण कैलास पर्वत पर गए और पुत्रोत्पत्ति के लिए अग्नि को प्रेरणा करने लगे ॥१०॥

देवकार्यमिदं देव संविधत्स्व हुताशन ।
शैलपुत्र्यां महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज ॥११॥

(देवतागण, अग्नि से कहने लगे) यह देवताओं का कार्य है। इसे करो। हे महातेजस्वी अग्नि! आप अपना (वीर्य) गङ्गा में छोड़ो ॥११॥

देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः ।
गर्भं धारय वै देवि देवतानामिदं प्रियम् ॥१२॥

अग्निदेव ने देवताओं से (यह कार्य करने की) प्रतिज्ञा की, और गङ्गा जी से कहा—हे देवि! तुम हमसे गर्भ धारण करो। क्योंकि यह कार्य देवताओं को अभिलषित अर्थात् उनको पसन्द है ॥१२॥

अग्नेस्तु वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत् ।
दृष्ट्वा तन्महिमानं स समन्तादवकीर्यत ॥१३॥

अग्निदेव का यह वचन सुन गङ्गा देवी ने दिव्य स्त्री का रूप धारण किया। अग्नि ने गङ्गा जी का सौन्दर्य देख, अपने सब अंगों से वीर्य छोड़ा ॥१३॥

समन्ततस्तदा देवीमभ्यषिञ्चत पावकः ।
सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन ॥१४॥

हे राम! गङ्गा की प्रत्येक नाड़ी अग्नि के तेज (वीर्य) से परिपूर्ण हो गई—कोई अंग खाली न रहा ॥१४॥

तमुवाच ततो गङ्गा सर्वदेवपुरोगमम् ।
अशक्ता धारणे देव तव तेजः समुद्धतम्[1] ॥१५॥

तब गङ्गा ने अग्नि से कहा कि, हे देव! मैं तुम्हारे बढ़ते हुए तेज को धारण नहीं कर सकती ॥१५॥

---

१ समुद्धतम्=अभिवृद्धं भवति (गो०)

दह्यमानाऽग्निना तेन संप्रव्यथितचेतना ।
अथाब्रवीदिदं गङ्गां सर्वदेवहुताशनः ॥१६॥

क्योंकि तुम्हारे तेज से मैं जली जाती हूँ और मैं बहुत दुःखी हूँ। यह सुन अग्नि ने गङ्गा से कहा॥१६॥

इह हैमवते पादे गर्भोऽयं सन्निवेश्यताम् ।
श्रुत्वा त्वग्निवचो गङ्गा तं गर्भमतिभास्वरम् ॥१७॥

इस हिमालय के पास इस गर्भ को रख दो। यह सुन गङ्गा जी ने वह परम तेजस्वी गर्भ ॥१७॥

उत्ससर्ज महातेजाः स्रोतोभ्यो हि तदाऽनघ ।
यदस्या निर्गतं तस्मात्तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥१८॥

अपने अंगों से निकाल दिया। जब वह गर्भ भूमि पर गिरा तब वह अत्यन्त चमकदार जाम्बूनद सुवर्ण हो गया ॥१८॥

काञ्चनं धरणीं प्राप्तं हिरण्यममलं शुभम् ।
ताम्रं कार्ष्णायसं चैव तैक्ष्ण्यदेवाभ्यजायत ॥१६॥

वही विशुद्ध और सुन्दर सब सोना है, जो पृथ्वी पर है। उसके पास वहाँ जितने पदार्थ थे, वे चाँदी हो गए। जहाँ-जहाँ उसकी तीक्ष्णता पहुँची, वहाँ ताँबा और लोहा हो गया ॥१६॥

मलं तस्याभवत्तत्र त्रपु सीसकमेव च ।
तदेतद्धरणीं प्राप्य नानाधातुरवर्धत ॥२०॥

और उसके मैल का जस्ता और सीसा हो गया। इस प्रकार वह तेज भूमि पर अनेक धातुओं के रूप में फैल गया ॥२०॥

निक्षिप्तमात्रे गर्भे तु तेजोभिरभिरञ्जितम् ।
सर्वं पर्वतसन्नद्धं सौवर्णमभवद्वनम् ॥२१॥

गर्भ के छोड़ते ही सम्पूर्ण पर्वत और वहाँ का वन तेज से परिपूर्ण हो सुवर्ण रूप हो गया ॥२१॥

जातरूप[1]मिति ख्यातं तदाप्रभृति राघव ।
सुवर्णं पुरुषव्याघ्र हुताशनसमप्रभम् ॥२२॥

हे राम ! तब से यह सोना प्रसिद्ध हुआ और हे पुरुषव्याघ्र ! सुवर्ण की, अग्नि जैसी कान्ति हो गई ॥२२॥

तृणवृक्षलतागुल्मं सर्वं भवति काञ्चनम् ।
तं कुमारं ततो जातं सेन्द्राः सहमरुद्गणाः ॥२३॥

और वहाँ जो तृण, गुल्म, लताएँ थीं, वे भी सुवर्ण हो गईं। तदनन्तर उस तेज से कुमार का जन्म हुआ। तब इन्द्रादि देवताओं ने ॥२३॥

क्षीरसम्भावनार्थाय कृत्तिकाः समयोजयन् ।
ताः क्षीरं जातमात्रस्य कृत्वा समयमुत्तमम् ॥२४॥

उस बालक को दूध पिलाने के लिए कृत्तिकाओं को नियुक्त किया। निज पुत्र कहलाने की प्रतिज्ञा करा कर सब ने दूध पिलाया ॥२४॥

ददुः पुत्रोऽयमस्माकं सर्वासामिति निश्चिताः ।
ततस्तु देवताः सर्वाः कार्त्तिकेय इति ब्रुवन् ॥२५॥

---

१ जातरूपमिति = विख्यातमभूत् (गो०)

तब सब देवताओं ने कहा कि, यह बालक तुम्हारा पुत्र भी कहलावेगा और उसका कार्त्तिकेय नाम रख कर कहा ॥२५॥

पुत्रस्त्रैलोक्यविख्यातो भविष्यति न संशयः ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा स्कन्नं गर्भपरिस्रवे ॥२६॥

यह बालक निस्सन्देह तीनों लोकों में प्रसिद्ध होगा। यह सुन कृत्तिकाओं ने गिरे हुए गर्भ से उत्पन्न उस कुमार को ॥२६॥

स्नापयन्परया लक्ष्म्या दीप्यमानं यथाऽनलम् ।
स्कन्द इत्यब्रुवन्देवाः स्कन्नं गर्भपरिस्रवात् ॥२७॥

अच्छी तरह से स्नान कराया, जिससे उस बालक का शरीर अग्नि के समान दमकने लगा। यह वालक गर्भस्राव से उत्पन्न था, अतः देवताओं ने उसका नाम स्कन्द रखा ॥२७॥

कार्त्तिकेयं महाभागं काकुत्स्थ ज्वलनोपमम् ।
प्रादुर्भूतं ततः क्षीरं कृत्तिकानामनुत्तमम् ॥२८॥

हे रामचन्द्र! अग्नि के सदृश महाभाग कार्त्तिकेय के लिए कृत्तिकाओं के दूध उत्पन्न हो गया ॥२८॥

षण्णां षडाननो भूत्वा जग्राह स्तनजं पयः ।
गृहीत्वा क्षीरमेकाह्ना सुकुमारवपुस्तदा ॥२९॥

वह वालक छः मुखो से छहो कृत्तिकाओं के स्तनों का दूध पान करने लगा और एक ही दिन दूध पी कर, उस सुकुमार शरीर वाले वालक ने ॥२९॥

अजयत्स्वेन वीर्येण दैत्यसैन्यगणान्विभुः ।
सुरसेनागणपतिं ततस्तममलद्युतिम् ॥३०॥

अपने पराक्रम से दैत्यों की सेना को जीता। तब उस विमल द्युति वाले कुमार को, देवताओं की सेना के सेनापति पद पर ॥३०॥

अभ्यषिञ्चन्सुरगणाः समेत्याग्निपुरोगमाः ।
एष ते राम गङ्गाया विस्तरोऽभिहितो मया ।
कुमारसम्भवश्चैव धन्यः पुण्यस्तथैव च ॥३१॥

अग्नि आदि देवताओं ने अभिषिक्त किया। हे राम! यह गङ्गा जी का तथा कार्त्तिकेय के जन्म का वृत्तान्त विस्तारपूर्वक मैंने कहा। यह कथा बहुत अच्छी और पुण्यदायिनी है ॥३१॥

भक्तश्च यः कार्त्तिकेये काकुत्स्थ भुवि मानवः ।
आयुष्मान् पुत्रपौत्रैश्च स्कन्दसालोक्यतां व्रजेत् ॥३२॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

हे राम! इस पृथ्वीतल पर जो लोग इसे भक्तिपूर्वक पढ़ते हैं, वे आयुष्मान् और पुत्र-पौत्र वाले हो कर, अन्त में स्कन्दलोक में जाकर वास करते है ॥३२॥

बालकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

अष्टात्रिंशः सर्गः

—:❀:—

तां कथां कौशिको रामे निवेद्य मधुराक्षरम्* ।
पुनरेवापरं वाक्यं काकुत्स्थमिदमब्रवीत् ॥१॥

मधुरवाणी से उपरोक्त कथा श्रीरामचन्द्र जी को सुना कर, फिर विश्वामित्र जी श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥१॥

अयोध्याधिपतिः शूरः पूर्वमासीन्नराधिपः ।
सगरो नाम धर्मात्मा प्रजाकामः स चाप्रजाः ॥२॥

हे वीर! पहले अयोध्यापुरी में एक सगर नाम के राजा थे। उनके पुत्र नहीं था, अतः उन्हें पुत्र-प्राप्ति की इच्छा थी ॥२॥

वैदर्भदुहिता राम केशिनी नाम नामतः ।
ज्येष्ठा सगरपत्नी सा धर्मिष्ठा सत्यवादिनी ॥३॥

सगर की पटरानी का नाम केशिनी था। वह विदर्भ देश के राजा की बेटी और बड़ी धर्मिष्ठा तथा सत्यवादिनी थी ॥३॥

अरिष्टनेमिदुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
द्वितीया सगरस्यासीत्पत्नी सुमतिसंज्ञिता ॥४॥

इनकी दूसरी रानी का नाम सुमति था। वह अरिष्टनेमि की बेटी और अत्यन्त रूपवती अर्थात् सुन्दरी थी ॥४॥

ताभ्यां सह तदा राजा पत्नीभ्यां तप्तवांस्तपः ।
हिमवन्तं समासाद्य भृगुप्रस्रवणे गिरौ ॥५॥

---

*पाठान्तरे—कुशिकात्मज. ।

उन दोनों रानियों सहित महाराज सगर हिमालय के भृगुप्रस्र-वण नामक प्रदेश में जाकर तप करने लगे ॥५॥

[टिप्पणी—भृगुप्रस्रवण उस प्रदेश का नाम इसलिए पड़ा था कि, वहाँ भृगु जी महाराज स्वयं तप करते थे ।

अथ वर्षशते पूर्णे तपसाऽऽराधितो मुनिः ।
सगराय वरं प्रादाद् भृगुः सत्यवतां वरः ॥६॥

तपस्या करते-करते महाराज सगर को, जब सौ वर्ष पूरे हो गए तब सत्यवादी महर्षि भृगु ने सगर की तपस्या से प्रसन्न हो, उन्हें यह वर दिया ॥६॥

अपत्यलाभः सुमहान् भविष्यति तवानघ ।
कीर्त्तिं चाप्रतिमां लोके प्राप्स्यसे पुरुषर्षभ ॥७॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हे अनघ ! तुम्हें बहुत से पुत्रों की प्राप्ति होगी और अतुल कीर्ति भी मिलेगी ॥७॥

एका जनयिता तात पुत्रं वंशकरं तव ।
षष्टिं पुत्रसहस्राणि अपरा जनयिष्यति ॥८॥

(इन दो रानियों में से) एक के तो वंश बढ़ाने वाला केवल एक ही पुत्र होगा और दूसरी के साठ हजार पुत्र पैदा होंगे ॥८॥

भाषमाणं महात्मानं राजपुत्र्यौ प्रसाद्य तम् ।
ऊचतुः परमप्रीते कृताञ्जलिपुटे तदा ॥९॥

जब मुनि ने ऐसा कहा, तब दोनों रानियों ने हाथ जोड़ कर कहा ॥९॥

एकः कस्याः सुतो ब्रह्मन्का बहून्जनयिष्यति ।
श्रोतुमिच्छावहे ब्रह्मन् सत्यमस्तु वचस्तव ॥१०॥

हे ब्रह्मन् ! आपका वरदान सत्य हो, किन्तु यह तो बतलाइए कि, एक पुत्र किसके होगा और साठ हजार पुत्र किसके होगे ॥१०॥

तयोस्तद्वचनं श्रुत्वा भृगुः परमधार्मिकः ।
उवाच परमां वाणीं स्वच्छन्दोऽत्र विधीयताम् ॥११॥

उन रानियों के इस प्रश्न के उत्तर में भृगु जी महाराज ने कहा—यह तुम दोनो की इच्छा पर निर्भर है। अर्थात् जो जैसा चाहेगी उसके वैसा होगा ॥११॥

एको वंशकरो वाऽस्तु बहवो वा महाबलाः ।
कीर्त्तिमन्तो महोत्साहाः का वा कं वरमिच्छति ॥१२॥

तुम दोनो अलग-अलग बतलाओ कि, तुममे से कौन वंश की वृद्धि करने वाला एक पुत्र और कौन बड़े बलवान् कीर्तिशाली और अमित उत्साही साठ हजार पुत्रप्राप्ति का वर चाहती है ॥१२॥

मुनेस्तु वचनं श्रुत्वा केशिनी रघुनन्दन ।
पुत्रं वंशकरं राम जग्राह नृपसन्निधौ ॥१३॥

हे रघुनन्दन ! भृगु जी के इस प्रश्न को सुन केशिनी ने वंशकर एक पुत्रप्राप्ति का वर प्राप्त किया ॥१३॥

षष्टिं पुत्रसहस्राणि सुपर्णभगिनी तदा ।
महोत्साहान्कीर्तिमतो जग्राह सुमतिः सुतान् ॥१४॥

और गरुड़ की बहिन सुमति को बलवान् कीर्त्तिमान् साठ हजार पुत्र होने का वरदान मिला ॥१४॥

प्रदक्षिणमृषिं कृत्वा शिरसाऽभिप्रणम्य च ।
जगाम स्वपुरं राजा सभार्यो रघुनन्दन ॥१५॥

हे राम ! महर्षि भृगु की परिक्रमा कर और उनको शीश नवा प्रणाम कर रानियों सहित महाराज सगर अपनी राजधानी को लौट गये ॥१५॥

अथ काले गते तस्मिञ्ज्येष्ठा पुत्रं व्यजायत ।
असमञ्ज इति ख्यातं केशिनी सगरात्मजम् ॥१६॥

कुछ समय बीतने पर सगर की पटरानी केशनी के गर्भ से असमञ्जस नाम का राजकुमार उत्पन्न हुआ ॥१६॥

सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुम्बं व्यजायत ।
षष्टिः पुत्राः सहस्राणि तुम्बभेदाद्विनिस्सृताः ॥१७॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! रानी सुमति के गर्भ से एक तूँबा निकला । उस तूँबे को फोड़ने पर उसमें से साठ हजार बालक निकले ॥१७॥

घृतपूर्णेषु कुम्भेषु धात्र्यस्तान् समवर्धयन् ।
कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे ॥१८॥

उन सब को दाइयों ने घी से भरे हुए घड़ों में रख, पाला-पोसा और इस प्रकार बहुत समय बीतने पर वे सब जवान हुए ॥१८॥

अथ दीर्घेण कालेन रूपयौवनशालिनः ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्याभवंस्तदा ॥१९॥

बहुत दिनों में सगर के ये साठ हजार पुत्र जवान हुए ॥१६॥

स च ज्येष्ठो नरश्रेष्ठः सगरस्यात्मसम्भवः ।
बालान् गृहीत्वा तु जले सरय्वा रघुनन्दन ॥२०॥

हे राम ! सगर का ज्येष्ठ राजकुमार असमञ्जस अयोध्यावासियों के बालको को पकड़ कर सरयू नदी में फेंक दिया करता ॥२०॥

प्रक्षिप्य प्रहसन्नित्यं मज्जतस्तान्निरीक्ष्य वै ।
एवं पापसमाचारः सज्जनप्रतिबाधकः ॥२१॥

और जब वे डूबने लगते, तब वह उन्हें डूबते हुए देख प्रसन्न होता था । वह बड़ा दुराचारी हो गया और सज्जनो को सताने लगा अर्थात् उसके आचरण सज्जनो के आचरणो से बहुत दूर थे ॥२१॥

पौराणामहिते युक्तः पुत्रो निर्वासितः पुरात् ।
तस्य पुत्रोऽंशुमान्नाम असमञ्जस्य वीर्यवान् ॥२२॥

महाराज सगर ने, पुरवासियों को सताने वाले असमञ्जस को देशनिकाले का दण्ड दिया । असमञ्जस के अंशुमान नामक एक पराक्रमी पुत्र था ॥२२॥

सम्मतः सर्वलोकस्य सर्वस्यापि प्रियंवदः ।
ततः कालेन महता मतिः समभिजायत ।
सगरस्य नरश्रेष्ठ यजेयमिति निश्चिता ॥२३॥

जो सब की सम्मति से चलता था, सब से प्रिय वचन बोलता था । बहुत दिनो बाद महाराज सगर को इच्छा हुई कि, एक यज्ञ करें ॥२३॥

स कृत्वा निश्चयं राम सोपाध्यायगणस्तदा ।
यज्ञकर्मणि वेदज्ञो यष्टुं समुपचक्रमे ॥२४॥

इति अष्टात्रिंशः सर्गः ॥

हे राम ! ऐसा निश्चय कर, वे ऋत्विजों को बुला कर, यज्ञ करने लगे ॥२४॥

बालकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—❀—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—:o.—

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा कथान्ते रघुनन्दनः ।
उवाच परमप्रीतो मुनिं दीप्तमिवानलम् ॥१॥

उक्त कथा समाप्त होने पर, श्रीरामचन्द्र जी परम प्रीति के साथ अग्निवत् देदीप्यमान विश्वामित्र मुनि से बोले ॥१॥

श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते विस्तरेण कथामिमाम् ।
पूर्वको मे कथं ब्रह्मन् यज्ञं वै समुपाहरत् ॥२॥

हे ब्रह्मन् ! आपका मङ्गल हो। मैं विस्तारपूर्वक यह सुनना चाहता हूँ कि, मेरे पूर्वज महाराज सगर ने किस प्रकार यज्ञ किया ॥२॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितः ।
विश्वामित्रस्तु काकुत्स्थमुवाच प्रहसन्निव[1] ॥३॥

---

१ प्रहसन्निव = प्रसन्नवदन इत्यर्थः (गो०)

यह सुन विश्वामित्र जी हर्षित हो, श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे ॥३॥

श्रूयतां विस्तरो राम सगरस्य महात्मनः ।
शङ्करश्वशुरो नाम हिमवानचलोत्तमः ॥४॥

हे राम ! महाराज सगर का चरित्र विस्तारपूर्वक सुनिए। शङ्कर के ससुर पर्वतोत्तम हिमाचल ॥४॥

विन्ध्यपर्वतमासाद्य निरीक्षेते परस्परम् ।
तयोर्मध्ये प्रवृत्तोऽभूद्यज्ञः स पुरुषोत्तम ॥५॥

और विन्ध्याचल एक दूसरे को देखते हैं, (अर्थात् हिमालय और विन्ध्याचल पर्वत के बीच मैदान है,) हे पुरुषोत्तम ! इन्हीं दोनों पर्वतों के बीच की भूमि पर महाराज सगर का यज्ञ हुआ था ॥५॥

स हि देशो नरव्याघ्र प्रशस्तो यज्ञकर्मणि ।
तस्याश्वचर्यां काकुत्स्थ दृढधन्वा महारथः ॥६॥

हे नरव्याघ्र ! हिमालय और विन्ध्य पर्वत के बीच की भूमि यज्ञकर्म के लिए उत्तम है। हे काकुत्स्थ ! उस यज्ञ में छोड़े हुए घोड़े की रक्षा के लिए दृढ धनुषधारी, महारथी ॥६॥

अंशुमानकरोत्तात सगरस्य मते स्थितः ।
तस्य पर्वणि संयुक्तं यजमानस्य वासवः ॥७॥

अंशुमान महाराज सगर के आदेश से नियुक्त हुए। अनन्तर उस यजमान के पर्व दिन इन्द्र ॥७॥

राक्षसीं तनुमास्थाय यज्ञीयाश्वमपाहरत् ।
ह्रियमाणे तु काकुत्स्थ तस्मिन्नश्वे महात्मनः ॥८॥

राक्षस का रूप धर कर यज्ञीय अश्व हर ले गए। जब यज्ञीय अश्व ले कर इन्द्र चले, तब हे राम ! ॥८॥

उपाध्यायगणाः सर्वे यजमानमथाब्रुवन् ।
अयं पर्वणि वेगेन यज्ञीयाश्वोऽपनीयते ॥९॥

सब ऋत्विग्गण ने राजा से कहा कि, यज्ञ का घोड़ा कोई बड़ी तेज़ी से चुरा कर लिये जाता है ॥९॥

हर्तारं जहि काकुत्स्थ हयश्चैवोपनीयताम् ।
उपाध्यायवचः श्रुत्वा तस्मिन्सदसि पार्थिवः ॥१०॥

अतः हे काकुत्स्थ ! घोड़ा चुरा कर भागने वाले को मार कर घोड़ा लाइए। उस यज्ञ मे ऋत्विजों के ये वचन सुन कर, राजा ॥१०॥

षष्टिं पुत्रसहस्राणि वाक्यमेतदुवाच ह ।
गतिं पुत्रा न पश्यामि रक्षसां पुरुषर्षभाः ॥११॥

अपने साठ हजार पुत्रों से यह बोले कि, हे पुत्रो ! यज्ञीय अश्व के हरने वाले दुष्ट राक्षस नहीं दिखलाई पड़ते कि, वे किस मार्ग से घोड़ा चुरा कर ले गए ॥११॥

मन्त्रपूतैर्महाभागैरास्थितो हि महाक्रतुः ।
तद्गच्छत विचिन्वध्वं पुत्रका भद्रमस्तु वः ॥१२॥

यज्ञ बड़े-बड़े मंत्रवेत्ता महात्माओं द्वारा कराया जाता है, जिससे किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो। अब तुम लोगों को चाहिए कि, तुरन्त जा कर घोड़े का पता लगाओ। तुम्हारा मङ्गल हो ॥१२॥

समुद्रमालिनीं सर्वां पृथिवीमनुगच्छत।
एकैकं योजनं पुत्रा विस्तारमभिगच्छत ॥१३॥

समुद्र से घिरी हुई जितनी पृथ्वी है, सब ढूँढ़ना। एक-एक योजन ढूँढ़ कर आगे बढ़ना ॥१३॥

यावत्तुरगसन्दर्शस्तावत्खनत मेदिनीम्।
तं चैव हयहर्तारं मार्गमाणा ममाज्ञया ॥१४॥

मेरी आज्ञा से अश्वहर्त्ता को ढूँढ़ते हुए तब तक पृथ्वी खोदते जाना जब तक घोड़ा न दिखाई दे ॥१४॥

दीक्षितः पौत्रसहितः सोपाध्यायगणो ह्यहम्।
इह स्थास्यामि भद्रं वो यावत्तुरगदर्शनम् ॥१५॥

मैं तो यज्ञीय दीक्षा लिये हुए हूँ। सो जब तक मैं घोड़े को देख न लूँ, तब तक अंशुमान और उपाध्यायों सहित यहीं रहूँगा। जाओ, तुम्हारा मङ्गल हो ॥१५॥

इत्युक्ता हृष्टमनसो राजपुत्रा महाबलाः।
जग्मुर्महीतलं राम पितुर्वचनयन्त्रिताः ॥१६॥

हे राम! वे महाबली राजकुमार प्रसन्न हो और पिता की आज्ञा पा कर, (घोड़े और घोड़े के चुराने वाले को) पृथ्वी भर में ढूँढ़ने लगे ॥१६॥

योजनायामविस्तारमेकैको धरणीतलम् ।
बिभिदुः पुरुषव्याघ्र वज्रस्पर्शसमैर्नखैः ॥१७॥

हे नरशार्दूल ! सारी पृथ्वी खोज चुकने के पीछे, अपने वज्र के समान नखों से प्रत्येक राजकुमार एक-एक योजन पृथ्वी खोदने लगे ॥१७॥

शूलैरशनिकल्पैश्च हलैश्चापि सुदारुणैः ।
भिद्यमाना वसुमती ननाद रघुनन्दन ॥१८॥

हे रघुनन्दन ! उस समय बड़े-बड़े त्रिशूलों और मजबूत हलों से पृथ्वी खोदते समय पृथ्वी पर हाहाकार मच गया ॥१८॥

नागानां वध्यमानानामसुराणां च राघव ।
राक्षसानां च दुर्धर्षः सत्त्वानां निनदोऽभवत् ॥१९॥

पृथिवी खोदने में अनेक नाग, दैत्य और बड़े-बड़े दुधर्ष राक्षस मारे गए और अनेक घायल हुए ॥१९॥

योजनानां सहस्राणि षष्टिं तु रघुनन्दन ।
बिभिदुर्धरणीं वीरा रसातलमनुत्तमम् ॥२०॥

हे रघुनन्दन ! उन वीर राजकुमारों ने साठ हज़ार योजन भूमि खोद डाली और खोदते-खोदते वे पाताल तक पहुँच गए ॥२०॥

एवं पर्वतसंबाधं जम्बूद्वीपं नृपात्मजाः ।
खनन्तो नृपशार्दूल सर्वतः परिचक्रमुः ॥२१॥

हे नृपशार्दूल ! इस प्रकार वे राजकुमार पर्वतों सहित इस जम्बूद्वीप को खोदते और चारों ओर ढूँढ़ते फिरते थे ॥२१॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सासुराः सहपन्नगाः ।
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥२२॥

तब तो सब देवता, गन्धर्व, असुर और पन्नग विकल हो ब्रह्मा जी के पास गए ॥२२॥

ते प्रसाद्य महात्मानं विषण्णवदनास्तदा ।
ऊचुः परमसंत्रस्ताः पितामहमिदं वचः ॥२३॥

ब्रह्मा जी को प्रसन्न कर वे उदास मन अत्यन्त भयभीत हो, ब्रह्मा जी से यह बोले ॥२३॥

भगवन् पृथिवी सर्वा खन्यते सगरात्मजैः ।
बहवश्च महात्मानो हन्यन्ते जलवासिनः ॥२४॥

हे भगवन्! महाराज सगर के पुत्र सारी पृथ्वी खोदे डालते हैं और उन लोगों ने अनेक सिद्धों तथा जलवासियों को मार डाला है ॥२४॥

अयं यज्ञहरोऽस्माकमनेनाश्वोऽपनीयते ।
इति ते सर्वभूतानि हिंसन्ति सगरात्मजाः ॥२५॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

सगर के पुत्रों के सामने जो पड़ जाता है, उसे वे यह कह कर मार डालते हैं कि, हमारे यज्ञीय अश्व का चोर यही है, यही हमारा घोड़ा चुरा ले गया है ॥२५॥

बालकाण्ड का उनतालीसवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—०—

समन्युरब्रवीद्वाक्यं सगरो रघुनन्दन ।
भूयः खनत भद्रं वो निर्भिद्य वसुधातलम् ॥१०॥

सगर, हे राम ! कुपित हो, उनसे बोले—जाओ और पुनः पृथ्वी खोदो ॥१०॥

अश्वहर्तारमासाद्य कृतार्थाश्च निवर्तय ।
पितुर्वचनमास्थाय सगरस्य महात्मनः ॥११॥

और घोड़ा चुराने वाले को पकड़ और सफल हो कर ही लौटो । महाराज सगर की इस आज्ञा के अनुसार ॥११॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि रसातलमभिद्रवन् ।
खन्यमाने ततस्तस्मिन्ददृशुः पर्वतोपमम् ॥१२॥
दिशागजं विरूपाक्षं धारयन्तं महीतलम् ।
सपर्वतवनां कृत्स्नां पृथिवीं रघुनन्दन ॥१३॥

वे साठ हजार राजकुमार रसातल की ओर दौड़े और खोदते-खोदते उन्होंने उस पर्वताकार विरूपाक्ष दिग्गज को देखा, जो पृथ्वी-मण्डल को धारण किए हुए है। हे रघुनन्दन ! पर्वत सहित उस दिशा की समस्त पृथ्वी को ॥१२॥१३॥

शिरसा धारयामास विरूपाक्षो महागजः ।
यदा पर्वणि काकुत्स्थ विश्रामार्थं महागजः ॥१४॥

महागज विरूपाक्ष अपने सिर पर धारण किए रहता है। जब कभी वह महागज थक जाने पर दम लेने के लिए ॥१४॥

खेदाच्चालयते शीर्षं भूमिकम्पस्तदा भवेत् ।
तं ते प्रदक्षिणं कृत्वा दिशापालं महागजम् ॥१५॥

अपना सिर हिलाता है, तभी पृथ्वी डोलती और भूडोल होता है। राजकुमार-दिग्पाल गजेन्द्र को परिक्रमा कर, ॥१५॥

[टिप्पणी—प्राचीन धारणा, भूकम्प होने की यही है।]

मानयन्तो हि ते राम जग्मुर्भित्त्वा रसातलम् ।
ततः पूर्वां दिशं भित्त्वा दक्षिणां बिभिदुः पुनः ॥१६॥

तथा पूजन करके हे राम! वे रसातल खोदते हुए आगे बढ़े और पूर्व दिशा को खोद कर वे दक्षिण दिशा को पुनः खोदने लगे ॥१६॥

दक्षिणस्यामपि दिशि ददृशुस्ते महागजम् ।
महापद्मं महात्मानं सुमहत्पर्वतोपमम् ॥१७॥

दक्षिण दिशा में भी उन्होंने बड़े विशाल पर्वतोपम डीलडौल के दिग्गज महापद्म को देखा ॥१७॥

शिरसा धारयन्तं ते विस्मयं जग्मुरुत्तमम् ।
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा सगरस्य महात्मनः ॥१८॥

उसे अपने सिर पर उस दिशा की पृथ्वी रखे हुए देख, वे लोग अत्यन्त विस्मित हुए। महाराज सगर के पुत्रों न उसकी भी परिक्रमा की ॥१८॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि पश्चिमां बिभिदुर्दिशम् ।
पश्चिमायामपि दिशि महान्तमचलोपमम् ।१९॥

तूने ही हमारे यज्ञ का घोड़ा चुराया है। तू बड़ा दुर्बुद्धि है। देख, हम सब महाराज सगर के पुत्र आ पहुँचे ॥२८॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां कपिलो रघुनन्दन ।
रोषेण महताविष्टो हुंकारमकरोत्तदा ॥२९॥

हे रघुनन्दन! सगर के पुत्रों की ये बातें सुन, कपिल देव अत्यन्त क्रुद्ध हुए और "हुंकार" शब्द किया ॥२९॥

ततस्तेनाप्रमेयेण कपिलेन महात्मना ।
भस्मराशीकृताः सर्वे काकुत्स्थ सगरात्मजाः ॥३०॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे राम! अप्रमेय बलशाली महात्मा कपिल ने सगर के सब पुत्रों को भस्म कर, भस्म का एक ढेर लगा दिया ॥३०॥

बालकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—:०:—

एकचत्वारिंशः सर्गः

— ० —

पुत्रांश्चिरगताञ्ज्ञात्वा सगरो रघुनन्दन ।
नप्तारमब्रवीद्राजा दीप्यमानं स्वतेजसा ॥१॥

हे रामचन्द्र! जब महाराज सगर ने देखा कि, उन राजकुमारों को गए बहुत दिन हो चुके (और वे न लौटे) तब अपने तेजस्वी दीप्तमान पौत्र अंशुमान से कहा ॥१॥

शूरश्च कृतिविद्यश्च पूर्वैस्तुल्योऽसि तेजसा ।
पितृणां गतिमन्विच्छ येन चाश्वोऽपहारितः ॥२॥

हे वत्स ! तुम शूरवीर हो, विद्वान् हो और अपने पूर्वजों के समान तेजस्वी भी हो। जाकर अपने पितृव्यों (चाचाओं) का और घोड़ा चुराने वाले का पता लगाओ ॥२॥

अन्तर्भौमानि सत्वानि वीर्यवन्ति महान्ति च ।
तेषां त्वं प्रतिघातार्थं सासिं गृह्णीष्व कार्मुकम् ॥३॥

इस पृथ्वी के भीतर बिलों में बड़े-बड़े पराक्रमी जीवधारी हैं। अतः उनको हराने के लिए तलवार व धनुष बाण लिए रहो ॥३॥

अभिवाद्याभिवाद्यांस्त्वं हत्वा विघ्नकरानपि ।
सिद्धार्थः सन्निवर्तस्व मम यज्ञस्य पारगः ॥४॥

जो वन्दना करने योग्य पुरुष मिलें, उनको प्रणाम करना और जो विघ्नकारक हों उनका वध करना। इस प्रकार कार्य सिद्ध कर लौटना, जिससे (अधूरा) यज्ञ पूरा हो ॥४॥

एवमुक्तोंऽशुमान् सम्यक्सगरेण महात्मना ।
धनुरादाय खड्गं च जगाम लघुविक्रमः ॥५॥

अपने बाबा के इस प्रकार समझाने पर और धनुष-बाण एवं तलवार ले अंशुमान तुरन्त चल दिया ॥५॥

स खातं पितृभिर्मार्गमन्तर्भौमं महात्मभिः ।
प्रापद्यत नरश्रेष्ठस्तेन राज्ञाभिचोदितः ॥६॥

महाराज की आज्ञा के अनुसार वह उस मार्ग पर जा पहुँचा जिसे उसके पितृव्यों ने खोद कर बनाया था और उस मार्ग से पाताल में पहुँच गया ॥६॥

दैत्यदानवरक्षोभिः पिशाचपतगोरगैः ।
पूज्यमानं महातेजा दिशागजमपश्यत ॥७॥

देव, दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच और नाग—मार्ग में जो-जो मिलता वही इसका आदर-सत्कार करता। जाते-जाते महातेजस्वी अंशुमान ने एक दिग्गज को देखा ॥७॥

स तं प्रदक्षिणं कृत्वा पृष्ट्वा चैव निरामयम् ।
पितृन् स परिपप्रच्छ वाजिहर्त्तारमेव च ॥८॥

उस दिग्गज की परिक्रमा कर तथा उससे शिष्टाचार की बातें कर, अर्थात् कुशल प्रश्नादि कर, अंशुमान ने उस दिग्गज से अपने चाचाओं का और घोड़े के हरने वाले का पता पूछा ॥८॥

दिशागजस्तु तच्छ्रुत्वा प्रत्याहांशुमतो वचः ।
आसमञ्ज कृतार्थस्त्वं सहाश्वः शीघ्रमेष्यसि ॥९॥

दिग्गज ने उत्तर में कहा कि, हे असमञ्जस के पुत्र अंशुमान, तुम अपना कार्य सिद्ध कर घोड़ा लेकर शीघ्र लौटोगे ॥९॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सर्वानेव दिशागजान् ।
यथाक्रमं यथान्यायं प्रष्टु समुपचक्रमे ॥१०॥

उस दिग्गज के यह वचन सुन, अंशुमान आगे बढ़ा और यथाक्रम शेष दिग्गजों से भी वही पूछा ॥१०॥

तैश्च सर्वैर्दिशापालैर्वाक्यज्ञैर्वाक्यकोविदैः ।
पूजितः सहयश्चैव गन्तासीत्यभिचोदितः ॥११॥

उन सब दिग्गजों ने बात करने मे चतुर अंशुमान द्वारा पूजित होकर, वही बात कही अर्थात् आगे बढ़े चले जाओ ॥११॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा जगाम लघुविक्रमः ।
भस्मराशीकृता यत्र पितरस्तस्य सागराः ॥१२॥

उनके इस प्रकार के वचन सुन, अंशुमान शीघ्र वहाँ पहुँच गया, जहाँ सगर के पुत्र और उसके चाचाओ के भस्म किए हुए शरीर की राख का ढेर पड़ा था ॥१२॥

स दुःखवशमापन्नस्त्वसमञ्जसुतस्तदा ।
चुक्रोश परमार्तस्तु वधात्तेषां सुदुःखितः ॥१३॥

अंशुमान उसे देख बहुत दुःखी हुआ और उनकी मृत्यु पर शोकान्वित हो रोने लगा ॥१३॥

यज्ञीयं चं हयं तत्र चरन्तमविदूरतः ।
ददर्श पुरुषव्याघ्रो दुःखशोकसमन्वितः ॥१४॥

दुःख-शोकातुर अंशुमान ने समीप ही यज्ञीय अश्व को भो चरते हुए देखा ॥१४॥

स तेषां राजपुत्राणां कर्तुकामो जलक्रियाम् ।
सलिलार्थी महातेजा न चापश्यज्जलाशयम् ॥१५॥

न्यवेदयद्यथावृत्तं सुपर्णवचनं तथा ।
तच्छ्रुत्वा घोरसङ्काशं वाक्यमंशुमतो नृपः ॥२४॥

उनको गरुड़ जी की कही सब बातें सुनाईं। अंशुमान की उन दारुण बातों को सुन, महाराज सगर बहुत दुखी हुए ॥२४॥

यज्ञं निर्वर्तयामास यथाकल्पं यथाविधि ।
स्वपुरं चागमच्छ्रीमानिष्टयज्ञो महीपतिः ।
गङ्गायाश्चागमे राजा निश्चयं नाध्यगच्छत ॥२५॥

तदनन्तर उन्होंने यथाविधि यज्ञ पूरा किया और अपनी राजधानी को लौट गए। बहुत सोचने पर भी महाराज सगर को गङ्गा जी के लाने का कोई उपाय न सूझ पड़ा ॥२५॥

अगत्वा निश्चयं राजा कालेन महता महान् ।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा दिवं गतः ॥२६॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

बहुत काल तक सोचने पर भी उस सम्बन्ध में महाराज सगर कुछ भी निश्चय न कर सके। अन्त में तेतीस हजार वर्षों तक राज्य कर वे स्वर्गवासी हुए ॥२६॥

बालकाण्ड का इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—.❀.—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

कालधर्मं गते राम सगरे प्रकृतीजनाः ।
राजानं रोचयामासुरंशुमन्तं सुधार्मिकम् ॥१॥

महाराज सगर के स्वर्गवासी होने पर, मंत्रियों ने बड़े धर्मात्मा महाराज अंशुमान को राजसिंहासन पर बैठाया ॥१॥

स राजा सुमहानासीदंशुमान् रघुनन्दन ।
तस्य पुत्रो महानासीद्दिलीप इति विश्रुतः ॥२॥

हे रघुनन्दन! महाराज अंशुमान बड़े प्रतापी राजा हुए। उनके पुत्र जगतप्रसिद्ध महाराज दिलीप हुए ॥२।

तस्मिन्राज्यं समावेश्य दिलीपे रघुनन्दन ।
हिमवच्छिखरे पुण्ये तपस्तेपे सुदारुणम् ॥३॥

महाराज अंशुमान ने अपने पुत्र दिलीप को राजसिंहासन पर बिठा कर स्वयं हिमालय के शिखर पर जा कठोर तप किया ॥३॥

द्वात्रिंशच्च सहस्राणि वर्षाणि सुमहायशाः ।
तपोवनं गतो राम स्वर्गं लेभे महायशाः ॥४॥

अन्त में बत्तीस हजार वर्ष तप करने के बाद वे महायशस्वी महाराज अंशुमान भी स्वर्गवासी हुए (किन्तु गङ्गा नहीं आई) ॥४॥

दिलीपस्तु महातेजाः श्रुत्वा पैतामहं वधम् ।
दुःखोपहतया बुद्ध्या निश्चयं नाधिगच्छति ॥५॥

महाराजा दिलीप अपने पितामहों के वध का वृत्तान्त जान कर मर्माहत हुए, किन्तु (श्रीगङ्गा जी के लाने का) कोई उपाय वे भी निश्चय न कर सके ॥५॥

कथं गङ्गावतरणं कथं तेषां जलक्रिया ।
तारयेयं कथं चैनानिति चिन्तापरोऽभवत् ॥६॥

वे नित्य ही सोचा करते कि, श्रीगङ्गा जी किस प्रकार आवें, पितामहों की (उनके जल से) जलक्रिया कैसे की जाय और हम उनको किस प्रकार तारें ॥६॥

तस्य चिन्तयतो नित्यं धर्मेण विदितात्मनः ।
पुत्रो भगीरथो नाम जज्ञे परमधार्मिकः ॥७॥

धर्मात्मा सुप्रसिद्ध महाराज दिलीप नित्य ऐसा सोचा करते कि, इतने में उनके परमधार्मिक भगीरथ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥७॥

दिलीपस्तु महतेजा यज्ञैर्बहुभिरिष्टवान् ।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत् ॥८॥

महाराज दिलीप ने बहुत यज्ञ किए और तीस हजार वर्ष राज्य भी किया ॥८॥

अगत्वा निश्चयं राजा तेषामुद्धरणं प्रति ।
व्याधिना नरशार्दूल कालधर्ममुपेयिवान् ॥९॥

महाराज (भी) पितरों के उद्धार के लिए चिन्तत थे कि, इतने में नरशार्दूल दिलीप बीमार हुए और मर गए ॥९॥

इन्द्रलोकं गतो राजा स्वार्जितेनैव कर्मणा ।
राज्ये भगीरथं पुत्रमभिषिच्य नरर्षभः ॥१०॥

अपने पुण्यकर्मों के फल से दिलीप स्वर्ग गए और अपने सामने ही नरश्रेष्ठ महाराज अपने पुत्र भगीरथ को राजसिंहासन पर बिठा गए ॥१०॥

भगीरथस्तु राजर्षिर्धार्मिको रघुनन्दन ।
अनपत्यो महातेजाः प्रजाकामः स चाप्रजः ॥११॥

हे रघुनन्दन ! महाराज भगीरथ परमधार्मिक राजर्षि थे और निस्सन्तान होने से वे सन्तान होने की इच्छा करते थे ॥११॥

मन्त्रिष्वाधाय तद्राज्यं गङ्गावतरणे रतः ।
स तपो दीर्घमातिष्ठद् गोकर्णे रघुनन्दन ॥१२॥

हे रघुनन्दन ! जब उनके पुत्र न हुआ, तब राज्यभार अपने मन्त्रियों को सौंप, वे स्वयं गोकर्ण नामक तीर्थ पर जा, गङ्गावतरण के लिये बहुत दिनों तक तपस्या करते रहे ॥१२॥

[टिप्पणी—गोकर्ण एक तीर्थ है जो गोश्रा से ३० मील उत्तरी किनारे पर है । सीतापुर प्रान्त मे गोला गोकरननाथ नामक एक स्थान है ।]

ऊर्ध्वबाहुः पञ्चतपा मासाहारो जितेन्द्रियः ।
तस्य वर्षसहस्राणि घोरे तपसि तिष्ठतः ॥१३॥

वे ऊपर को हाथ उठाए रखते, पञ्चाग्नि तापते, महीनों बाद किसी एक दिन भोजन करते और इन्द्रियों को वश मे रखते । इस प्रकार एक हजार वर्ष तक वे कठोर तप करते रहे ॥१३॥

अतीतानि महाबाहो तस्य राज्ञो महात्मनः ।
सुप्रीतो भगवान् ब्रह्मा प्रजानां पतिरीश्वरः ॥१४॥

हे महाबाहो ! एक हजार वर्ष बीतने पर लोकों के स्वामी और प्रभु ब्रह्मा जी भगीरथ पर सुप्रसन्न हुए ॥१४॥

ततः सुरगणैः सार्धमुपागम्य पितामहः ।
भगीरथं महात्मानं तप्यमानमथाब्रवीत् ॥१५॥

और देवताओं को साथ ले, वे तपस्या में लगे हुए, महात्मा भगीरथ के पास जा कर, बोले ॥१५॥

भगीरथ महाभाग प्रीतस्तेऽहं जनेश्वर ।
तपसा च सुतप्तेन वरं वरय सुव्रत ॥१६॥

हे महाराज भगीरथ ! तुमने बड़ी कठिन तपस्या की, अतः हम तुम पर प्रसन्न हैं । हे सुव्रत ! वर माँगो ॥१६॥

तमुवाच महातेजाः सर्वलोकपितामहम् ।
भगीरथो महाभागः कृताञ्जलिरुपस्थितः ॥१७॥

यह सुन, महातेजस्वी भगीरथ ने हाथ जोड़ कर, ब्रह्मा जी से कहा ॥१७॥

यदि मे भगवन् प्रीतो यद्यस्ति तपसः फलम् ।
सगरस्यात्मजाः सर्वे मत्तः सलिलमाप्नुयुः ॥१८॥

हे भगवन् ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और मेरे तप का फल देना चाहते हैं, तो यह वर दीजिए कि सगर के पुत्रों को मेरे द्वारा गङ्गाजल प्राप्त हो ॥१८॥

गङ्गायाः सलिलक्लिन्ने भस्मन्येषां महात्मनाम् ।
स्वर्गं गच्छेयुरत्यन्तं सर्वे मे प्रपितामहाः ॥१९॥

क्योंकि हमारे महात्मा परदादे तभी स्वर्गवासी होंगे, जब उनकी राख गङ्गाजल से भींगेगी अर्थात् उनकी राख गङ्गा जी में पड़ेगी ॥१६॥

देया च सन्ततिर्देव नावसीदेत् कुलं च नः ।
इक्ष्वाकूणां कुले देव एष मेऽस्तु वरः परः ॥२०॥

हे देव! दूसरा वर मैं माँगता हूँ कि, मेरा इक्ष्वाकुवंश नष्ट न हो। इसलिए मुझे सन्तान भी दीजिए। यह मैं दूसरा वर चाहता हूँ। ॥२०॥

उक्तवाक्यं तु राजानं सर्वलोकपितामहः ।
प्रत्युवाच शुभां वाणीं मधुरां मधुराक्षराम् ॥२१॥

महाराज भगीरथ के ये वाक्य सुन, सर्वलोकपितामह ब्रह्मा यह मधुर एवं शुभ वाणी बोले ॥२१॥

मनोरथो महानेष भगीरथ महारथ ।
एवं भवतु भद्रं ते इक्ष्वाकुकुलवर्धन ॥२२॥

हे महारथी भगीरथ! तेरा मनोरथ है तो बड़ा, किन्तु वह पूर्ण होगा अर्थात् तुझे पुत्र की प्राप्ति होगी। हे इक्ष्वाकुकुलवर्धन! तेरा मङ्गल हो ॥२२॥

इयं हैमवती गङ्गा ज्येष्ठा हिमवतः सुता ।
गङ्गायाः पतनं राजन् पृथिवी न सहिष्यति ।
तां वै धारयितुं वीर नान्यं पश्यामि शूलिनः ॥२३॥

हिमालय की ज्येष्ठा पुत्री यह गङ्गा जी जब (बड़े वेग से) पृथ्वी पर गिरेंगी, तब इनका वेग पृथ्वी न सम्हाल सकेगी।

उनके वेग को सम्हाल सकने की सामर्थ्य शिव को छोड़ और किसी में नहीं है ॥२३॥

तमेवमुक्त्वा राजानं गङ्गां चाभाष्य लोककृत् ।
जगाम त्रिदिवं देवः सह देवैर्मरुद्गणैः ॥२४॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

इस प्रकार ब्रह्मा जी महाराज भगीरथ और गङ्गा जी से कह कर, देवताओं सहित स्वर्गलोक को गए ॥२४॥

बालकाण्ड का ब्यालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※:—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

देवदेवे गते तस्मिन् सोऽङ्गुष्ठाग्रनिपीडिताम् ।
कृत्वा वसुमतीं राम संवत्सरमुपासत ॥१॥

ब्रह्मा जी के चले जाने के बाद, महाराज भगीरथ ने पैर के एक अँगूठे के सहारे खड़े हो कर, एक वर्ष तक शिव जी की उपासना की ॥१॥

[ऊर्ध्ववाहुर्निरालम्बो वायुभक्षो निराश्रयः ।
अचलः स्थाणुवत्स्थित्वा रात्रिंदिवमरिन्दम ॥२॥]

हे अरिन्दम! भगीरथ जी ऊपर को बाहु किए निरालम्ब, वायु पी कर, बिना आश्रय, खंभे की तरह अचल हो, रात-दिन खड़े रहे ॥२॥

अथ संवत्सरे पूर्णे सर्वलोकनमस्कृतः ।
उमापतिः पशुपती राजानमिदमब्रवीत् ॥३॥

जब एक वर्ष पूरा हुआ तब सर्व-लोक-नमस्कृत उमापति महादेव जी ने भगीरथ से यह कहा ॥३॥

प्रीतस्तेऽहं नरश्रेष्ठ करिष्यामि तव प्रियम् ।
शिरसा धारयिष्यामि शैलराजसुतामहम् ॥४॥

हे नरश्रेष्ठ ! हम तेरे ऊपर प्रसन्न हैं और जो तू चाहेगा सो हम तेरे लिये करेंगे। हम श्रीगङ्गा जी को अपने सिर पर धारण करेंगे ॥४॥

[टिप्पणी—ब्रह्मा जी एक हजार वर्ष तक तप करने से भगीरथ पर प्रसन्न होते हैं, तब शिव जी महाराज केवल एक वर्ष की तपस्या से प्रसन्न हो वर देने को उद्यत हैं। यह क्यो ? क्योंकि शिव जी आशुतोष भी तो हैं।]

ततो हैमवती ज्येष्ठा सर्वलोकनमस्कृता ।
तदा सरित् महद्रूपं कृत्वा वेगं च दुःसहम् ॥५॥

तब सब लोकों के नमस्कार करने योग्य गङ्गा जी, महद्रूप धारण कर और दुःसह वेग के साथ ॥५॥

आकाशादपतद्राम शिवे शिवशिरस्युत ।
अचिन्तयच्च सा देवी गङ्गा परमदुर्द्धरा ॥६॥

आकाश से शिव जी के मस्तक पर गिरो। (और गिरते समय) परम दुर्धरा गङ्गा देवी ने सोचा कि, ॥६॥

विशाम्यहं हि पातालं स्रोतसा गृह्य शङ्करम् ।
तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धस्तु भगवान् हरः ॥७॥

मैं अपनी धार के साथ महादेव जी को बहा कर पाताल ले जाऊँगी। गङ्गा देवी के इस अभिमान भरे विचार को जान कर,—भगवान् श्रीमहादेव जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥७॥

तिरोभावयितुं बुद्धिं चक्रे त्रिनयनस्तदा।
सा तस्मिन् पतिता पुण्या पुण्ये रुद्रस्य मूर्धनि ॥८॥
हिमवत्प्रतिमे राम जटामण्डलगह्वरे।
साकथञ्चिन्महीं गन्तुं नाशक्नोद्यत्नमास्थिता ॥९॥

और उनको अपने जटाजूट ही में छिपा रखना चाहा। हिमालय के समान और जटामण्डल रूपी गुफा वाले शिव जी के पवित्र मस्तक पर, श्रीगङ्गा जी गिरीं और अनेक उपाय करने पर भी जटाजूट से निकल, पृथ्वी पर न जा सकीं ॥८॥९॥

नैव निर्गमनं लेभे जटामण्डलमोहिता।
तत्रैवावंभ्रमद्देवी संवत्सरगणान्बहून् ॥१०॥

वे शिव जी के जटाजूटों मे कितने ही वर्षों तक मोहित हो घूमती रहीं वाहर न निकल सकीं ॥१०॥

तामपश्यन् पुनस्तत्र तपः परममास्थितः।
अनेन तोषितश्चाभूदत्यर्थं रघुनन्दन ॥११॥

हे रघुनन्दन! गङ्गा जी को न देख, महाराज भगीरथ ने फिर कठोर तप किया और तप द्वारा भगवान् शिव को (फिर) प्रसन्न किया ॥११॥

विससर्ज ततो गङ्गां हरो विन्दुसरः प्रति।
तस्यां विसृज्यमानायां सप्त स्रोतांसि जज्ञिरे ॥१२॥

तब शिव जी ने श्रीगङ्गा जी को हिमालय पर्वत पर स्थित विन्दुसर में छोड़ा। छोड़ते ही गङ्गा जी की सात धाराएँ हो गईं ॥१२॥

ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथाऽपरा ।
तिस्रः प्राचीं दिशं जग्मुर्गङ्गाः शिवजलाः शुभाः ॥१३॥

ह्लादिनी, पावनी और नलिनी गङ्गा जी की ये तीन कल्याण-कारिणी धाराएँ उस सर से पूर्व की ओर वही ॥१३॥

सुचक्षुश्चैव सीता च सिन्धुश्चैव महानदी ।
तिस्रस्त्वेता दिशं जग्मुः प्रतीचीं तु शुभोदकाः ॥१४॥

श्रीगङ्गा जी के शुभ जल की सुचक्षु, सीता और सिन्धु नाम की तीन धाराएँ पश्चिम की ओर वही ॥१४॥

सप्तमी चान्वगात्तासां भगीरथमथो नृपम् ।
भगीरथोऽपि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः ॥१५॥

सातवीं धार महाराज भगीरथ के रथ के पीछे-पीछे चली। राजर्षि भगीरथ एक सुन्दर रथ मे बैठे हुए ॥१५॥

प्रायादग्रे महातेजा गङ्गा तं चाप्यनुव्रजत् ।
गगनाच्छङ्करशिरस्ततो धरणिमागता ॥१६॥

आगे-आगे चले जाते थे और उनके पीछे-पीछे श्रीगङ्गा जी चली जाती थीं। आकाश से श्रीमहादेव जी के मस्तक पर और उनके मस्तक से श्रीगङ्गा जी धरणीतल पर आई ॥१६॥

व्यसर्पत जलं तत्र तीव्रशब्दपुरस्कृतम् ।
मत्स्यकच्छपसंघैश्च शिशुमारगणैस्तथा ॥१७॥
पतद्भिः पतितैश्चान्यैर्व्यरोचत वसुन्धरा ।
ततो देवर्षिगन्धर्वा यक्षाः सिद्धगणास्तथा ॥१८॥

उनके पृथ्वी पर गिरते ही बड़ा शब्द हुआ और मछलियाँ, कछुए, सूँस आदि जलजन्तुओं के झुंड के झुंड गङ्गा जी की धार के साथ गिरते-पड़ते चले जाते थे। जिधर श्रीगङ्गा जी जाती थीं उधर की भूमि सुशोभित हो जाती थी। देव, ऋषि, गन्धर्व, यक्ष और सिद्धगण ॥१७॥१८॥

व्यलोकयन्त ते तत्र गगनाद् गां गतां तदा।
विमानैर्नगराकारैर्हयैर्गजवरैस्तदा ॥१६॥

आकाश से पृथ्वी पर आई हुई श्रीगङ्गा जी को देखने के लिए उत्तम नगराकार विमानों, हाथियों और घोड़ों पर सवार हो कर आए हुए थे ॥१६॥

पारिप्लवगतैश्चापि देवतास्तत्र विष्ठिताः।
तदद्भुततमं लोके गङ्गापतनमुत्तमम् ॥२०॥

श्रीगङ्गा जी के पृथ्वीतल पर अत्यन्त अद्भुत अवतरण को देखने के लिए देवता लोग परिप्लव नामक विमानों पर बैठे हुए थे ॥२०॥

दिदृक्षवो देवगणाः समीयुरमितौजसः।
सम्पतद्भिः सुरगणैस्तेषां चाभरणौजसा ॥२१॥

देखने के लिए आए हुए प्रधान देवता जिस समय आकाश से उतरते थे, उस समय उनके आभूषणों की प्रभा से ॥२१॥

शतादित्यमिवाभाति गगनं गततोयदम्।
शिंशुमारोरगगणैर्मीनैरपि च चञ्चलैः ॥२२॥

निर्मल मेघशून्य आकाश ऐसा सुशोभित जान पड़ता था। मानों आकाश मे सैकड़ो सूर्य निकल रहे हो। बीच-बीच मे सूसों और चञ्चल मछलियों के झुंड, जो ॥२२॥

विद्युद्भिरिव विक्षिप्तमाकाशमभवत्तदा ।
पाण्डुरैः सलिलोत्पीडैः कीर्यमाणैः सहस्रधा ॥२३॥

(जो जल के वेग से ऊपर को) उछाले जाते थे, वे ऐसे जान पड़ते थे, मानों आकाश मे विजली चमकती हो और जल मे उठे हुए सफेद-सफेद फेन जो इधर-उधर जगह-जगह छितरा गए थे ॥२३॥

शारदाभ्रैरिवाकीर्णं गगनं हंससंप्लवैः ।
क्वचिद् द्रुततरं याति कुटिलं क्वचिदायतम् ॥२४॥

ऐसी शोभा दे रहे थे मानो हंसो के झुंडों से युक्त और इधर-उधर विखरे हुए शरत्कालीन मेघ, आकाश को सुशोभित कर रहे हु ॥२४॥

विनतं क्वचिदुद्भूतं क्वचिद्याति शनैः शनैः ।
सलिलेनैव सलिलं क्वचिदभ्याहतं पुनः ॥२५॥
मुहुरूर्ध्वपथं गत्वा पपात वसुधातलम् ।
व्यरोचत तदा तोयं निर्मलं गतकल्मषम् ॥२६॥

श्रीगङ्गा जी की धार का जल कहीं ऊँचा, कहीं टेढ़ा, कहीं फैला हुआ और कहीं ठोकर खाकर उछलता हुआ धीरे-धीरे वहता था और कहीं-कहीं तो जल, जल ही से टकरा कर बार-बार ऊपर को उछलता और फिर जमीन पर गिर पड़ता था। इस प्रकार वह निर्मल और पापहारी जल सुशोभित हो रहा था ॥२५॥२६॥

तत्र देवर्षिगन्धर्वा वसुधातलवासिनः ।
भवाङ्गपतितं तोयं पवित्रमिति पस्पृशुः ॥२७॥

वहाँ पर देव ऋषि, गन्धर्व और वसुधातलवासी लोगों ने उस शिव जी की जटा से गिरे हुए पवित्र जल को छुआ ॥२७॥

शापात्प्रपतिता ये च गगनाद्वसुधातलम् ।
कृत्वा तत्राभिषेकं ते बभूवुर्गतकल्मषाः ॥२८॥

जो लोग शापवश ऊपर के लोको से भूलोक में आए हुए थे, वे इस जल में स्नान कर पापो से छूट गए ॥२८॥

धूतपापाः पुनस्तेन तोयेनाथ सुभास्वता ।
पुनराकाशमाविश्य स्वाँल्लोकान् प्रतिपेदिरे ॥२९॥

और पापों से छूट और तेजयुक्त हो आकाशमार्ग से पुनः अपने-अपने लोकों को चले गए ॥२९॥

मुमुदे मुदितो लोकस्तेन तोयेन भास्वता ।
कृताभिषेको गङ्गायां बभूव विगतक्लमः ॥३०॥

जहाँ गङ्गा जी जातीं वहाँ-वहाँ के मनुष्य श्रीगङ्गा जी के जल में स्नान करके निष्पाप हो जाते थे ॥३०॥

भगीरथोऽपि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः ।
प्रायादग्रे महातेजास्तं गङ्गा पृष्ठतोऽन्वगात् ॥३१॥

राजर्षि भगीरथ भी एक दिव्य रथ मे बैठे हुए आगे-आगे चले जाते थे और श्रीगङ्गा जी उनके पीछे पीछे वहीं चली जाती थीं ॥३१॥

देवाः सर्पिगणाः सर्वे दैत्यदानवराक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥३२॥

सर्वाश्चाप्सरसो राम भगीरथरथानुगाम् ।
गगांमन्वगमन्प्रीताः सर्वे जलचराश्च ये ॥३३॥

हे राम ! सब देवता, ऋषिगण, दैत्य, दानव, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, बड़े-बड़े सर्प तथा अप्सराएँ महाराज भगीरथ के रथ के पीछे-पीछे जा रही थीं और समस्त जलचर जीव प्रसन्न हो श्रीगङ्गा जी के पीछे चले जाते थे ॥३२॥३३॥

यतो भगीरथो राजा ततो गङ्गा यशस्विनी ।
जगाम सरितां श्रेष्ठा सर्वपापविनाशिनी ॥३४॥

जिधर महाराज भगीरथ जाते थे उधर ही यशस्विनी, सब पाप नाश करने वाली तथा नदियों मे श्रेष्ठ श्रीगङ्गा जी भी जा रही थी ॥३४॥

ततो हि यजमानस्य जह्नोरद्भुतकर्मणः ।
गङ्गा संप्लावयामास यज्ञवाटं महात्मनः ॥३५॥

चलते-चलते श्रीगङ्गा जी वहाँ पहुँचीं, जहाँ अद्भुत कर्म करने वाले जह्नु नामक महर्षि यज्ञ कर रहे थे । वहाँ श्रीगङ्गा जी ने सब सामान सहित उनकी यज्ञशाला बहा दी ॥३५॥

तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धो जह्नुश्च राघव ।
अपिबच्च जलं सर्वं गङ्गायाः परमाद्भुतम् ॥३६॥

हे राम! तब तो श्रीगङ्गा जी का ऐसा गर्व देख, जह्नु ऋषि कुपित हुए और ऐसा चमत्कार दिखाया कि, वे गङ्गा के समस्त जल को पी गए ॥३६॥

ततो देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च सुविस्मिताः ।
पूजयन्ति महात्मानं जह्नुं पुरुषसत्तमम् ॥३७॥

महात्मा जह्नु का यह प्रभाव देख देवता, गन्धर्व, ऋषि गण आदि बड़े विस्मित हुए और पुरुषों में श्रेष्ठ महात्मा जह्नु की स्तुति करने लगे ॥३७॥

गङ्गा चापि नयन्ति स्म दुहितृत्वे महात्मनः ।
ततस्तुष्टो महातेजाः श्रोत्राभ्यामसृजत्पुनः ॥३८॥

और बोले, आज से श्रीगङ्गा आपकी बेटी कहलाएगी। (आप उसे छोड़ दीजिए) इस पर प्रसन्न हो महातेजस्वी जह्नु ने दोनों कानों की राह से जल को निकाल दिया ॥३८॥

तस्माज्जह्नुसुता गङ्गा प्रोच्यते जाह्नवीति च ।
जगाम च पुनर्गङ्गा भगीरथरथानुगा ॥३९॥

तब से ही जह्नुसुता श्रीगङ्गा जाह्नवी कहलाती हैं। उसी प्रकार श्रीगङ्गा फिर भगीरथ के रथ के पीछे हो लीं ॥३९॥

सागरं चापि संप्राप्ता सा सरित्प्रवरा तदा ।
रसातलमुपागच्छत्सिद्ध्यर्थं तस्य कर्मणः ॥४०॥

और चलते चलते नदियों में श्रेष्ठ श्रीगङ्गा समुद्र में जा पहुँचीं और फिर वे भगीरथ की कार्यसिद्धि के लिए रसातल गयीं ॥४०॥

भगीरथोऽपि राजर्षिर्गंगामादाय यत्नतः ।
पितामहान् भस्मकृतानपश्यद्दीनचेतनः ॥४१॥

राजर्षि भगीरथ बड़े यत्न के साथ श्रीगङ्गा जी को साथ ले गए और दुःखी मन से अपने पुरखों के भस्म हुए शरीरों की राख का ढेर देखा ॥४१॥

अथ तद्भस्मनां राशिं गंगासलिलमुत्तमम् ।
प्लावयद्धूतपाप्मानः स्वर्गं प्राप्ता रघूत्तम ॥४२॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे रघुनन्दन ! श्रीगङ्गा जी का पवित्र जल ज्योंही भगीरथ के पुरुषों की भस्म के ढेर पर पड़ा, त्योंही वे सब निष्पाप हो, स्वर्ग में पहुँच गए ॥४२॥

[बालकाण्ड का तैंतालिसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

[टिप्पणी—तैंतालीसवें सर्ग में सगर के पुत्रों की सद्गति का वृत्तान्त संक्षेप में कहा था, इस सर्ग में उसका विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है ।]

स गत्वा सागरं राजा गंगयाऽनुगतस्तदा ।
प्रविवेश तलं भूमेर्यत्र ते भस्मसात्कृताः ॥१॥

महाराज श्रीगङ्गा जी के साथ समुद्रतट पर पहुँचे और वहाँ से वे पाताल मे वहाँ गये, जहाँ पर (महाराज सगर के पुत्र) भस्म किए गए थे ॥१॥

भस्मन्यथाप्लुते राम गंगायाः सलिलेन वै ।
सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा राजानमिदमब्रवीत् ॥२॥

हे राम ! उस भस्म पर गङ्गाजल के पड़ने से सब लोकों के स्वामी ब्रह्मा जी ने भगीरथ से यह कहा ॥२॥

तारिता नरशार्दूल दिवं याताश्च देववत् ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्य महात्मनः ॥३॥

हे नरशार्दूल ! महात्मा सगर के साठ हजार पुत्रों को आपने तार दिया । वे देववत् स्वर्ग को गए ॥३॥

सागरस्य जलं लोके यावत् स्थास्यति पार्थिव ।
सगरस्यात्मजास्तावत्स्वर्गे स्थास्यन्ति देववत् ॥४॥

हे राजन् ! जब तक सागर में एक बूँद भी जल रहेगा, तब तक महाराज सगर के पुत्र देवताओं की तरह स्वर्ग में वास करेंगे ॥४॥

इयं हि दुहिता ज्येष्ठा तव गङ्गा भविष्यति ।
त्वत्कृतेन च नाम्नाथ लोके स्थास्यति विश्रुता ॥५॥

यह श्रीगङ्गा तुम्हारी ज्येष्ठा कन्या होगी और तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध हो कर भूलोक में रहेगी ॥५॥

गङ्गा त्रिपथगा नाम दिव्या भागीरथीति च ।
पितामहानां सर्वेषां त्वमेव मनुजाधिप ॥६॥

कुरुष्व सलिलं राजन् प्रतिज्ञामपवर्जय ।
पूर्वकेण हि ते राजस्तेनातियशसा तदा ॥७॥

धर्मिणां प्रवरेणापि नैष प्राप्तो मनोरथः ।
तथैवांशुमता तात लोकेऽप्रतिमतेजसा ॥८॥

गङ्गां प्रार्थयता नेतुं प्रतिज्ञा नापवर्जिता ।
राजर्षिणा गुणवता महर्षिसमतेजसा ॥९॥

इसके तीन नाम होंगे, श्रीगङ्गा, त्रिपथगा और भागीरथी। तीन पथ पर चलने वाली होने के कारण यह त्रिपथगा कहलाई है। हे राजन्! अब तुम अपने सब पितरों का तर्पण करो और अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो। अत्यन्त यशस्वी महाराज सगर ने यह मनोरथ पूरा न कर पाया और अमित तेज वाले अंशुमान ने भी श्रीगङ्गा के लाने की प्रार्थना की, पर उनकी प्रतिज्ञा भी पूरी न हो सकी। राजर्षियों में गुणवान् और महर्षियों के समान ॥६॥७॥८॥९॥

मत्तुल्यतपसा चैव क्षत्रधर्मे स्थितेन च ।
दिलीपेन महाभाग तव पित्रातितेजसा ॥१०॥

तपस्या में हमारे तुल्य और क्षत्रियधर्म-प्रतिपालक अति तेजस्वी तुम्हारे पिता महाभाग दिलीप ने ॥१०॥

पुनर्न शङ्किता नेतुं गङ्गां प्रार्थयताऽनघ ।
सा त्वया समतिक्रान्ता प्रतिज्ञा पुरुषर्षभ ॥११॥

श्रीगङ्गा की प्रार्थना की, पर वे भी ला न सके; किंतु हे पुरुषोत्तम! तुमने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की ॥११॥

प्राप्तोऽसि परमं लोके यशः परमसम्मतम् ।
यच्च गङ्गावतरणं त्वया कृतमरिन्दम ॥१२॥

इदमाख्यानमव्यग्रो गङ्गावतरणं शुभम् ।
यः शृणोति च काकुत्स्थ सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।
सर्वे पापाः प्रणश्यन्ति आयुः कीर्त्तिश्च वर्धते ॥२२॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे रामचन्द्र ! इस श्रीगङ्गावतरण की शुभ कथा को जो कोई स्थिर-चित्त हो सुनता है, उसकी सब मनोकामनाएँ पूरी होती हैं, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और उसकी आयु और कीर्त्ति की वृद्धि होती है ॥२२॥

बालकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:❀:—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
विस्मयं परमं गत्वा विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥१॥

विश्वामित्र जी की बातें सुन, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे विश्वामित्र जी से कहने लगे ॥१॥

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् कथितं परमं त्वया ।
गङ्गावतरणं पुण्यं सागरस्यापि पूरणम् ॥२॥

हे ब्रह्मन् ! आपने श्रीगङ्गा जी का अवतरण और श्रीगङ्गाजल से समुद्र के पूर्ण होने का आख्यान तो बड़ा अद्भुत सुनाया ॥२॥

तस्य सा शर्वरी सर्वा सह सौमित्रिणा तदा ।
जगाम चिन्तयानस्य विश्वामित्रकथां शुभाम् ॥३॥

इस कथा को सुनते-सुनते वह रात बात की बात में बीत गई अर्थात् मालूम ही न पड़ी कि कब बीती। श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण सहित वह सारी रात उक्त उपाख्यान के चिन्तवन करने ही में व्यतीत की ॥३॥

ततः प्रभाते विमले विश्वामित्रं महामुनिम् ।
उवाच राघवो वाक्यं कृताह्निकमरिन्दमः ॥४॥

जब विमल प्रातःकाल हो गया, तब श्रीरामचन्द्र जी आह्निक कर्म कर चुकने पर, विश्वामित्र जी से बोले ॥४॥

गता भगवती रात्रिः श्रोतव्यं परमं श्रुतम् ।
क्षणभूतेव नौ रात्रिः संवृत्तेयं महातपः ॥५॥

हे महर्षि ! रात तो शुभ कथा के सुनने में व्यतीत हुई। हम लोगों को रात्रि क्षण के समान जान पड़ी ॥५॥

इमां चिन्तयतः सर्वां निखिलेन कथां तव ।
तराम सरितां श्रेष्ठां पुण्यां त्रिपथगां नदीम् ॥६॥

अब आइए आप की कथित समस्त कथा का चिन्तवन करते हुए नदियों में श्रेष्ठ और पुण्य देने वाली त्रिपथगा श्रीगङ्गा जी को पार करें ॥६॥

नौरेषा हि सुखास्तीर्णा ऋषीणां पुण्यकर्मणाम् ।
भगवन्तमिह प्राप्तं ज्ञात्वा त्वरितमागता ॥७॥

आपको आया हुआ जान सुख से पार करने वाली ऋषियों की यह सजी-सजाई (अर्थात् जिसमें अच्छा बिछौना आदि बिछा हुआ था) नाव भी बहुत जल्द आ गई है ॥७॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
सन्तारं कारयामास सर्षिसंघः सराघवः ॥८॥

महात्मा श्रीराम के ये वचन सुन, विश्वामित्र जी ने मल्लाहों को बुलाया और ऋषिगण एवं राजकुमारों के साथ वे सब श्रीगङ्गा के पार हुए ॥८॥

उत्तरं तीरमासाद्य सम्पूज्यर्षिगणं तदा ।
गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम् ॥९॥

श्रीगङ्गा जी के दूसरे तट पर पहुँच कर, ऋषियों का सत्कार कर वे सब श्रीगङ्गा के तट पर बैठ कर सुस्ताने लगे और उन लोगों ने वहाँ से विशाला नाम्नी एक नगरी को देखा ॥९॥

ततो मुनिवरस्तूर्णं जगाम सहराघवः ।
विशालां नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तदा ॥१०॥

तदनन्तर विश्वामित्र जी वहाँ से तुरन्त दोनों राजकुमारों सहित, इन्द्रपुरी के समान अति सुन्दर विशाला नगरी में गए ॥१०॥

अथ रामो महाप्राज्ञो विश्वामित्रं महामुनिम् ।
पप्रच्छ प्राञ्जलिर्भूत्वा विशालामुत्तमां पुरीम् ॥११॥

तब उस समय महाप्राज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर विश्वामित्र जी से विशाला पुरी का इतिहास पूछा ॥११॥

कतरो राजवंशोऽयं विशालायां महामुने ।
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते परं कौतूहलं हि मे ॥१२॥

हे महर्षि ! आपका मङ्गल हो । अब बतलाइए कि इस पुरी में किस वंश का राजा राज्य करता है । यह जानने के लिए मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है ॥१२॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रामस्य मुनिपुंगवः ।
आख्यातुं तत्समारेभे विशालस्य पुरातनम् ॥१३॥

मुनियों में श्रेष्ठ विश्वामित्र जी, श्रीरामचन्द्र जी का वह वचन सुन, विशाला पुरी का पुरातन इतिहास कहने लगे ॥१३॥

श्रूयतां राम शक्रस्य कथां कथयतः शुभाम् ।
अस्मिन् देशे तु यद्वृत्तं तदपि शृणु राघव ॥१४॥

हे राम ! इस देश के सम्बन्ध में इन्द्र से मैंने जो वृत्तान्त सुना है उसे मैं कहता हूँ तुम सुनो ॥१४॥

पूर्वं कृतयुगे राम दितेः पुत्रा महाबलाः ।
अदितेश्च महाभाग वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः ॥१५॥

पहले सतयुग मे दिति के महाबली पुत्र (दैत्य) और अदिति के भाग्यवान् और अत्यन्त धर्मात्मा पुत्र (देवता) हुए ॥१५॥

ततस्तेषां नरव्याघ्र बुद्धिरासीन् महात्मनाम् ।
अमरा अजराश्चैव कथं स्याम निरामयाः ॥१६॥

उन महात्मा बुद्धिमानों की यह इच्छा हुई कि, कोई ऐसा उपाय हो, जिससे हम लोग अजर, अमर और निरामय हो जावें,

हालाहलविषं घोरं स जग्राहामृतोपमम् ।
देवान्विसृज्य देवेशो जगाम भगवान् हरः ॥२६॥

भगवान् शिव उस महाविष को अमृत की तरह पी गए। तदनन्तर देवताओं को वहीं छोड़, महादेव जी कैलास को लौट गए ॥२६॥

ततो देवा सुराः सर्वे ममन्थू रघुनन्दन ।
प्रविवेशाथ पातालं मन्थानः पर्वतोऽनघ ॥२७॥

हे रघुनन्दन ! देवता और दैत्य पुनः समुद्र मथने लगे। किन्तु मन्थनदण्ड मन्दराचल धीरे-धीरे पाताल की ओर (अर्थात् नीचे की ओर जाने) खसकने लगा ॥२७॥

ततो देवाः सगन्धर्वास्तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ।
त्वं गतिः सर्वभूतानाम् विशेषेण दिवौकसाम् ॥२८॥

तब देवता और गन्धर्व मिल कर भगवान विष्णु की स्तुति कर कहने लगे; वे बोले—हे भगवान् ! आप सब प्राणियों के स्वामी हैं और विशेष कर देवताओं के तो आप सर्वस्व ही हैं ॥२८॥

पालयास्मान् महाबाहो गिरिमुद्धर्तुमर्हसि ।
इति श्रुत्वा हृषीकेशः कामठं रूपमास्थितः ॥२६॥

अतः हे महाबाहो ! आप हम सब की रक्षा कीजिए और नीचे जाते हुए मन्दराचल को उठाइए। यह सुन कर भगवान् विष्णु ने कच्छप का रूप धारण किया ॥२६॥

पर्वतं पृष्ठतः कृत्वा शिश्ये तत्रोदधौ हरिः ।
पर्वताग्रं तु लोकात्मा हस्तेनाक्रम्य केशव ॥३० ।

भगवान् ने जल के भीतर जा मन्दराचल को अपनी पीठ पर धारण किया और उसके आगे के सिरे को अपने हाथ से थाम ॥३०॥

देवानां मध्यतः स्थित्वा ममन्थ पुरुषोत्तमः ।
अथ वर्षसहस्रेण आयुर्वेदमयः पुमान् ॥३१॥*

देवताओं के बीच खड़े हो कर भगवान् पुरुषोत्तम समुद्र मथने लगे। एक हजार वर्षों तक इस प्रकार समुद्र का मन्थन करने के बाद आयुर्वेद के आचार्य ॥३१॥

उदतिष्ठत्स धर्मात्मा सदण्डः सकमण्डलुः ।
पूर्वं धन्वन्तरिर्नाम अप्सराश्च सुवर्चसः ॥३२॥

धर्मात्मा धन्वतरि जी हाथों में दण्ड-कमण्डलु लिए हुए निकले हे राम! तदनन्तर सुन्दर अप्सराएँ निकलीं ॥३२॥

अप्सु निर्मथनादेव रसात्तस्माद्वरस्त्रियः ।
उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन् ॥३३॥

हे नरश्रेष्ठ! उनका नाम अप्सरा इसलिए पड़ा कि, आ अर्थात् जल और रस से निकली हैं। हे राम! जल से निकलने के कारण वे सुन्दर स्त्रियाँ, अप्सरा कहलाईं ॥३३॥

षष्टिः कोटयोऽभवंस्तासामप्सराणां सुवर्चसाम् ।
असंख्येयास्तु काकुत्स्थ यास्तासां परिचारिकाः ॥३४॥

हे राम! इन सुन्दरी अप्सराओं की संख्या साठ हजार क

* इस सर्ग के १६ से ३१ तक के श्लोक गोविन्दराजीय टीका नहीं हैं। गोविन्दराज जी ने इनको 'इत्यधिकः पाठः' बतलाया है।

और उनकी दासियों की संख्या तो इतनी अधिक थी कि, उसकी गणना नहीं हो सकती अर्थात् वे असंख्य थीं ॥३४॥

न ताः स्म प्रतिगृह्णन्ति सर्वे ते देवदानवाः ।
अप्रतिग्रहणात्ताश्च सर्वाः साधारणाः स्मृताः ॥३५॥

उनको न तो देवताओं ने लेना पसंद किया और न दैत्यों ने ही। अत: जब उन्हें किसी ने लेना स्वीकार न किया तब वे साधारण स्त्रियाँ (अर्थात् सर्वसाधारण की सम्पत्ति) (Public-women) कहलाईं ॥३५॥

वरुणस्य ततः कन्या वारुणी रघुनन्दन ।
उत्पपात महाभागा मार्गमाणा परिग्रहम् ॥३६॥

हे रघुनन्दन ! तदनन्तर वरुणदेव की कन्या वारुणी उत्पन्न हुई और अपने ग्रहण करने वाले अर्थात् ग्राहक को खोजने लगी ॥३६॥

दितेः पुत्रा न तां राम जगृहुर्वरुणात्मजाम् ।
अदितेस्तु सुता वीर जगृहुस्तामनिन्दिताम् ॥३७॥

हे राम ! दिति के पुत्रों ने तो वरुण की बेटी को ग्रहण न किया, किन्तु अदिति के पुत्रों ने उस * अनिन्दित वारुणी यानी सुरा को ग्रहण किया ॥३७॥

असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः ।
हृष्टाः प्रमुदिताश्चासन् वारुणीग्रहणात्सुराः ॥३८॥

---

* रामाभिरामी टीकाकार ने "अनिन्दिताम्" के ऊपर यह टिप्पणी चढ़ाई है :—"अदितिसुताङ्गीकारे हेतुरनिंदितामिति, निषेधशास्त्रं तु मानुषविषयं, शास्त्रे देवतानामधिकारात्" ॥

सुरा अर्थात् मदिरा को न ग्रहण करने वाले असुर और ग्रहण करने वाले सुर कहलाए। सुर अर्थात् देवता, सुरा को ग्रहण कर अत्यानन्दित हुए ॥३८॥

उच्चैःश्रवा हयश्रेष्ठो मणिरत्नं च कौस्तुभम् ।
उदतिष्ठन्नरश्रेष्ठ तथैवामृतमुत्तमम् ॥ ॥३६॥

हे राम ! फिर उच्चैःश्रवा (लम्बे कानों वाला अथवा ऊँचा सुनने वाला या बहरा) नाम का घोड़ा, फिर कौस्तुभ मणि और तदनन्तर उत्तम अमृत निकला ॥३६॥

अथ तस्य कृते राम महानासीत्कुलक्षयः ।
अदितेस्तु ततः पुत्रा दितेः पुत्रानसूदयन् ॥४०॥

हे राम ! जिसके (अमृत के) कारण दोनों कुल वालों की (सुर-असुरों की) बड़ी बरबादी हुई। क्योंकि अदिति के पुत्र, दिति के पुत्रों के साथ (अमृत के लिए) लड़ पड़े ॥४०॥

एकतोऽभ्यागमन् सर्वे ह्यसुरा राक्षसैः सह ।
युद्धमासीन् महाघोरं वीर त्रैलोक्यमोहनम् ॥४१॥

सब असुर राक्षसों से मिल गए। हे राम ! तीनो लोको को मोहने वाला सुरों-असुरों का बड़ा विकट युद्ध हुआ ॥४१॥

यदा क्षयं गतं सर्वं सदा विष्णुर्महाबलः ।
'अमृतं सोऽहरत्तूर्णं मायामास्थाय मोहिनीम् ॥४२॥

जब दोनों पक्ष के बहुत से योद्धा मारे जा चुके, तब भगवान् विष्णु ने मोहिनी माया को फैला कर, उनसे अमृत छीन लिया ॥४२॥

ये गताऽभिमुखं विष्णुमक्षयं पुरुषोत्तमम् ।
सम्पिष्टास्ते सदा युद्धे विष्णुना प्रभविष्णुना ॥४३॥

अविनाशी भगवान् विष्णु का जिसने सामना किया उन सब को भगवान् विष्णु ने मार डाला ॥४३॥

अदितेरात्मजा वीरा दितेः पुत्रान्निजघ्निरे ।
तस्मिन् युद्धे महाघोरे दैतेयादित्ययोर्भृशम् ॥४४॥

देवताओं और दैत्यों के इस घोर संग्राम में अदिति के पुत्रो ने अर्थात् देवताओं ने दिति के पुत्रों को अर्थात् असुरों को छिन्न-भिन्न कर दिया। अर्थात् इस युद्ध मे दैत्य बहुत से मारे गए ॥४४॥

निहत्य दितिपुत्रांश्च राज्यं प्राप्य पुरन्दरः ।
शशास मुदितो लोकान् सर्षिसंघान् सचारणान् ॥४५॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

दिति के पुत्रों अर्थात् असुरों को मार कर, इन्द्र ने राज्य पाया और वे ऋषियों और चारणों सहित प्रसन्न हो शासन करने लगे ॥४५॥

बालकाण्ड का पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

हतेषु तेषु पुत्रेषु दितिः परमदुःखिता ।
मारीचं कश्यपं राम भर्तारमिदमब्रवीत् ॥१॥

हे राम ! दिति अपने पुत्रों के मारे जाने पर अत्यन्त दुःखी हो, मरीच के पुत्र और अपने पति कश्यप से बोली ॥१॥

हतपुत्राऽस्मि भगवंस्तव पुत्रैर्महाबलैः ।
शक्रहन्तारमिच्छामि पुत्रं दीर्घतपोर्जितम् ॥२॥

हे भगवन् ! तुम्हारे बलवान् पुत्रों ने मेरे पुत्रों को मार डाला है। अतः मैं इन्द्र का मारने वाला पुत्र चाहती हूँ, भले ही वह बड़ी तपस्या करने पर ही क्यों न प्राप्त हो ॥२॥

साऽहं तपश्चरिष्यामि गर्भं मे दातुमर्हसि ।
बलवन्तं महेष्वासं स्थितिज्ञं समदर्शिनम् ॥३॥

मैं तपस्या करूँगी। आप मुझे ऐसा गर्भ दीजिए जिसमें बलवान्, महाविजयी, दृढ़ बुद्धि वाला, समदर्शी ॥३॥

ईश्वरं [1]शक्रहन्तारं त्वमनुज्ञातुमर्हसि ।
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा मारीचः काश्यपस्तदा ॥४॥

तीनों लोकों का स्वामी और इन्द्र को मारने वाला पुत्र जन्मे। तब दिति के यह वचन सुन, मरीचसुत कश्यप जी, ॥४॥

प्रत्युवाच महातेजा दितिं परमदुःखिताम् ।
एवं भवतु भद्रं ते शुचिर्भव तपोधने ॥५॥

जो बड़े तेजस्वी थे, अत्यन्त दुखी दिति से बोले—तेरा कल्याण हो और जैसा तू चाहती है, वैसा ही हो। हे तपोधने ! तू पवित्र हो ॥५॥

---

१ ईश्वरम्—त्रैलोक्यनियन्तारम् (गो०)

जनयिष्यसि पुत्रं त्वं शक्रहन्तारमाहवे ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु शुचिर्यदि भविष्यसि ॥६॥

तू ऐसा पुत्र जनेगी जो युद्ध में इन्द्र को मारने वाला होगा। किन्तु यह तभी होगा, जब तू पूरे एक हज़ार वर्षों तक पवित्रता से रहेगी ॥६॥

पुत्रं त्रैलोक्यभर्तारं मत्तस्त्वं[1] जनयिष्यसि ।
एवमुक्त्वा महातेजाः पाणिना स ममार्ज[2] ताम् ॥७॥

समालभ्य ततः स्वस्तीत्युक्त्वा स तपसे ययौ ।
गते तस्मिन्नरश्रेष्ठ दितिः परमहर्षिता ॥८॥

मेरे अनुग्रह से तीनों लोकों का स्वामी पुत्र तेरे उत्पन्न होगा। इस प्रकार कह और दिति को आश्वासन दे और उसका पेट हाथ से सुहरा कर तथा उसे आशीर्वाद दे कश्यप जी तपस्या करने चले गए। हे पुरुषोत्तम! उनके जाने के बाद दिति बहुत प्रसन्न हुई ॥७॥८॥

कुशप्लवनमासाद्य तपस्तेपे सुदारुणम् ।
तपस्तस्यां हि कुर्वन्त्यां परिचर्यां चकार ह ॥९॥

सहस्राक्षो नरश्रेष्ठ परया गुणसम्पदा ।
अग्निं कुशान् काष्ठमपः फलं मूलं तथैव च ॥१०॥

न्यवेदयत् सहस्राक्षो यच्चान्यदपि कांक्षितम् ।
गात्रसंवहनैश्चैव श्रमापनयनैस्तथा ॥११॥

---

१ मत्तः मदनुग्रहादित्यर्थः (गो०) २ ममार्ज याश्वासनप्रकारः (गो०)

और कुशप्लव नामक वन मे जा घोर तप करने लगी। हे राम! उसको तप करते देख, इन्द्र बड़ी भक्ति के साथ उसकी सेवा करने लगे। अग्नि, कुश, लकड़ी, जल, फल मूल आदि जिन जिन वस्तुओं की दिति को आवश्यकता पड़ती, इन्द्र उन्हें बड़ी विनम्रता के साथ ला देते थे और जब तप करने के कारण दिति का शरीर श्रान्त हो जाता, तब उसका शरीर भी दबाया करते थे ॥९॥१०॥११॥

शक्रः सर्वेषु कालेषु दितिं परिचचार ह ।
अथ वर्षसहस्रे तु दशोने रघुनन्दन ॥१२॥

इन्द्र सदा ही दिति की परिचर्या मे लगे रहते थे। हे राम ! इस प्रकार करते करते जब एक हजार वर्ष पूरे होने मे केवल दस वर्ष वाकी रह गए ॥१२॥

दितिः परमसम्प्रीता सहस्राक्षमथाब्रवीत् ।
याचितेन सुरश्रेष्ठ तव पित्रा महात्मना ॥१३॥
वरो वर्षसहस्रांते मम दत्तः सुतं प्रति ।
तपश्चरन्त्या वर्षाणि दश वीर्यवतां वर ॥१४॥
अवशिष्टानि भद्रं ते भ्रातरं द्रक्ष्यसे ततः ।
तमहं त्वत्कृते पुत्रं समाधास्ये जयोत्सुकम् ॥१५॥

तब दिति ने इन्द्र से परम हर्षित होकर कहा—हे इन्द्र ! तुम्हारे पिता ने मुझे माँगने पर एक हजार वर्ष बीतने पर एक पुत्र होने का वर दिया है। सो अब केवल दस वर्ष और शेष रह गए हैं। सो इसके वाद तुम (अपने) भाई को देखोगे। यद्यपि मैं उसे तुम्हें जीतने के लिए उत्पन्न करना चाहती हूँ ॥१३॥ ॥१४॥१५॥

त्रैलोक्यविजयं पुत्र सह भोक्ष्यसि विज्वरः ।
एवमुक्त्वा दितिः शक्रं प्राप्ते मध्यं दिवाकरे ॥१६॥

तथापि उसके साथ तुम तीनों लोकों को विजय कर राज्य सुख भोगोगे। तुम किसी बात की चिन्ता मत करो। दिति ने इस प्रकार इन्द्र से कहा और इतने में दोपहर हो गई ॥१६॥

निद्रयाऽपहृता देवी पादौ कृत्वाऽथ शीर्षतः ।
दृष्ट्वा तामशुचिं शक्रः पादतः कृतमूर्धजाम् ॥१७॥
शिरःस्थाने कृतौ पादौ जहास च मुमोद च ।
तस्याः शरीरविवरं विवेश च पुरन्दरः ॥१८॥

दिति को नींद आ गई और वह पैताने की ओर सिर कर उलटी सो गई। उसको सिरहाने की ओर पैर और पैताने की ओर सिर किए सोती हुई अपवित्र दशा में देख, इन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और हँसे। फिर वे उसके शरीर में घुस गए ॥१७॥१८॥

गर्भं च सप्तधा राम बिभेद परमात्मवान् ।
भिद्यमानस्ततो गर्भो वज्रेण शतपर्वणा ॥१९॥

हे राम! धैर्यवान् इन्द्र ने अपने असंख्य धारों वाले वज्र से गर्भस्थ वालक के शरीर के सात टुकड़े कर डाले ॥१९॥

रुरोद सुस्वरं राम ततो दितिरबुध्यत ।
मा रुदो मा रुदश्चेति गर्भं शक्रोऽभ्यभाषत ॥२०॥

इस पर गर्भस्थ वालक जब रोने लगा तब दिति की नींद टूटी। इन्द्र ने गर्भस्थ बालक से कहा, मत रो, मत रो ॥२०॥

विभेद च महातेजा रुदन्तमपि वासवः ।
न हन्तव्यो न हन्तव्य इत्येवं दितिरब्रवीत् ॥२१॥

इन्द्र रोते हुए बालक को भी पुनः काटने लगे । तब दिति इन्द्र से कहने लगी—अरे मत मारो ! मत मारो !! ॥२१॥

निष्पपात ततः शक्रो मातुर्वचनगौरवात् ।
प्राञ्जलिर्वज्रसहितो दितिं शक्रोऽभ्यभाषत ॥२२॥

इन्द्र, माता का कहना मान, उदर के बाहर निकल आए और वज्र सहित हाथ जोड़ कर, वे दिति से कहने लगे ॥२२॥

अशुचिर्देवि सुप्तासि पादयोः कृतमूर्धजा ।
तदन्तरमहं लब्ध्वा शक्रहन्तारमाहवे ।
अभिदं सप्तधा देवि तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥२३॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे देवि ! तू पैताने की ओर सिर कर सोई हुई थी। इससे तू अशुचि हो गई। इस अवसर को पा, मैंने युद्ध में अपने मारने वाले के सात टुकड़े कर डाले। इसके लिए तू मुझे क्षमा कर दे ॥२३॥

बालकाण्ड का छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

सप्तधा तु कृते गर्भे दितिः परमदुःखिता ।
सहस्राक्षं दुराधर्षं वाक्यं सानुनयाऽब्रवीत् ॥

जब गर्भ के सात टुकड़े हो गए तब दिति बड़ी विकल हुई और दुराधर्ष इन्द्र से बड़ी विनय के साथ बोली ॥१॥

ममापराधाद् गर्भोऽयं सप्तधा विफलीकृतः ।
नापराधोऽस्ति देवेश तवात्र बलसूदन ॥२॥

हे इन्द्र ! हे बलसूदन ! मेरी भूल से मेरे गर्भ के सात टुकड़े हुए हैं। इसमें तुम्हारा कुछ भी अपराध नहीं है ॥२॥

प्रियं तु कर्तुमिच्छामि मम गर्भविपर्यये ।
मरुतां सप्त सप्तानां स्थानपाला भवन्त्विमे ॥३॥

यह गर्भ तो बिगड़ ही चुका, किन्तु इस पर भी मैं तुम्हारा और अपना हित चाहती हूँ। अतः यह सात—उनचास पवनों के स्थानपाल हों ॥३॥

वातस्कन्धा इमे सप्त चरन्तु दिवि पुत्रक ।
मारुता इति विख्याता दिव्यरूपा ममात्मजाः ॥४॥

दिव्य रूप वाले मेरे ये सातों पुत्र, वातस्कन्ध मारुत के नाम से विख्यात हो कर, आकाश में विचरण करें ॥४॥

ब्रह्मलोकं चरत्वेक इन्द्रलोकं तथाऽपरः ।
दिवि वायुरिति ख्यातस्तृतीयोऽपि महायशाः ॥५॥

इनमें से एक ब्रह्मलोक में; दूसरा इन्द्रलोक में और महायशस्वी तीसरा वायु के नाम से, आकाश में विचरे ॥५॥

चत्वारस्तु सुरश्रेष्ठ दिशो वै तव शासनात् ।
सञ्चरिष्यन्ति भद्रं ते देवभूता ममात्मजाः ॥६॥

हे इन्द्र! शेष मेरे चारों पुत्र तुम्हारी आज्ञा के अनुसार देवता बन कर दिशाओं मे घूमा करें ॥६॥

त्वत्कृतेनैव नाम्ना च मारुता इति विश्रुताः ।
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा सहस्राक्षः पुरन्दरः ॥७॥

और ये सब के सब तुम्हारे रखे हुए मारुत नाम से प्रसिद्ध हों। दिति के ये वचन सुन, सहस्राक्ष इन्द्र ॥७॥

उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं दितिं बलनिषूदनः ।
सर्वमेतद्यथोक्तं ते भविष्यति न संशयः ॥८॥

दिति से हाथ जोड़ कर बोले, तुमने जैसा कहा निश्चय वैसा ही होगा—इसमे कुछ भी सन्देह नहीं ॥८॥

विचरिष्यन्ति भद्रं ते देवभूतास्तवात्मजाः ।
एवं तौ निश्चयं कृत्वा मातापुत्रौ तपोवने ॥९॥

तुम्हारे पुत्र देवरूप हो कर विचरेंगे। उस तपोवन में इस प्रकार समझौता कर माता और पुत्र—दोनों ॥९॥

जग्मतुस्त्रिदिवं राम कृतार्थाविति नः श्रुतम् ।
एष देशः स काकुत्स्थ महेन्द्राध्युषितः पुरा ॥१०॥
दितिं यत्र तपःसिद्धामेवं परिचचार सः ।
इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुत्रः परमधार्मिकः ॥११॥

हे राम! कृतार्थ हो स्वर्ग गए। मैंने यही सुना है। हे रामचन्द्र! यह वही देश है, जहां इन्द्र ने तप.सिद्धा माता दिति की

सेवा की थी। हे पुरुषसिंह ! इक्ष्वाकु के परम धार्मिक पुत्र ॥१०॥११॥

अलम्बुसायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः।
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता ॥१२॥

विशाल ने, जो अलम्बुसा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, यहाँ पर यह विशाला नगरी वसाई ॥१२॥

विशालस्य सुतो राम हेमचन्द्रो महाबलः।
सुचन्द्र इति विख्यातो हेमचन्द्रादनन्तरः ॥१३॥

हे राम ! विशाल का महाबलवान् हेमचन्द्र नामक पुत्र हुआ, फिर हेमचन्द्र के सुचक्र नामक पुत्र हुआ ॥१३॥

सुचन्द्रतनयो राम धूम्राश्व इति विश्रुतः।
धूम्राश्वतनयश्चापि सृञ्जयः समपद्यत ॥१४॥

हे राम ! सुचन्द्र के धूम्राश्व हुआ और धूम्राश्व के सृञ्जय नाम का पुत्र हुआ ॥१४॥

सृञ्जयस्य सुतः श्रीमान् सहदेवः प्रतापवान्।
कुशाश्वः सहदेवस्य पुत्रः परमधार्मिकः ॥१५॥

फिर सृञ्जय के बड़ा प्रतापी श्रीमान् सहदेव नाम का पुत्र हुआ। सहदेव का पुत्र कुशाश्व हुआ जो बड़ा धर्मात्मा था ॥१५॥

कुशाश्वस्य महातेजाः सोमदत्तः प्रतापवान्।
सोमदत्तस्य पुत्रस्तु काकुत्स्थ इति विश्रुतः ॥१६॥

कुशाश्व के महातेजस्वी और प्रतापी सोमदत्त हुआ। फिर सोमदत्त के काकुत्स्थ नाम का पुत्र हुआ ॥१६॥

तस्य पुत्रो महातेजाः संप्रत्येष पुरीमिमाम् ।
आवसत्परमप्रख्यः सुमतिर्नाम दुर्जयः ॥१७॥

उसी का महातेजस्वी, परम प्रसिद्ध और दुर्जेय पुत्र राजा सुमति आजकल इस विशाला पुरी में राज्य करता है ॥१७॥

इक्ष्वाकोस्तु प्रसादेन सर्वे वैशालिका नृपाः ।
दीर्घायुषो महात्मानो वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः ॥१८॥

महाराज इक्ष्वाकु की कृपा से विशाला पुरी के समस्त राजा दीर्घायु, महात्मा, पराक्रमी तथा बड़े धर्मिष्ठ होते रहे हैं ॥१८॥

इहाद्य रजनीं राम सुखं वत्स्यामहे वयम् ।
श्वः प्रभाते नरश्रेष्ठ जनकं द्रष्टुमर्हसि ॥१६॥

हे राम ! आज की रात हम यहीं पर सुखपूर्वक ठहरेंगे। कल प्रातःकाल पुरुषों में श्रेष्ठ महाराज जनक जी से भेंट करेंगे ॥१६॥

सुमतिस्तु महातेजा विश्वामित्रमुपागतम् ।
श्रुत्वा नरवरश्रेष्ठः प्रत्युद्गच्छन् महायशाः ॥२०॥

इस बीच में राजाओं में श्रेष्ठ महातेजस्वी और महायशस्वी राजा सुमति ने विश्वामित्र जी के आने का समाचार सुना और वे उनकी अगवानी को गए ॥२०॥

पूजां च परमां कृत्वा सोपाध्यायः सबान्धवः ।
प्राञ्जलिः कुशलं पृष्ट्वा विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥२१॥

उपाध्याय तथा बन्धु-बान्धवों के साथ उनका भली भाँति पूजन कर तथा हाथ जोड़ कर, कुशलादि पूछी। तदनन्तर वे विश्वामित्र जी से बोले ॥२१॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे विषयं मुनिः।
सम्प्राप्तो दर्शनं चैव नास्ति धन्यतरो मया ॥२२॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे मुनि! आज मैं धन्य हूँ जो आपने मेरे राज्य में पधार कर मुझे दर्शन दिए। मुझसे बढ़ कर धन्य आज और कोई नहीं है ॥२२॥

बालकाण्ड का सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:❀:—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—❀—

पृष्ट्वा तु कुशलं तत्र परस्परसमागमे।
कथान्ते सुमतिर्वाक्यं व्याजहार महामुनिम् ॥१॥

भेंट के अवसर पर परस्पर कुशलप्रश्न के अनन्तर राजा सुमति ने महर्षि विश्वामित्र जी से कहा ॥१॥

इमौ कुमारौ भद्रं[1] ते देवतुल्यपराक्रमौ।
गजसिंहगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ ॥२॥
पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गतूणीधनुर्धरौ।
अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ ॥३॥

---

१ दृष्टिदोषो माभूदित्याह—भद्र त इति (गो०)

यदृच्छयैव गां प्राप्तौ देवलोकादिवामरौ ।
कथं पद्भ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने ॥४॥

हे मुने! (भगवान् करें) इन्हें नजर न लगे, यह तो बतलाइये कि, ये दोनों कुमार, जो देवताओं के समान पराक्रम वाले हैं, जगसिंह शार्दूल और वृषभ के समान चाल चलने वाले हैं, जो कमल जैसे नेत्र वाले हैं, जो खड्ग तरकस और धनुष धारण किए हुए हैं, जो अश्विनीकुमारों जैसे सुस्वरूप हैं, जो जवानी की सीमा पर पहुँचे हुए हैं, जो देवताओं की तरह निज इच्छानुसार पृथिवीतल पर आए हुए हैं, पांव प्यादे अर्थात् पैदल कैसे और किस लिए यहाँ आए हैं और किस के पुत्र हैं ॥२॥३॥४॥

[टिप्पणी—ऊपर राजा सुमति ने राजकुमारों को गज, सिंह, शार्दूल तथा वृषभ जैसी चाल चलने वाला बतलाया है अथवा राजकुमारों की चाल की उक्त चार प्रसिद्ध पराक्रमी जीवों से उपमा दी है। इसका अभिप्राय यहाँ खोलना आवश्यक जान पड़ता है। श्रीगोविन्दराज जी लिखते हैं (१) "गाम्भीर्यगमने गजतुल्यौ"—गाम्भीर्यगमन में गज के समान गति वाले। (२) पराभिभवनार्हगमने सिंहतुल्यौ"—दूसरे का पराभव करने को जाते समय सिंह के समान गमन करने वाले (३) "भयकर गमने शार्दूलतुल्यौ" भयकर चाल चलने में शार्दूल के समान। (४) "सगर्वगमने वृषभसदृशावित्यर्थः" गर्व सहित चलने में सांड के समान।]

भूषयन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्याविवाम्बरम् ।
परस्परस्य सदृशौ प्रमाणेङ्गितचेष्टितैः ॥५॥

इन दोनों ने इस देश को वैसे ही सुशोभित किया है जैसे सूर्य और चन्द्रमा आकाश को सुशोभित करते हैं। डीलडौल,

यस्यैतदाश्रमपदं शप्तं कोपान् महात्मना ।
गौतमस्य नरश्रेष्ठ पूर्वमासीन् महात्मनः ॥१५॥

जिसका यह आश्रम है और जैसे एक महात्मा ने क्रोध में भर इसे शाप दिया था । हे राम ! पूर्वकाल में यह आश्रम गौतम का था ॥१५॥

आश्रमो दिव्यसङ्काशः सुरैरपि सुपूजितः ।
स चेह तप आतिष्ठदहल्यासहितः पुरा ॥१६॥
वर्षपूगाननेकांश्च राजपुत्र महायशः ।
कदाचिद्दिवसे राम ततो दूरं गते मुनौ ॥१७॥

यह देवताओं जैसा आश्रम था और देवता इसकी वन्दना करते थे । इस आश्रम मे अहल्या के साथ मुनि ने बहुत वर्षों तक तप किया । हे महायशस्वी श्रीराम ! एक दिन गौतम ऋषि कहीं दूर चले गए ॥१६॥१७॥

तस्यान्तरं विदित्वा तु सहस्राक्षः शचीपतिः ।
मुनिवेषधरोऽहल्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥१८॥

आश्रम में मुनि को अनुपस्थित देख कर, सहस्राक्ष शचीपति इन्द्र ने गौतम का रूप धारण कर, अहल्या से कहा ॥१८॥

ऋतुकालं प्रतीक्षन्ते नार्थिनः सुसमाहिते ।
सङ्गमं त्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे ॥१९॥

कि कामी पुरुष ऋतुकाल की प्रतीक्षा नहीं करते । हे सुन्दरी ! अतः आज हम तेरे साथ मैथुन करना चाहते हैं ॥१९॥

मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन ।
मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात् ॥२०॥

हे रघुनन्दन ! मुनिवेष धारण किए हुए इन्द्र को पहिचान कर भी, दुष्टा अहल्या ने प्रसन्नतापूर्वक इन्द्र के साथ भोग किया ॥२०॥

अथाब्रवीत्सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना ।
कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ॥२१॥

तदनन्तर वह (अहल्या) इन्द्र से बोली, हे इन्द्र ! मेरा मनोरथ पूरा हो गया, अतः हे देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र ! यहाँ से अब तुम शीघ्र चले जाओ ॥२१॥

आत्मानं मां च देवेश सर्वदा रक्ष मानद ।
इन्द्रस्तु प्रहसन् वाक्यमहल्यामिदमब्रवीत् ॥२२॥

हे मानद ! (अर्थात् इज्जत बढ़ाने वाले) अपनी और मेरी सदा रक्षा (गौतम से) करते रहिए। इसके उत्तर में इन्द्र ने भी हँस कर यह कहा ॥२२॥

सुश्रोणि परितुष्टोऽस्मि गमिष्यामि यथागतम् ।
एवं सङ्गम्य तु तया निश्चक्रामोटजात्ततः ॥२३॥

हे सुश्रोणि (सुन्दर कटि वाली) मैं तेरे साथ भोग करने से तेरे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ। मैं अब आनन्दपूर्वक अपने स्थान को जाऊँगा। यह कह इन्द्र अहल्या की कुटी के बाहर निकले ॥२३॥

स सम्भ्रमात्त्वरन् राम शङ्कितो गौतमं प्रति ।
गौतमं स ददर्शाथ प्रविशन्तं महामुनिम् ॥२४॥

हे राम! गौतम के भय से इन्द्र उस समय विकल और शङ्कित थे कि, उन्होंने कुटी मे गौतम को प्रवेश करते देखा ॥२४॥

देवदानवदुर्धर्षं तपोबलसमन्वितम् ।
तीर्थोदकपरिक्लिन्नं दीप्यमानमिवानलम् ॥२५॥

वे ऋषि, देवों और दानवों से न जीते जाने वाले, तपोबल से युक्त, तीर्थ जल से भीगे हुए, अग्नि के तुल्य प्रकाशमान ॥२५॥

गृहीतसमिधं तत्र सकुशं मुनिपुङ्गवम् ।
दृष्ट्वा सुरपतिस्त्रस्तो विवर्णवदनोऽभवत् ॥२६॥

तथा हवन के लिए लकड़ियाँ और कुश हाथों मे लिए हुए थे। उनको देखते ही इन्द्र बहुत डरे और उनका चेहरा फीका पड़ गया ॥२६॥

अथ दृष्ट्वा सहस्राक्षं मुनिवेषधरं मुनिः ।
दुर्वृत्तं वृत्तसम्पन्नो रोषाद्वचनमब्रवीत् ॥२७॥

गौतम जी ने, इन्द्र को अपना रूप धारण किए हुए देख और (उनके चेहरे से) यह जान कर कि, वे असत्कर्म कर के जा रहे हैं, क्रोध में भर यह शाप दिया ॥२७॥

मम रूपं समास्थाय कृतवानसि दुर्मते ।
अकर्तव्यमिदं तस्माद्विफलस्त्वं[1] भविष्यसि ॥२८॥

अरे दुष्ट! मेरा रूप बना कर तूने इस अनकरने काम को किया है अतः तू अण्डकोश-रहित अर्थात् नपुंसक हो जा ॥२८॥

---

* विफलः—विगतवृषणः (गो०) अण्डकोषरहितः।

गौतमेनैवमुक्तस्य सरोषेण महात्मना ।
पेततुर्वृषणौ भूमौ सहस्राक्षस्य तत्क्षणात् ॥२९॥

महात्मा गौतम के कुपित हो कर यह शाप देते ही, उसी क्षण इन्द्र के दोनों वृषण (अण्डकोश) जमीन पर गिर पड़े ॥२९॥

तथा शप्त्वा स वै शक्रमहल्यामपि शप्तवान् ।
इह वर्षसहस्राणि बहूनि त्वं निवत्स्यसि ॥३०॥

इस प्रकार इन्द्र को शाप दे, गौतम जी ने अहल्या को भी शाप दिया कि, तू इसी स्थान पर हजारों वर्षों तक वास करेगी ॥३०॥

वायुभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी ।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन्निवत्स्यसि ॥३१॥

और तेरा भोजन केवल पवन होगा और कुछ भी न खा सकेगी, (मेरे शाप से) अपनी करनी का फल भोगती हुई भस्म में लोटा करेगी। तू इसी स्थान पर अदृश्य हो कर रहेगी अर्थात् तुझे कोई भी प्राणी नहीं देख सकेगा ॥३१॥

यदा चैतद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः ।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि ॥३२॥

जब इस घोर वन* मे महाराज दशरथ के पुत्र अजेय श्रीरामचन्द्र पधारेंगे, तब तू पवित्र होगी अर्थात् मेरे इस शाप से

* अभी तक तो वह स्थान सुरम्य मुनिआश्रम था, किन्तु तब से वह, मुनि के शाप से, निर्जन वन हो गया।

मुक्त होगी अथवा जो तूने यह गर्हित काम किया है, उसके पाप से छूटेगी ॥३२॥

तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता ।
मत्सकाशे मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि ॥३३॥

हे दुष्टे! लोभ और मोह से रहित उनका सत्कार अर्थात् आतिथ्य करने पर, तू अपने पहले शरीर को धारण कर अति प्रसन्न हो, मेरे समीप आवेगी ॥३३॥

एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम् ।
इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारणसेविते ।
हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः ॥३४॥

इति अष्टचत्वारिंश. सर्गः ॥

इस प्रकार महातेजस्वी गौतम ऋषि व्यभिचारिणी अहल्या को शाप दे और इस आश्रम को त्याग कर, सिद्धों तथा चारणा से सेवित हिमालय के शिखर पर जा, तप करने लगे ॥३४॥

बालकाण्ड का अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

[टिप्पणी—महर्षि वाल्मीकि जी के इस वर्णन से पाठको को अवगत होगा कि, आदिकाव्य के अनुसार गौतम के शाप से अहल्या का शिला होना और इन्द्र के शरीर में सहस्र.भग होना, जैसा कि लोक में प्रसिद्ध है, समर्थित नहा होता। अहल्या के शिला बनने की कथा पद्मपुराण में आयी है। वहाँ इस घटना के समर्थन में यह एक श्लोक अवश्य पाया जाता है।

शापदग्धा पुरा भर्त्रा राम शक्रापराधत ।
अहल्याख्या शिला जज्ञे शतलिङ्ग. कृतस्स्वराट् ॥

लिङ्गशब्देन भगाकारं चिह्नम्। स्वराडिन्द्र.]

—:०:—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

अफलस्तु ततः शक्रो देवानग्निपुरोधसः ।
अब्रवीत्त्रस्तवदनः सर्षिसंघान् सचारणान् ॥१॥

गौतम ऋषि के शाप से नपुसकत्व को प्राप्त हुए एवं उदास मन इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं, सिद्धों, गन्धर्वों और चारणों से बोले ॥१॥

कुर्वता तपसो विघ्नं गौतमस्य महात्मनः ।
क्रोधमुत्पाद्य हि मया सुरकार्यमिदं कृतम् ॥२॥

महात्मा गौतम की तपस्या मे विघ्न डालने के लिए मैंने उन्हें क्रुद्ध कर, देवताओं का यह काम बनाया ॥२॥

[टिप्पणी—इन्द्र के इस कथन को मिथ्या न समझना चाहिए। क्योंकि सचमुच बात यही थी। गौतम ने सर्वदेवताओं का स्थान लेने के लिए तप किया था। क्रोधादि दुर्वृत्तियों का प्रादुर्भाव होने से तपस्वी की तपस्या नष्ट हो जाती है। अतः इन्द्र ने महर्षि गौतम की तपस्या नष्टभ्रष्ट करने के लिए ही उनको क्रुद्ध करने के अभिप्राय से अहल्या के साथ भोग किया था, नहीं तो स्वर्ग में अहल्या से कहीं अधिक सुन्दरी स्त्रियों का अभाव नहीं था। मृत्युलोकवासियों के सदनुष्ठानों में देवता अपने स्वार्थ के लिए सदा विघ्न करते चले आए हैं।]

अफलोऽस्मि कृतस्तेन क्रोधात् सा च निराकृता ।
शापमोक्षेण महता तपोस्यापहृतं मया ॥३॥

ऋषि ने क्रुद्ध हो मुझे तो नपुंसक कर दिया और अहल्या को शाप दे कर त्याग दिया। इस प्रकार उनसे शाप दिला कर, मैंने उनकी बड़ी तपस्या का फल हर लिया ॥३॥

तस्मात् सुरवराः सर्वे सर्षिसंघाः सचारणाः।
सुरसाह्यकरं सर्वे सफलं कर्तुमर्हथ ॥४॥

अतएव हे देवताओ! देवर्षियो! चारणो! तुम सब मेरे अच्छे होने में (पुंस्त्व-प्राप्ति के लिए) सहायता दो ॥४॥

शतक्रतोर्वचः श्रुत्वा देवाः साग्निपुरोगमाः।
पितृदेवानुपेत्याहुः सर्वे सह मरुद्गणैः ॥५॥

इन्द्र के इन वाक्यों को सुन, अग्नि को आगे कर पवनादि देवतागण, कव्यवाहनादि पितरों के पास जाकर बोले ॥५॥

अयं मेषः सवृषणः शक्रो ह्यवृषणः कृतः।
मेषस्य वृषणौ गृह्य शक्रायाशु प्रयच्छत ॥६॥

इन्द्र वृषण-रहित हो गए हैं और तुम्हारे इस मेढ़े के अण्ड-कोश हैं, अतएव इसके अण्डकोष उखाड़ कर, इन्द्र को तुरन्त दे दीजिए ॥६॥

अफलस्तु कृतो मेषः परां तुष्टिं प्रदास्यति।
भवतां हर्षणार्थं च ये य दास्यन्ति मानवाः ॥७॥

मेढ़े के अण्डकोश-रहित होने से तुम्हें सन्तुष्ट करने में कुछ उठा न रखा जायगा। आज से जो मनुष्य, वृषण-रहित मेढ़े का यज्ञ में बलिदान कर, आपको प्रसन्न करें, उनको ॥७॥

अक्षयं हि फलं तेषां यूयं दास्यथ पुष्कलम्।
अग्नेस्तु वचनं श्रुत्वा पितृदेवाः समागताः ॥८॥

तुम लोग अक्षय्य एवं अनन्त फल देना। अग्निदेव के यह वचन सुन, पितरों ने ॥८॥

उत्पाटय मेषवृषणौ सहस्राक्षे न्यवेशयन्।
तदाप्रभृति काकुत्स्थ पितृदेवाः समागताः ॥९॥

मेढ़े के वृषण निकाल कर, इन्द्र के लगा दिए। तब से हे रामचन्द्र! पितृगण ॥९॥

अफलान्भुञ्जते मेषान्फलैस्तेषामयोजयन्।
इन्द्रस्तु मेषवृषणस्तदाप्रभृति राघव ॥१०॥

यज्ञ मे अंडकोष-रहित मेढ़े लेने लगे। क्योंकि, हे राघव! मेढ़े के अंडकोष निकाल कर, इन्द्र के लगा दिए हैं ॥१०॥

[टिप्पणी—एक के शरीर के अवयव निकाल कर दूसरे के शरीर में लगा देने की शस्त्रक्रिया (Surgery) का विधान, इस आख्यान से सिद्ध होता है कि, प्राचीन है। आजकल के लोगों का नया आविष्कार नहीं है।]

गौतमस्य प्रभावेण तपसश्च महात्मनः।
तदागच्छ महातेज आश्रमं पुण्यकर्मणः ॥११॥

यह महात्मा गौतम के तप का प्रताप या फल है। इसलिए हे महातेजस्वी! अब तुम पुण्यात्मा गौतम के आश्रम पर चलो ॥११॥

तारयैनां महाभागामहल्यां देवरूपिणीम्।
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ॥१२॥

और महाभागा अहल्या को तारिए जिससे वह देवरूपिणी हो जाय। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने, विश्वामित्र जी के ये वचन सुन ॥१२॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य तमाश्रममथाविशत् ।
ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम् ॥१३॥

और उनको आगे कर, गौतम ऋषि के आश्रम में प्रवेश किया। वहाँ जाकर देखा कि, अहल्या तप के तेज से प्रकाशित हो रही थी ॥१३॥

लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः ।
प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव ॥१४॥

उसे सुर, असुर और मनुष्य कोई भी नहीं देख सकते थे। मानों ब्रह्मा जी ने अति यत्न से स्वयं अपने हाथों से उस दिव्य स्त्री को मायाविनी की तरह बनाया हो ॥१४॥

स तुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव ।
मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव ॥१५॥

कोहरे (कुहासे) से छिपी हुई पूर्णमासी के चन्द्रमा की स्वच्छ चाँदनी की तरह, अथवा जल में पड़े हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब के दुराधर्ष प्रकाश की तरह, वह दीप्तिमती देख पड़ती थी ॥१५॥

धूमेनापि परीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव ।
सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह ॥१६॥

अथवा धुएँ मे जलती हुई आग की लपट की तरह, वह अहल्या गौतम ऋषि के शाप से किसी को नहीं दिखलाई पड़ती थी ॥ १६ ॥

त्रयाणामपि लोकानां यावद्रामस्य दर्शनम् ।
शापस्यान्तमुपागम्य तेषां दर्शनमागता ॥१७॥

अहल्या को लोग इसलिए नहीं देख सकते थे कि, गौतम मुनि ने शाप देते समय यह कह दिया था कि, जब तक श्रीरामचन्द्र जी

के दर्शन तुझे न होंगे, तब तक तेरे समीप जाकर भी त्रिलोकी का कोई भी जीव, तुझे नहीं देख सकेगा ॥१७॥

राघवौ तु ततस्तस्याः पादौ जगृहतुस्तदा ।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा च तौ ॥१८॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने अहल्या के पैर छुए। अहल्या ने भी गौतम ऋषि की कही बात को याद कर, और दोनों को पूजनीय समझ उन दोनों के चरण पकड़े अर्थात् उनके पैरों पर गिरी ॥१८॥

पाद्यमर्घ्यं तथाऽऽतिथ्यं चकार सुसमाहिता ।
प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन[1] कर्मणा[2] ॥१९॥

अहल्या ने अर्घ्य पाद्यादि से भली भाँति उनका आतिथ्य किया। दोनों राजकुमारों ने भी शास्त्रों में वर्णित विधिविधान के साथ किए गए उसके आतिथ्य को ग्रहण किया ॥१९॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद्देवदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
गन्धर्वाप्सरसां चापि महानासीत् समागमः ॥२०॥

उस समय आकाश से फूलों की वर्षा हुई, देवताओं ने नगाड़े बजाए। गन्धर्व और अप्सराएँ गाने और नाचने लगीं ॥२०॥

साधु साध्विति देवास्तामहल्यां समपूजयन् ।
तपोबलविशुद्धाङ्गीं गौतमस्य वशानुगाम्[3] ॥२१॥

---

१ विधिदृष्टेन—शास्त्रदृष्टेन । २ कर्मणा—प्रकारेण (गो०)
३ गौतमस्य वशानुगामित्यनेन गौतमस्तदा रामागमनं विदित्वा समागत इत्यवगम्यते। [गो०

देवतागण अहल्या की प्रशंसा करने लगे। गौतम जी (अपने तपःप्रभाव से) श्रीरामचन्द्र जी का आना जान अपने आश्रम में पहुँचे और वहाँ पूर्व के समान धारण किए हुए अहल्या को पाकर प्रसन्न हुए ॥२१॥

गौतमोऽपि महातेजा अहल्यासहितः सुखी ।
रामं सम्पूज्य विधिवत्तपस्तेपे[1] महातपाः ॥२२॥

अहल्या सहित महातेजस्वी गौतम ऋषि ने प्रसन्न हो श्रीराम का भली भाँति पूजन किया और फिर वे उसी आश्रम में तप करने लगे ॥२२॥

रामोऽपि परमां पूजां गौतमस्य महामुनेः ।
सकाशाद्विधिवत्प्राप्य जगाम मिथिलां ततः ॥२३॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

तदनन्तर श्री रामचन्द्र जी भी महर्षि गौतम से विधिवत् पूजा ग्रहण कर, मिथिला पुरी मे गए ॥२३॥

बालकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:❀:—

पञ्चाशः सर्गः

—:o:—

ततः प्रागुत्तरां गत्वा रामः सौमित्रिणा सह ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागमत् ॥१॥

---

१ तेपे तत्रैवाश्रम इतिशेषः। (गो०)

तब विश्वामित्र जी को आगे कर, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण सहित ईशानकोण की ओर से चल कर, महाराज की यज्ञशाला में पहुँचे ॥१॥

रामस्तु मुनिशार्दूलमुवाच सहलक्ष्मणः ।
साध्वी यज्ञसमृद्धिर्हि जनकस्य महात्मनः ॥२॥

दोनो राजकुमारो ने पुरी और यज्ञशाला की सजावट देख कर विश्वामित्र जी से कहा—महाराज जनक के यज्ञ की तैयारी तो बड़ी अच्छी है ॥२॥

बहूनीह सहस्राणि नानादेशनिवासिनाम् ।
ब्राह्मणानां महाभाग वेदाध्ययनशालिनाम् ॥३॥

हे महाभाग! देखिए, नाना देशों के रहने वाले हजारों वेदाध्ययनशाली ब्राह्मण यहां देख पड़ते हैं ॥३॥

ऋषिवाटाश्च दृश्यन्ते शकटीशतसङ्कुलाः ।
देशो विधीयतां ब्रह्मन् यत्र वत्स्यामहे वयम् ॥४॥

ऋषियों के आवासस्थानों मे सैकड़ों (उनका समान ढोने वाले) छकड़े देख पड़ते हैं। हे ब्रह्मन्! कोई स्थान ठीक कीजिए, जहाँ हम सब लोग (आराम के साथ) रहें ॥४॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः ।
निवेशमकरोद्देशे विविक्ते सलिलायुते ॥५॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन, महर्षि विश्वामित्र जी एक निराले स्थान में, जहाँ जल का भी सुपास था, जा उतरे ॥५॥

विश्वामित्रमनुप्राप्तं श्रुत्वा स नृपतिस्तदा ।
शतानन्दं पुरस्कृत्य पुरोहितमनिन्दितम् ।
प्रत्युज्जगाम सहसा विनयेन समन्वितः ।
ऋत्विजोऽपि महात्मानस्त्वर्घ्यमादाय सत्वरम् ॥७॥

विश्वामित्र जी के आने का संवाद पा कर अपने प्रसिद्ध पुरोहित शतानन्द को आगे कर, महाराज जनक अपने ऋत्विजों सहित, विश्वामित्र जी के लिए अर्घ्यादि का सामान साथ लिए हुए, बड़ी नम्रता के साथ तुरन्त वहाँ पहुँचे ॥६॥७॥

विश्वामित्राय धर्मेण ददुर्मन्त्र[1]पुरस्कृतम् ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकस्य महात्मनः ॥८॥

महाराज जनक ने धर्मशास्त्रानुसार मधुपर्क आदि विश्वामित्र जी के आगे रखा । महाराज जनक की पूजा अङ्गीकार कर, विश्वामित्र जी ने, ॥८॥

पप्रच्छ कुशलं राज्ञो यज्ञस्य च निरामयम् ।
स तांश्चापि मुनीन् पृष्ट्वा सोपाध्यायपुरोधसः ॥९॥

महाराज जनक से उनके राज्य का कुशल तथा यज्ञ की निर्विघ्नता पूछी । फिर शतानन्द आदि जो ऋषि महाराज जनक के साथ आए थे, उनसे भी कुशलप्रश्न किया ॥९॥

यथान्यायं ततः सर्वैः समागच्छत् प्रहृष्टवत् ।
अथ राजा मुनिश्रेष्ठं कृताञ्जलिरभाषत ॥१०॥

और प्रसन्न हो सब से मिले भेंटे । तब राजा जनक हाथ जोड़ कर विश्वामित्र जी से बोले ॥१०॥

---

१ मन्त्रपुरस्कृतमित्यनेन मधुपर्ककरणमुच्यते । (गो०)

आसने भगवानास्तां सहैभिर्मुनिपुङ्गवैः ।
जनकस्य वचः श्रुत्वा निषसाद महामुनिः ॥११॥

महाराज! आप और अन्य ऋषिप्रवर आसनो पर विराजें। यह सुन विश्वामित्र जी अन्य ऋषियो सहित आसनो पर बैठे ॥११॥

पुरोधा ऋत्विजश्चैव राजा च सह मन्त्रिभिः ।
आसनेषु यथान्यायमुपविष्टान् समन्ततः ॥१२॥

तदनन्तर राजा जनक भी अपने पुरोहित, ऋत्विजों और मंत्रियों के साथ उचित स्थानों पर आसनो के ऊपर बैंठे। राजा जनक बीच मे थे और अन्य सब उनके चारों ओर बैठे हुए थे ॥१२॥

दृष्ट्वा स नृपतिस्तत्र विश्वामित्रमथाब्रवीत् ।
अद्य यज्ञसमृद्धिर्मे सफला दैवतैः कृता ॥१३॥

सब लोगों को यथास्थान बैठा देख, महाराज जनक, विश्वामित्र जी से बोले—आज देवताओं के अनुग्रह से मेरे यज्ञ मे जो कमी थी वह पूरी हुई ॥१३॥

अद्य यज्ञफलं प्राप्तं भगवद्दर्शनान् मया ।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोस्स्मि यस्य मे मुनिपुङ्गव ॥१४॥
यज्ञोपसदनं ब्रह्मन् प्राप्तोऽसि मुनिभिः सह ।
द्वादशाहं तु ब्रह्मर्षे शेषमाहुर्मनीषिणः ॥१५॥

हे भगवन्! आज आपके दर्शन प्राप्तकर मुझे यज्ञ का फल मिल गया। आपके मुनियो सहित यज्ञशाला मे पधारने से मैं आज धन्य और अनुगृहीत हुआ। हे ब्रह्मर्षे! ऋत्विज लोग कहते हैं कि, अब केवल बारह दिन और यज्ञ पूर्ण होने को रह गए हैं ॥१४॥१५॥

ततो भागार्थिनो देवान् द्रष्टुमर्हसि कौशिक।
इत्युक्त्वा मुनिशार्दूलं प्रहृष्टवदनस्तदा ॥१६॥

तदनन्तर यज्ञभाग लेने के लिए देवता आवेंगे। हे कौशिक! आप उनको देखेंगे। विश्वामित्र जी से यह कह कर, राजा जनक प्रसन्न हुए ॥१६॥

[नोट—रामायण काल में होने वाले यज्ञों में देवगण अपना यज्ञीय भाग लेने प्रत्यक्ष होकर आते थे। उनको तत्रस्थित सब लोग देख पाते थे।]

पुनस्तं परिपप्रच्छ प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः।
इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ॥१७॥

और हाथ जोड़ कर वे फिर बोले-आपके आशीर्वाद से इन कुमारों का कल्याण हो, (अर्थात् दीठ इन्हें न लगे)। यह तो बतलाइए कि, ये दोनो कुमार जो देवताओं के समान पराक्रमी हैं ॥१७॥

गजसिंहगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ।
पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गतूणीधनुर्धरौ ॥१८॥

गज, सिंह, शार्दूल तथा वृषभ के समान चाल चलने वाले, वीर, कमल जैसे नेत्रों वाले, खड्ग, तरकस और धनुषधारी ॥१८॥

अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ।
यदृच्छयैव गां प्राप्तौ देवलोकादिवामरौ ॥१६॥

सौन्दर्य में अश्विनीकुमारों जैसे, चढ़ती जवानी वाले, स्वेच्छापूर्वक देवताओं की तरह स्वर्ग से पृथिवी पर उतरे हुए ॥१६॥

कथं पद्भ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने।
पुण्डरीकविशालाक्षौ वरायुधधरावुभौ ॥२०॥

क्यों और किस लिए पैदल यहाँ आए हैं और किसके पुत्र हैं ? इनके विशाल एवं कमल सदृश नेत्र हैं, श्रेष्ठ आयुध धारण किए हुए हैं ॥२०॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ खड्गवन्तौ महाद्युती ।
काकपक्षधरौ वीरौ कुमाराविव पावकी ॥२१॥

गोह के दस्ताने हाथों में पहने हुए हैं, तलवारें भी लिए हुए हैं, बड़ी द्युति वाले हैं, काकपक्ष *रखे हुए हैं, कार्त्तिकेय के समान वीर हैं ॥२१॥

रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणौ ।
प्रकाश्य कुलमस्माकं मामुद्धर्तुमिहागतौ ॥२२॥

रूप और उदारता आदि गुणों से मनुष्य के मन को हरने वाले हैं। हमारे कुल को उजागर कर के, हमारा उद्धार करने यहाँ आए हैं ॥२२॥

भूषयन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्याविवाम्बरम् ।
परस्परस्य सदृशौ प्रमाणेङ्गितचेष्टितैः ॥२३॥

इस देश को ऐसा भूषित कर रहे हैं जैसा चन्द्र व सूर्य आकाश को भूषित करते हैं। डीलडौल, चालढाल और चेष्टा से दोनों भाई जान पड़ते हैं ॥२३॥

कस्य पुत्रौ मुनिश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा जनकस्य महात्मनः ॥२४॥

---

*कनपुटी के ऊपर बड़े-बड़े बालों को काकपक्ष कहते हैं।

हे मुनिवर! बतलाइए ये दोनों किसके पुत्र हैं। मैं इनका पूर्ण वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। राजा जनक के ये वचन सुन ॥२४॥

न्यवेदयन् महात्मानौ पुत्रौ दशरथस्य तौ।
सिद्धाश्रमनिवासं च राक्षसानां वधं तथा ॥२५॥

विश्वामित्र जी कहने लगे कि, ये दोनों महाराज दशरथ के राजकुमार हैं। फिर विश्वामित्र जी ने दोनों राजकुमारों का सिद्धाश्रम में रहने, वहाँ राक्षसों का वध करने ॥२५॥

तच्चागमनमव्यग्रं विशालायाश्च दर्शनम्।
अहल्यादर्शनं चैव गौतमेन समागमम्।
महाधनुषि जिज्ञासां कर्तुमागमनं तथा ॥२६॥

रास्ते में विशाला नगरी को देखने, अहल्या के उद्धार और गौतम से भेंट होने का सारा वृत्तान्त कहा और यह भी कहा कि, यहाँ ये आपके बड़े धनुष को देखने के लिए आये हैं ॥२६॥

एतत्सर्वं महातेजा जनकाय महात्मने।
निवेद्य विररामाथ विश्वामित्रो महामुनिः ॥२७॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

इन सब घटनाओं का वृत्तान्त महाराज जनक को सुना कर, महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र जी चुप हो गए ॥२७॥

बालकाण्ड का पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:॰:—

एकपञ्चाशः सर्गः

—:❀:—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रस्य धीमतः ।
हृष्टरोमा महातेजाः शतानन्दो महातपाः ॥१॥

बुद्धिमान् विश्वामित्र जी के वचन सुनकर, महातेजस्वी एवं महातपस्वी शतानन्द जी के रोंगटे खड़े हो गए ॥१॥

गौतमस्य सुतो ज्येष्ठस्तपसा द्योतितप्रभः ।
रामसन्दर्शनादेव परं विस्मयमागतः ॥२॥

शतानन्द जी महर्षि गौतम के ज्येष्ठपुत्र थे और तपःप्रभाव से जगमगा रहे थे । वे श्रीरामचद्र जी का दर्शन कर, बड़े विस्मित हुए ॥२॥

स तौ निषण्णौ सम्प्रेक्ष्य सुखासीनौ नृपात्मजौ ।
शतानन्दो मुनिश्रेष्ठं विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥३॥

दोनों राजकुमारों को सुखपूर्वक बैठे हुए देखकर, शतानन्द जी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र जी से बोले ॥३॥

अपि ते मुनिशार्दूल मम माता यशस्विनी ।
दर्शिता राजपुत्राय तपोदीर्घमुपागता ॥४॥

हे मुनिशार्दूल ! हमारी यशस्विनी माता बहुत दिनों से तपस्या करती थी । क्या आपने उसे श्रीरामचन्द्र जी को दिखलाया था ? ॥४॥

अपि रामे महातेजा मम माता यशस्विनी ।
वन्यैरुपाहरत् पूजां पूजार्हे सर्वदेहिनाम् ॥५॥

क्या मेरी माता ने सब प्राणियों के पूज्य श्रीरामचन्द्र जी का फलमूलादि वन्य पदार्थों से सत्कार किया था? ॥५॥

अपि रामाय कथितं यथावृत्तं पुरातनम्।
मम मातुर्महातेजो दैवेन दुरनुष्ठितम् ॥६॥

इन्द्र ने मेरी माता के प्रति जो दुराचार किया था, वह प्राचीन वृत्तान्त क्या आपने श्रीरामचन्द्र जी से कहा? ॥६॥

अपि कौशिक भद्रं ते गुरुणा[1] मम संगता।
माता मम मुनिश्रेष्ठ रामसन्दर्शनादितः ॥७॥

हे कौशिक! यह तो कहिए कि श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन के प्रभाव से, मेरी माता, मेरे पिता को मिल गई या नहीं? ॥७॥

अपि मे गुरुणा रामः पूजितः कुशिकात्मज।
इहागतो महातेजाः पूजां प्राप्तो महात्मनः ॥८॥

हे विश्वामित्र जी! क्या मेरे पिता ने श्रीरामचन्द्र जी का सत्कार किया था? क्या श्रीरामचन्द्र जी उनके (मेरे पिता के) द्वारा सत्कृत होकर, यहाँ आये हैं? ॥८॥

अपि शान्तेन मनसा गुरुर्मे कुशिकात्मज।
इहागतेन रामेण प्रयतेनाभिवादितः ॥९॥

हे विश्वामित्र जी! (यह भी बतलाइए कि) आश्रम में जब मेरे शान्तचित्त पिता आये, तब श्रीरामचन्द्र जी ने उनको प्रणाम किया था या नहीं? (अथवा मेरी माता के दोषों पर ध्यान दे, उन्होंने उनका तिरस्कार तो नहीं किया?) ॥९॥

---

१ गुरुणा—पित्रा। (गो०)

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विश्वामित्रो महामुनिः ।
प्रत्युवाच शतानन्दं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥१०॥

शतानन्द के इन प्रश्नों को सुन महर्षि विश्वामित्र जी, जो बातचीत करने का ढङ्ग भली भाँति जानते थे, बातचीत करने में बड़े निपुण शतानन्द जी से बोले ॥१०॥

नातिक्रान्तं मुनिश्रेष्ठ यत्कर्तव्यं कृतं मया ।
संगता मुनिना पत्नी भार्गवेणेव[1] रेणुका ॥११॥

हे मुनिप्रवर ! जो कुछ मेरे कहने सुनने करने धरने का था सो मैंने कहा सुना और किया धरा। मैंने अपना कोई कर्त्तव्य बाकी नहीं रखा। जैसे जमदग्नि ने रेणुका को शाप दिया और पीछे अनुग्रह कर उसे अङ्गीकार किया वैसे ही आपके पिता ने भी आपकी माता के ऊपर कृपा की और उसे ग्रहण कर लिया ॥११॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ।
शतानन्दो महातेजा रामं वचनमब्रवीत् ॥१२॥

बुद्धिमान् विश्वामित्र जी के इस उत्तर को सुन, महातेजस्वी शतानन्द जी श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥१२॥

स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य महर्षिमपराजितम् ॥१३॥

हे पुरुषोत्तम ! आपका आना शुभप्रद हो। यह बड़े भाग्य की बात है, जो आप विश्वामित्र जी के साथ मेरे पिता के आश्रम में पधारे और मेरी माता का उद्धार किया। इन महर्षि विश्वामित्र

१ भार्गवेण—जमदग्निना। (गो०)

जी की कहाँ तक प्रशंसा की जाय। इनका सम्मान सैकड़ों ऋषि करते हैं ॥१३॥

अचिन्त्यकर्मा तपसा ब्रह्मर्षिरतुलप्रभः ।
विश्वामित्रो महातेजा वेत्स्येनं परमां गतिम्[1] ॥१४॥

इनके सब कर्म अचिन्त्य हैं (अर्थात् मन और बुद्धि के अगोचर हैं, साधारण मनुष्य की समझ में नहीं आ सकते।) देखिए, आप तपोबल से राजर्षि से ब्रह्मर्षि हो गये। फिर ब्रह्मर्षियों में भी साधारण ब्रह्मर्षि नहीं। प्रत्युत अमित प्रभावशाली हैं। इन महातेजस्वी विश्वामित्र जी को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। यह आपके परम हितैषी हैं (अथवा जगत् के परम हितैषी हैं।) ॥१४॥

नास्ति धन्यतरो राम त्वत्तोऽन्यो भुवि कश्चन ।
गोप्ता कुशिकपुत्रस्ते येन तप्तं महत्तपः ॥१५॥

हे राम! आप से अधिक बढ़ कर धन्य इस भूतल पर और कोई नहीं है, जिनके रक्षक महातपस्वी विश्वामित्र जी हैं ॥१५॥

श्रूयतां चाभिधास्यामि कौशिकस्य महात्मनः ।
यथा बलं यथा वृत्तं तन्मे निगदतः शृणु ॥१६॥

हे राम! सुनिए, मैं महात्मा विश्वामित्र जी के बल का और इनका वृत्तान्त कहता हूँ ॥१६॥

राजाभूदेष धर्मात्मा दीर्घकालमरिन्दमः ।
धर्मज्ञः कृतविद्यश्च प्रजानां च हिते रतः ॥१७॥

---

१ परमा गतिम्—तव परमहितप्रदम् (गो०)

हे अरिन्दम ! पहले बहुत दिनों तक यह एक बड़े धर्मात्मा, शत्रुनाशक, सब विद्याएँ पढ़े हुए और प्रजापालन मे तत्पर राजा रह चुके हैं ॥१७॥

प्रजापतिसुतस्त्वासीत्कुशो नाम महीपतिः ।
कुशस्य पुत्रो बलवान्कुशनाभः सुधार्मिकः ॥१८॥

प्रजापति के पुत्र कुश नाम के एक राजा हो गये हैं। उनके पुत्र कुशनाभ बड़े बलवान् और धर्मात्मा राजा हुए ॥१८॥

कुशनाभसुतस्त्वासीत् गाधिरित्येव विश्रुतः ।
गाधेः पुत्रो महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥१९॥

कुशनाभ के प्रसिद्ध गाधि नामक पुत्र हुए। उन्हीं राजा गाधि के यह महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्र जी पुत्र हैं ॥१९॥

विश्वामित्रो महातेजाः पालयामास मेदिनीम् ।
बहुवर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत् ॥२०॥

महातेजस्वी विश्वामित्र जी ने राजा हो कर हजारों वर्षों तक पृथिवी का पालन और राज्य किया ॥२०॥

कदाचित्तु महातेजा योजयित्वा वरूथिनीम् ।
अक्षौहिणीपरिवृतः परिचक्राम मेदिनीम् ॥२१॥

एक बार राजा विश्वामित्र सेना इकट्ठी कर और एक अक्षौहिणी सेना साथ ले घूमने के लिए (दौरा करने को) निकले ॥२१॥

नगराणि च राष्ट्राणि सरितश्च तथा गिरीन् ।
आश्रमान् क्रमशो राम विचरन्नाजगाम ह ॥२२॥

हे राम ! अनेक नगरों, राज्यों, नदियों, पर्वतों और ऋष्याश्रमों को भभाते हुए ॥२२॥

वसिष्ठस्याश्रमपदं नानावृक्षलताकुलम् ।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ॥२३॥

वसिष्ठ जी के आश्रम में पहुँचे । वसिष्ठ जी का आश्रम तरह-तरह के पक्षियों और लताओं से भरा पूरा भाँति-भाँति के जीवों से शोभायमान हो रहा था । उसमें सिद्ध, चारण रहते थे ॥२३॥

देवदानवगन्धर्वैः किन्नरैरुपशोभितम् ।
प्रशान्तहरिणाकीर्णं द्विजसंघनिषेवितम् ॥२४॥

देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर भी उसकी शोभा बढ़ाते थे । वह शान्तस्वभाव हिरनों से भरा पुरा था और ब्राह्मणगण भी वहाँ वास करते थे ॥२४॥

ब्रह्मर्षिगणसङ्कीर्णं देवर्षिगणसेवितम् ।
तपश्चरणसंसिद्धैरग्निकल्पैर्महात्मभिः ॥२५॥

उसमें ब्रह्मर्षि और देवर्षि भी वास करते थे । तपश्चर्या से वे अग्नि के समान देदीप्यमान थे ॥२५॥

सततं सङ्कुलं श्रीमद्ब्रह्मकल्पै[1]र्महात्मभिः ।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शीर्णपर्णाशनैस्तथा ॥२६॥

वह आश्रम सदैव ब्रह्मा के समान वेदों की शाखाओं में विभाग करने वाले महात्माओं से भरा रहता था । इनमें

(१) ब्रह्मकल्पैः वेदशाखाविभागकर्त्तार इति (गो०)॥

कोई तो केवल जल पी कर, कोई-कोई केवल वायु भक्षण कर, कोई-कोई सूखी पत्तियाँ खा कर ॥२६॥

फलमूलाशनैर्दान्तैर्जितरोषैर्जितेन्द्रियैः ।
ऋषिभिर्वालखिल्यैश्च जपहोमपरायणैः ॥२७॥

और कोई-कोई फल मूल खा कर रहते थे। वहाँ अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले ऋषि तथा बालखिल्य (ब्रह्मचारी) सहस्रों थे। वहाँ कोई भी ऋषि ऐसा न था, जो नियत समय पर (सन्ध्योपासन,) जप, अग्निहोत्र न करता हो ॥२७॥

अन्यैर्वैखानसैश्चैव समन्तादुपशोभितम् ।
वसिष्ठस्याश्रमपदं ब्रह्मलोकमिवापरम् ।
ददर्श जयतां[1] श्रेष्ठो विश्वामित्रो महाबलः ॥२८॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

इनके अतिरिक्त उस आश्रम के चारों ओर अनेक वानप्रस्थ भी रहते थे। (कहाँ तक वर्णन करें) वसिष्ठ महाराज का आश्रम क्या था मानों दूसरा ब्रह्मलोक ही था। वीरश्रेष्ठ महाबली राजा विश्वामित्र ने वसिष्ठ जी के ऐसे आश्रम को देखा ॥२८॥

बालकाण्ड का इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

१ जयतां—शूराणां (रा०)।

द्विपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

स दृष्ट्वा परमप्रीतो विश्वामित्रो महाबलः ।
प्रणम्य विधिना वीरो वसिष्ठं जपतां वरम् ॥१॥

ऐसे आश्रम को देख, महाबलवान् राजा विश्वामित्र बहुत प्रसन्न हुए उन्होंने जप करने वालों में श्रेष्ठ वसिष्ठ जी को विनय सहित प्रणाम किया ॥१॥

स्वागतं तव चेत्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना ।
आसनं चास्य भगवान् वसिष्ठो व्यादिदेश ह ॥२॥

वसिष्ठ जी ने विश्वामित्र जी का स्वागत कर अथवा यह कह कर "आप बहुत अच्छे आये," बैठने के लिए आसन दिया ॥२॥

उपविष्टाय च तदा विश्वामित्राय धीमते ।
यथान्यायं मुनिवरः फलमूलान्युपाहरत्* ॥३॥

जब बुद्धिमान् विश्वामित्र जी आसन पर बैठ गये, तब वसिष्ठ जी ने फल मूल, जो वहाँ उस समय मौजूद थे, विश्वामित्र को भोजन के लिए दिये ॥३॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां वसिष्ठाद्राजसत्तमः ।
तपोग्निहोत्रशिष्येषु कुशलं पर्यपृच्छत ॥४॥

इस प्रकार वसिष्ठ जी का सत्कार ग्रहण कर, नृपश्रेष्ठ विश्वामित्र जी ने वसिष्ठ जी से तप, अग्निहोत्र और शिष्य सम्बन्धी कुशल प्रश्न किये ॥४॥

---

*पाठान्तरे—फलमूलमुपाहरत ।

विश्वामित्रो महातेजा वनस्पतिगणे[1] तथा ।
सर्वत्र कुशलं चाह वसिष्ठो राजसत्तमम् ॥५॥

वसिष्ठ जी ने इसके उत्तर में सर्वत्र और सब का—यहाँ तक कि, पेड़ों तक का कुशल नृपश्रेष्ठ विश्वामित्र जी से कहा ॥५॥

सुखोपविष्टं राजानं विश्वामित्रं महातपः ।
पप्रच्छ जपतां[2] श्रेष्ठो वसिष्ठो ब्रह्मणः सुतः ॥६॥

सुख से बैठे हुए राजा विश्वामित्र जी से महामुनि, तपस्वियों में श्रेष्ठ और ब्रह्मा जी के पुत्र वसिष्ठ जी ने पूछा ॥६॥

कच्चित्ते कुशलं राजन् कच्चिद्धर्मेण रञ्जयन् ।
प्रजाः पालयसे वीर राजवृत्तेन धार्मिक ॥७॥

हे राजन् ! आपके यहाँ तो कुशल है ? आप धर्मपूर्वक प्रजा को प्रसन्न रखते हैं ? और राजवृत्ति से प्रजा का पालन तो करते हैं ? ॥७॥

[टिप्पणी—शास्त्रकारों ने राजवृत्ति चार प्रकार की कही है । यथा—

न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं पालनं तथा ।
सत्पात्रे प्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधा ॥

अर्थात् (१) न्यायपूर्वक धन को उपार्जित करना, (२) न्यायपूर्वक उसको बढ़ाना, (३) न्यायपूर्वक उसकी रक्षा करना और (४) जो सत्पात्र वा अच्छे लोग हों, उनको दान देना ।]

---

१ वनस्पतिशब्देन वृक्षमात्रं, नतु विना-पुष्पं-फलवन्त एव ॥ (रा०)
२ जपतां—तपस्विनाम् (रा०) ।

कच्चित्ते सम्भृता भृत्याः कच्चित्तिष्ठन्ति शासने।
कच्चित्ते विजिताः सर्वे रिपवो रिपुसूदन ॥८॥

राज्य के कर्मचारी को वेतन तो नियत समय पर दे दिया करते हो? आपकी प्रजा आपके कहने में चलती है? हे राजन्! आपने अपने सब शत्रुओं को जीत तो लिया है? ॥८॥

कच्चिद्बलेषु कोशेषु मित्रेषु च परन्तप।
कुशलं ते नरव्याघ्र पुत्रपौत्रे तवानघ ॥९॥

हे नरव्याघ्र! हे अनघ! आपकी सेना, धनागार, मित्र, पुत्र, पौत्रादि सब कुशलपूर्वक तो हैं? ॥९॥

सर्वत्र कुशलं राजा वसिष्ठं प्रत्युदाहरत्।
विश्वामित्रो महातेजा वसिष्ठं विनयान्वितः ॥१०॥

राजा विश्वामित्र जी इन प्रश्नों के उत्तर में वसिष्ठ जी से विनयपूर्वक बोले कि, सब कुशलपूर्वक हैं ॥१०॥

कृत्वोभौ सुचिरं कालं धर्मिष्ठौ ताः कथाः शुभाः।
मुदा परमया युक्तौ प्रीयेतां तौ परस्परम् ॥११॥

तदनन्तर वे दोनों बहुत देर तक प्रेमपूर्वक, तरह-तरह की बातें और कथाएँ कह सुन कर, एक दूसरे को प्रसन्न करते रहे ॥११॥

ततो वसिष्ठो भगवान् कथान्ते रघुनन्दन।
विश्वामित्रमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव ॥१२॥

हे रघुनन्दन ! जब विश्वामित्र जी बातचीत कर चुके, तब वसिष्ठ जी ने मुसक्या कर विश्वामित्र जी से यह कहा ॥१२॥

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि बलस्यास्य महाबल ।
तव चैवाप्रमेयस्य यथार्हं सम्प्रतीच्छ मे ॥१३॥

हे राजन् ! यद्यपि आपके साथ बहुत बड़ी भीड़ है, तथापि मेरी इच्छा है कि, यदि आप स्वीकार करें, तो सेना सहित आप सब का मैं आतिथ्य (महमानदारी) करूँ ॥१३॥

सत्क्रियां तु भवानेतां प्रतीच्छतु मयोद्यताम् ।
राजा त्वमतिथिश्रेष्ठः पूजनीयः प्रयत्नतः ॥१४॥

क्योंकि हे राजन् ! आप राजा होने के कारण अतिथिश्रेष्ठ हैं। आपका आतिथ्य प्रयत्नपूर्वक करना ही उचित है। अतः मुझसे जो कुछ आतिथ्य बन पड़े उसे आप प्रसन्नतापूर्वक अङ्गीकार करें ॥१४॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महामतिः ।
कृतमित्यब्रवीद्राजा पूजावाक्येन मे त्वया ॥१५॥

वसिष्ठ जी के इस प्रकार कहने पर राजा विश्वामित्र कहने लगे—हे भगवान् ! आपके इन आदरपूर्वक कहे हुए वचनों ही से मेरा आतिथ्य हो चुका ॥१५॥

फलमूलेन भगवन् विद्यते यत्तवाश्रमे ।
पाद्येनाचमनीयेन भगवद्दर्शनेन च ॥१६॥

इसके अतिरिक्त, फल-मूल, विमल जल जो आपके आश्रम में उपस्थित थे, उनसे तथा विशेष कर आपके दर्शन से मेरा आतिथ्य हो चुका ॥१६॥

कच्चित्ते सम्भृता भृत्याः कच्चित्तिष्ठन्ति शासने।
कच्चित्ते विजिताः सर्वे रिपवो रिपुसूदन ॥८॥

राज्य के कर्मचारी को वेतन तो नियत समय पर दे दिया करते हो? आपकी प्रजा आपके कहने में चलती है? हे राजन्! आपने अपने सब शत्रुओं को जीत तो लिया है? ॥८॥

कच्चिद्बलेषु कोशेषु मित्रेषु च परन्तप।
कुशलं ते नरव्याघ्र पुत्रपौत्रे तवानघ ॥९॥

हे नरव्याघ्र! हे अनघ! आपकी सेना, धनागार, मित्र, पुत्र, पौत्रादि सब कुशलपूर्वक तो हैं? ॥९॥

सर्वत्र कुशलं राजा वसिष्ठं प्रत्युदाहरत्।
विश्वामित्रो महातेजा वसिष्ठं विनयान्वितः ॥१०॥

राजा विश्वामित्र जी इन प्रश्नों के उत्तर मे वसिष्ठ जी से विनयपूर्वक बोले कि, सब कुशलपूर्वक हैं ॥१०॥

कृत्वोभौ सुचिरं कालं धर्मिष्ठौ ताः कथाः शुभाः।
मुदा परमया युक्तौ प्रीयेतां तौ परस्परम् ॥११॥

तदनन्तर वे दोनों बहुत देर तक प्रेमपूर्वक, तरह-तरह की बातें और कथाएँ कह सुन कर, एक दूसरे को प्रसन्न करते रहे ॥११॥

ततो वसिष्ठो भगवान् कथान्ते रघुनन्दन।
विश्वामित्रमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव ॥१२॥

हे रघुनन्दन ! जब विश्वामित्र जी बातचीत कर चुके, तब वसिष्ठ जी ने मुसक्या कर विश्वामित्र जी से यह कहा ॥१२॥

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि बलस्यास्य महाबल ।
तव चैवाप्रमेयस्य यथार्हं सम्प्रतीच्छ मे ॥१३॥

हे राजन् ! यद्यपि आपके साथ बहुत बड़ी भीड़ है, तथापि मेरी इच्छा है कि, यदि आप स्वीकार करें, तो सेना सहित आप सब का मैं आतिथ्य (महमानदारी) करूँ ॥१३॥

सत्क्रियां तु भवानेतां प्रतीच्छतु मयोद्यताम् ।
राजा त्वमतिथिश्रेष्ठः पूजनीयः प्रयत्नतः ॥१४॥

क्योंकि हे राजन् ! आप राजा होने के कारण अतिथिश्रेष्ठ हैं। आपका आतिथ्य प्रयत्नपूर्वक करना ही उचित है। अतः मुझसे जो कुछ आतिथ्य बन पड़े उसे आप प्रसन्नतापूर्वक अङ्गीकार करें ॥१४॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महामतिः ।
कृतमित्यब्रवीद्राजा पूजावाक्येन मे त्वया ॥१५॥

वसिष्ठ जी के इस प्रकार कहने पर राजा विश्वामित्र कहने लगे—हे भगवान् ! आपके इन आदरपूर्वक कहे हुए वचनों ही से मेरा आतिथ्य हो चुका ॥१५॥

फलमूलेन भगवन् विद्यते यत्तवाश्रमे ।
पाद्येनाचमनीयेन भगवद्दर्शनेन च ॥१६॥

इसके अतिरिक्त, फल-मूल, विमल जल जो आपके आश्रम में उपस्थित थे, उनसे तथा विशेष कर आपके दर्शन से मेरा आतिथ्य हो चुका ॥१६॥

सर्वथा च महाप्राज्ञ पूजार्हेण सुपूजितः ।
गमिष्यामि नमस्तेस्तु मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥१७॥

हे महाप्राज्ञ ! उचित तो, यह था, कि मैं आपकी पूजा करता, प्रत्युत आपने मेरा सत्कार किया । मैं अब आपको प्रणाम करता हूँ और अपने डेरे को जाता हूँ । मेरे ऊपर सदा कृपा-दृष्टि बनाए रखिएगा ॥१७॥

[टिप्पणी—रुद्र आदि देवताओं के लिए वैदिक साहित्य में 'नमस्ते' का प्रयोग देखने में प्रायः आता है किन्तु एक राजा का एक महर्षि को 'नमस्ते' कहना यहीं देखने को मिलता है ।]

एवं ब्रुवन्तं राजानं वसिष्ठः पुनरेव हि ।
न्यमन्त्रयत धर्मात्मा पुनः पुनरुदारधीः ॥१८॥

राजा विश्वामित्र के इस प्रकार (निषेधपूर्वक) कहने पर भी उदारमना वसिष्ठ जी ने न्योता स्वीकार करने के लिए राजा से वार-वार आग्रह किया ॥१८॥

बाढमित्येव गाधेयो वसिष्ठं प्रत्युवाच ह ।
यथा प्रियं भगवतस्तथास्तु मुनिसत्तम ॥१९॥

तव विश्वामित्र ने कहा—"बहुत अच्छा", आप जिससे प्रसन्न रहें वही ठीक है । अथवा आप मुझ पर प्रसन्न बने रहें, मुझे वही करना चाहिए ॥१९॥

एवमुक्तो महातेजा वसिष्ठो जपतां वरः ।
आजुहाव ततः प्रीतः[१] कल्माषीं धूतकल्मषः ॥२०॥

जव विश्वामित्र ने ऐसा कहा अर्थात् वसिष्ठ जी का न्योता मान लिया, तव मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ जी ने अपनी प्यारी चितकवरी कामधेनु को वुलाया ॥२०॥

---

१ कल्माषीं = चित्रवर्णाम् (गो०)

एह्येहि शबले क्षिप्रं शृणु चापि वचो मम ।
सबलस्यास्य राजर्षेः कर्तुं व्यवसितोऽस्म्यहम् ॥२१॥

और उससे कहा—हे शबले! यहाँ आओ और जो मैं कहता हूँ उसे सुनो। मैं सेना सहित राजर्षि विश्वामित्र की पहुँनाई करना चाहता हूँ ॥२१॥

भोजनेन महार्हेण सत्कारं संविधत्स्व मे ।
यस्य यस्य यथाकामं षड्रसेष्वभिपूजितम् ।
तत्सर्वं कामधुक् क्षिप्रमभिवर्ष कृते मम ॥२२॥

अतः मेरे कहने से तू अच्छे अच्छे भोजनों से इनका अच्छी तरह सत्कार कर। पट्रसों के पदार्थों मे से, जो जिस रस का पदार्थ चाहे, उसे वही पहुँचना चाहिए। क्योंकि तुम कामधेनु ठहरी, तुम क्या नहीं दे सकती ॥२२॥

रसेनान्नेन पानेन लेह्यचोष्येण संयुतम् ।
अन्नानां निचयं सर्वं सृजस्व शबले त्वर ॥२३॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

हे शबले! तू छः प्रकार के खाद्य पदार्थों के जैसे भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, पेय, और खाद्य व्यञ्जनों के ढेर तुरन्त लगा दे ॥२३॥

बालकाण्ड का बावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—.o:—

एवमुक्ता वसिष्ठेन शबला शत्रुसूदन ।
विदधे कामधुक् कामान् यस्य यस्य यथेप्सितम् ॥१॥

वसिष्ठ जी के इस प्रकार कहने पर, शबला ने जिसको जो वस्तु अपेक्षित थी, उसे वही-वही पहुँचा दी ॥१॥

इक्षून् मधूंस्तथा लाजान् मैरेयांश्च वरासवान् ।
पानानि च महार्हाणि भक्ष्यांश्चोच्चावचां[1]स्तथा॥२॥

खाने के लिए ऊख के रस यानी शक्कर की बनी अनेक प्रकार की मिठाइयाँ, शहद, धान के लावा; पीने के लिए मदिरा तथा तरह तरह के उत्तम आसव प्रस्तुत किये ॥२॥

उष्णाढ्यस्यौदनस्यात्र राशयः पर्वतोपमाः ।
मृष्टान्नानि च सूपाश्च दधिकुल्यास्तथैव च ॥३॥
नानास्वादुरसानां च षड्रसानां तथैव च ।
भोजनानि सुपूर्णानि गौडानि च सहस्रशः ॥४॥

गर्मागर्म भात के पर्वताकार ढेर लगा दिये। खीर, कढ़ी, दही बरा, आदि तरह-तरह के स्वादिष्ट षट्रसात्मक हजारों पदार्थ और गुड़ की मिठाइयाँ प्रस्तुत कर दीं ॥३॥४॥

सर्वमासीत्सुसन्तुष्टं हृष्ट[3]पुष्ट[4] जनायुतम् ।
विश्वामित्रबलं राम वसिष्ठेनाभितर्पितम् ॥५॥

इन सब पदार्थों को खा पीकर और आदर-सत्कार से विश्वामित्र के साथ के सब लोग अच्छी तरह तृप्त हुए और अत्यानन्दित हुए। हे राम! वसिष्ठ जी ने विश्वामित्र जी के साथी-संगियों को भली भाँति तृप्त किया ॥५॥

---

१ उच्चावचान्—नानाप्रकारान् (गो०)। २ गौडानि=गुडविकाराः (गो०)। ३ हृष्टः आदरेण (गो०)। ४ पुष्ट. भोजनादिना (गो०)।

विश्वामित्रोऽपि राजर्षिर्हृष्टः पुष्टस्तदाभवत् ।
सान्तःपुरवरो राजा सब्राह्मणपुरोहितः ॥६॥

राजर्षि विश्वामित्र जी भी अपने पुरोहित, मंत्री, दीवान सब के साथ अपूर्व पदार्थ भोजन कर तथा महर्षि के आदर-सत्कार से बहुत प्रसन्न हुए ॥६॥

सामात्यो मन्त्रिसहितः सभृत्यः पूजितस्तदा ।
युक्तः परमहर्षेण वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥७॥

जब नौकर-चाकर, मंत्री, दीवान, सेना आदि के साथ विश्वामित्र जी भली भाँति सत्कारित हो चुके, तब परम प्रसन्नता के साथ वसिष्ठ जी से बोले ॥७॥

पूजितोऽहं त्वया ब्रह्मन् पूजार्हेण सुसत्कृतः ।
श्रूयतामभिधास्यामि वाक्यं वाक्यविशारद ॥८॥

हे ब्रह्मन् ! आपने पूज्य होकर भी मेरा अच्छा सत्कार किया। हे वाक्यविशारद ! अब मैं कहता हूँ, उसे आप सुनें ॥८॥

गवां शतसहस्रेण दीयतां शबला मम ।
रत्नं हि भगवन्नेतद्रत्नहारी च पार्थिवः ॥९॥

हे भगवन् ! आप अपनी इस शबला गौ के बदले मुझसे एक लाख गौएँ ले लें और इसे मुझे दे दें। कारण यह है कि, शबला एक रत्न है और रत्न रखने का राजा ही अधिकारी है ॥९॥

तस्मान्मे शबलां देहि ममैषा धर्मतो द्विज ।
एवमुक्तस्तु भगवान् वसिष्ठो मुनिसत्तमः ॥१०॥
विश्वामित्रेण धर्मात्मा प्रत्युवाच महीपतिम् ।
नाहं शतसहस्रेण नापि कोटिशतैर्गवाम् ॥११॥

हे द्विज ! अतः इस गौ को आप मुझे दे दें। धर्म की दृष्टि से यह मेरी ही है। जब मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठ जी से विश्वामित्र जी ने इस प्रकार कहा, तब धर्मात्मा वसिष्ठ जी राजा से बोले—हे राजन् ! एक लाख गौओं की तो बात ही क्या, एक करोड़ गौएँ भी यदि आप शबला के बदले में दें ॥१०॥११॥

राजन् दास्यामि शबलां राशिभी रजतस्य वा ।
न परित्यागमर्हेयं मत्सकाशादरिन्दम ॥१२॥

अथवा इसके बदले आप चांदी का ढेर देना चाहें, तो भी मैं शबला आपको नहीं दे सकता। हे राजन् ! यह मेरे यहां से जाने योग्य नहीं है ॥१२॥

शाश्वती शबला मह्यं कीर्त्तिरात्मवतो यथा ।
अस्यां हव्यं च कव्यं च प्राणयात्रा तथैव च ॥१३॥

क्योंकि जिस प्रकार मनस्वी पुरुष का अपनी कीर्ति से प्रबन्ध होता है, उसी प्रकार शबला का मुझसे प्रबन्ध है। इसी के द्वारा मेरे देव और पितृ सम्बन्धी कार्यों का तथा मेरा निर्वाह होता है ॥१३॥

आयत्तमग्निहोत्रं च बलिर्होमस्तथैव च ।
स्वाहाकारवषट्कारौ विद्याश्च विविधास्तथा ॥१४॥

मेरे अग्निहोत्र, बलिवैश्वदेव, स्वाहा, स्वधा, वषट्कार और विविध प्रकार की विद्याएँ, इसी के सहारे चलती हैं ॥१४॥

आयत्तमत्र राजर्षे सर्वमेतन्न संशयः ।
सर्वस्वमेतत्सत्येन मम तुष्टिकरी सदा ॥१५॥

हे राजर्षि ! कहां तक कहूँ, आप निश्चय जानिए मेरा तो सब काम यही चलाती है। यह मेरा सर्वस्व है। इसी से मैं सदा

सन्तुष्ट-चित्त रहता हूँ। (अर्थात् मुझे किसी से कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती) ॥१५॥

कारणैर्बहुभी राजन्न दास्ये शबलां तव ।
वसिष्ठेनैवमुक्तस्तु विश्वामित्रोऽब्रवीत्ततः ॥१६॥
संरब्धतरमत्यर्थं वाक्यं वाक्यविशारदः ।
हैरण्यकक्ष्याग्रैवेयान् सुवर्णाङ्कुशभूषितान् ॥१७॥

इनके अतिरिक्त और भी अनेक कारण इसे न देने के हैं। अतः हे राजन्! शबला को तो मैं आपको न दूँगा। वसिष्ठ जी का यह उत्तर सुन, विश्वामित्र जी अत्यन्त आवेश में भर आग्रह-पूर्वक कहने लगे—हे मुनिवर! सोने के घंटों, सोने के आभूषणों और सोने के अंकुशों से भूषित ॥१६॥१७॥

ददामि कुञ्जराणां ते सहस्राणि चतुर्दश ।
हैरण्यानां रथानां ते श्वेताश्वानां चतुर्युजाम् ॥१८॥
ददामि ते शतान्यष्टौ किङ्किणीकविभूषितान् ।
हयानां देशजातानां कुलजानां महौजसाम् ॥१९॥

चौदह हज़ार हाथी मैं देता हूँ (इतना ही नहीं) चार-चार सफेद घोड़ों वाले बड़े सुन्दर सोने के एक सौ आठ रथ देता हूँ। साथ ही अच्छी नस्ल के दिसावरी और सुवर्ण के आभूषणों से सुसज्जित ॥१८॥१९॥

सहस्रमेकं दश च ददामि तव सुव्रत ।
नानावर्णविभक्तानां वयःस्थानां तथैव च ॥२०॥

ग्यारह हज़ार घोड़े तुमको देता हूँ। इसके अतिरिक्त तरह-तरह के रङ्गों वाली, जवान ॥२०॥

ददाम्येकां गवां कोटिं शबला दीयतां मम ।
यावदिच्छसि रत्नं वा हिरण्यं वा द्विजोत्तम ॥२१॥

करोड़ों गौएँ देता हूँ। आप मुझे शबला दे दें। हे द्विजोत्तम! आप जितने रत्न और जितना सोना चाहें ॥२१॥

तावद्दास्यामि तत्सर्वं शबला दीयतां मम ।
एवमुक्तस्तु भगवान्विश्वामित्रेण धीमता ॥२२॥

[टिप्पणी—विश्वामित्र के वार्तालाप से पता चलता है कि वे बड़े ही विचारवान्, सुसभ्य शिष्टाचार में निपुण और ब्राह्मणभक्त थे। वसिष्ठ जी को सांसारिक सम्पत्ति का प्रलोभ दिखला कर उनसे उनका सर्वस्व-शबला को माँगना आश्चर्य में डालने वाला है। स्वार्थान्ध व्यक्ति को सदसद् का विवेक नहीं रह जाता।]

मैं देने को तैयार हूँ। आप मुझे शबला दे ही दें। इस प्रकार विश्वामित्र जी के कहने पर भी बुद्धिमान् ॥२२॥

न दास्यामीति शबलां प्राह राजन् कथञ्चन ।
एतदेव हि मे रत्नमेतदेव हि मे धनम् ॥२३॥

वसिष्ठ ने कहा कि, हे राजन्! शबला को तो मैं किसी तरह भी नहीं दे सकता, क्योंकि मेरे लिए तो शबला मेरा रत्न और शबला ही मेरा धन है ॥२३॥

एतदेव हि सर्वस्वमेतदेव हि जीवितम् ।
दर्शश्च पूर्णमासश्च यज्ञाश्चैवाप्तदक्षिणाः ।
एतदेव हि मे राजन् विविधाश्च क्रियास्तथा ॥२४॥

शवला ही मेरा सर्वस्व है और शवला ही मेरा जीवन है। यही मेरे पौर्णमास और दर्श यज्ञों की, जो विविध दक्षिणायुक्त किये जाते हैं, (अर्थात् जिनमें बहुत दक्षिणा दी जाती है) तथा अन्य क्रियाओं की आधारभूता है अर्थात् इसी के सहारे मैं उक्त सब यज्ञ किया करता हूँ ॥२४॥

अदोमूलाः क्रियाः सर्वा मम राजन् न संशयः ।
बहुना किं प्रलापेन न दास्ये कामदोहिनीम् ॥२५॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

हे राजन्! बहुत बकने की क्या आवश्यकता है, (सारांश यह है कि,) मैं सब क्रिया की मूल, इस कामधेनु को नहीं दूँगा ॥२५॥

बालकाण्ड का त्रिपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:ꕥ:—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—:ꕥ:—

कामधेनुं वसिष्ठोऽपि यदा न त्यजते मुनिः ।
तदास्य शवलां राम विश्वामित्रोऽन्वकर्षत ॥१॥

हे राम! जब विश्वामित्र ने देखा कि, वसिष्ठ जी अपनी रजामंदी से वह गौ नहीं देंगे, तब वे जबरदस्ती उस गाय को खोल कर ले जाने लगे ॥१॥

नीयमाना तु शवला राम राज्ञा महात्मना ।
दुःखिता चिन्तयामास रुदन्ती शोककर्शिता ॥२॥

हे राम ! जब राजा विश्वामित्र गौ को जबरदस्ती ले जाने लगे, तब दुःखी हो, वह रोने लगी और मारे शोक के विकल हो अपने मन में सोचने लगी ॥२॥

परित्यक्ता वसिष्ठेन किमहं सुमहात्मना ।
याऽहं राजभटैर्दीना ह्रियेयं भृशदुःखिता ॥३॥

महात्मा वसिष्ठ जी ने मुझे क्यों त्यागा ? मैंने तो उनका कोई अपराध भी नहीं किया । फिर क्यों राजा के भट (नौकर) मुझ दुःखिनी को जबरदस्ती पकड़ कर लिये जाते हैं ॥३॥

किं मयाऽपकृतं तस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
यन्मामनागसं [१]भक्तामिष्टां त्यजति धार्मिकः ॥४॥

महासिद्ध महात्मा महर्षि वसिष्ठ का मैंने कौन अपराध किया जो मुझ निर्दोषिनी, अनुरागिनी और प्यारी को धार्मिक मुनिप्रवर त्यागे देते हैं ॥४॥

इति सा चिन्तयित्वा तु विनिःश्वस्य पुनः पुनः ।
निर्धूय तांस्तदा भृत्याञ्शतशः शत्रुसूदन ॥५॥
जगामानिलवेगेन पादमूलं महात्मनः ।
शबला सा रुदन्ती च क्रोशन्ती चेदमब्रवीत् ॥६॥

शबला गौ ऐसा सोच और बारम्बार ऊँची साँसें ले तथा उन सैकड़ों वीर राजकर्मचारियों के हाथ से अपने को छुड़ा कर वायुवेग से भागी और वसिष्ठ जी के चरणों में जा गिरी । शबला बड़े जोर से चिल्लाती और रोती हुई कहने लगी ॥५॥६॥

---

१ भक्ताम्=अनुरक्ताम् (गो०)

वसिष्ठस्याग्रतः स्थित्वा रुदन्ती मेघनिःस्वना ।
भगवन् किं परित्यक्ता त्वयाऽहं ब्रह्मणः सुत ॥७॥

वसिष्ठ जी के सामने खड़ी हो, रोती हुई, मेघ के समान उच्च स्वर से बोली—हे भगवन्! हे ब्रह्मा के पुत्र! क्या आपने मुझे त्याग दिया? ॥७॥

यस्माद्राजभटा मां हि नयन्ते त्वत्सकाशतः ।
एवमुक्तस्तु ब्रह्मर्षिरिदं वचनमब्रवीत् ॥८॥

जो आपके यहाँ से मुझे राजा के सिपाही लिए जा रहे हैं? यह सुन कर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ जी ने कहा ॥८॥

शोकसन्तप्तहृदयां स्वसारमिव दुःखिताम् ।
न त्वां त्यजामि शबले नापि मेऽपकृतं त्वया ॥९॥

वे परम दुःखित हो शबला से उसी प्रकार बोले जैसे कोई अपनी बहिन को दुखी देख उससे कहता है। हे शबले! न तो तूने कोई मेरा अपकार किया और न मैं अपनी इच्छा से तेरा परित्याग ही कर रहा हूँ ॥९॥

एष त्वां नयते राजा बलान्मत्तो महाबलः ।
न हि तुल्यं बलं मह्यं राजा त्वद्य विशेषतः ॥१०॥

बली राजा क्षत्रियश्च पृथिव्याः पतिरेव च ।
इयमक्षौहिणी पूर्णा सवाजिरथसङ्कुला ॥११॥

हस्तिध्वजसमाकीर्णा तेनासौ बलवत्तरः ।
एवमुक्ता वसिष्ठेन प्रत्युवाच विनीतवत् ॥१२॥

वचनं वचनज्ञा सा ब्रह्मर्षिममितप्रभम् ।
न बलं क्षत्रियस्याहुर्ब्राह्मणो बलवत्तरः ॥१३॥

यह राजा बल से मत्त हो बरजोरी मुझसे छीन कर, तुझे लिए जाता है। मेरे पास राजा के बराबर सैन्यबल नहीं है। फिर एक तो वह राजा, दूसरे क्षत्रिय, तीसरे पृथिवी का मालिक है। घोड़ों, रथों और हाथियों से परिपूर्ण इसके साथ एक बड़ी भारी सेना है। अतः वह मुझसे बल में अधिक है। वसिष्ठ जी के यह कहने पर, वार्तालाप में चतुर, उत्तर में, वह शबला अमित प्रभाव वाले ब्रह्मर्षि वसिष्ठ जी से बोली कि हे ब्रह्मर्षे! ब्राह्मणों के बल के सामने क्षत्रियों का बल तुच्छ है ॥१०॥११॥१२॥१३॥

ब्रह्मन् ब्रह्मबलं दिव्यं क्षत्रात्तु बलवत्तरम् ।
अप्रमेयबलं तुभ्यं न त्वया बलवत्तरः ॥१४॥

हे ब्रह्मन्! क्योंकि ब्राह्मणों का बल दिव्य (अर्थात् तपस्या का बल) होता है, अत. क्षात्रबल (शारीरिक बल) से वह बहुत अधिक है। आपमे अतुलित बल है। वह अर्थात् क्षत्रिय राजा बल मे आपका सामना नहीं कर सकता ॥१४॥

विश्वामित्रो महावीर्यस्तेजस्तव दुरासदम् ।
नियुङ्क्ष्व मां महाभाग त्वद्ब्रह्मबलसम्भृताम् ॥१५॥

विश्वामित्र अवश्य ही बड़ा बलवान् है, किन्तु आपका (तपस्वी का) तेज उनके लिए दु सह है। हे महाभाग! मुझे आप आज्ञा दीजिए तो मैं आपके ब्रह्मबल के प्रताप से ॥१५॥

तस्य दर्पबलं यत्तन्नाशयामि दुरात्मनः ।
इत्युक्तस्तु तया राम वसिष्ठस्तु महायशाः ॥१६॥

इस दुष्ट के वल का गर्व नष्ट कर दूँ। हे राम! शवला के यह वचन सुन महायशी वसिष्ठ जी ॥१६॥

सृजस्वेति तदोवाच वलं परवलारुजम्।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सुरभिः साऽसृजत्तदा ॥१७॥

उससे वोले, अच्छा, तुम अपने वल से ऐसी सेना उत्पन्न करो जो शत्रु के (सैनिक) दल को मींज डाले। यह सुन शवला ने वैसी ही सेना उत्पन्न कर दी ॥१७॥

तस्या हुम्भारवोत्सृष्टाः पप्लवाः शतशो नृप।
नाशयन्ति वलं सर्वं विश्वामित्रस्य पश्यतः ॥१८॥

शवला के "हुँभा" शब्द करने से, सैकड़ों (एक प्रकार के) म्लेच्छ उत्पन्न हो गये और विश्वामित्र की आँखों के सामने उनकी समस्त सेना का नाश करने लगे ॥१८॥

वलं भग्नं ततो दृष्ट्वा रथेनाक्रम्य कौशिकः।
स राजा परमक्रुद्धो रोषविस्फारितेक्षणः ॥१९॥

तव अपनी सेना को नष्ट हुआ देख, राजा विश्वामित्र परम क्रुद्ध हुए और लाल-लाल नेत्र कर रथ में वैठ आक्रमण किया, ॥१९॥

पप्लवान्नाशयामास शस्त्रैरुच्चावचैरपि।
विश्वामित्रार्दितान्दृष्ट्वा पप्लवाञ्शतशस्तदा ॥२०॥

और नाना प्रकार के छोटे वड़े आयुधों से पप्लवों (म्लेच्छ विशेष) को मार डाला। तव सैकड़ों पप्लवों का विश्वामित्र के हाथ से मारा जाना देख ॥२०॥

भूय एवासृजत्कोपाच्छकान् यवनमिश्रितान् ।
तैरासीत्संवृता भूमिः शकैर्यवनमिश्रितैः ॥२१॥

शवला ने क्रोध में भर यवनो सहित शकों (म्लेच्छों की एक जाति के लोगो) को उत्पन्न किया। इन यवनो और शकों से पृथिवी पूर्ण हो गई ॥२१॥

प्रभावद्भिर्महावीर्यैर्हेमकिञ्जल्कसन्निभैः ।
दीर्घासिपट्टिशधरैर्हेमवर्णाम्बरावृतैः ।
निर्दग्धं तद्बलं सर्वं प्रदीप्तैरिव पावकैः ॥२२॥

ये सब शक यवनादि बड़े तेजस्वी महापराक्रमी थे। सब के शरीर का रंग सुवर्ण की तरह चमकीला था। सब के सब पीली पोशाकें पहने हुए थे। बड़ी-बड़ी तलवारें, व पटा, हाथो मे लिये हुए थे। इन सब ने प्रदीप्त अग्नि की तरह विश्वामित्र के सैनिकों को दग्ध (अर्थात् नष्ट) कर डाला ॥२२॥

ततोऽस्त्राणि महातेजा विश्वामित्रो मुमोच ह ।
तैस्तैर्यवनकाम्भोजाः पप्लवाश्चाकुलीकृताः ॥२३॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

तब महातेजस्वी विश्वामित्र जी ने अस्त्र छोड़े, जिनसे वे सब यवन, *काम्भोज और पल्लव विकल हो गए ॥२३॥

बालकाण्ड का चौअनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—.०—

* काम्भोज निषध पर्वत के दक्षिण में बतलाया गया है। वहीं के निवासी "काम्भोजाः" कहलाते हैं। इस देश की वर्त्तमान स्थिति अफगानिस्तान बतलाई जाती है। अश्व स्थान का अपभ्रंश "फगानिस्तान" है।

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

ततस्तानाकुलान् दृष्टवा विश्वामित्रास्त्रमोहितान् ।
वसिष्ठश्चोदयामास कामधुक्सृज योगतः ॥१॥

जब विश्वामित्र के अस्त्रों-शस्त्रों से उन यवनों को वसिष्ठ जी ने विकल देखा, तब उन्होंने शबला से कहा कि, अब की मेरे कहने से योग की महिमा से और म्लेच्छ उत्पन्न कर ॥१॥

तस्या हुम्भारवाज्जाताः काम्भोजा रविसन्निभाः ।
ऊधसः[1]स्त्वथ सञ्जाताः पप्लवाः शस्त्रपाणयः ॥२॥

तब शबला के हुङ्कार से सूर्य के समान तेजस्वी काम्भोज नामक म्लेच्छ और स्तनों से हाथों में शस्त्र लिए पल्लव उत्पन्न हुए ॥२॥

योनिदेशाच्च यवनाः शकृद्देशाच्छकास्तथा ।
रोमकूपेषु च म्लेच्छा हारीताः सकिरातकाः ॥३॥

योनि से यवन, गुदा से शक और रोओं से म्लेच्छ, हारीत और किरात उत्पन्न हुए ॥३॥

तैस्तैर्निषूदितं सर्वं विश्वामित्रस्य तत्क्षणात् ।
सपदातिगजं साश्वं सरथं रघुनन्दन ॥४॥

हे राम ! इन लोगों ने विश्वामित्र की हाथियों घोड़ों रथों और पैदल सैनिकों सहित सारी सेना तुरन्त नष्ट कर दी ॥४॥

---

१ ऊधसः—स्तनात् (गो०) ।

दृष्ट्वा निषूदितं सैन्यं वसिष्ठेन महात्मना ।
विश्वामित्रसुतानां तु शतं नानाविधायुधम् ॥५॥

इस प्रकार अपनी सेना का वसिष्ठ जी द्वारा नाश देख, विश्वामित्र जी के सौ पुत्र अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र ले ॥५॥

अभ्यधावत्सुसंक्रुद्धं वसिष्ठं जपतांवरम् ।
हुङ्कारेणैव तान् सर्वान् ददाह भगवानृषिः ॥६॥

और क्रुद्ध हो, तपस्वियों में श्रेष्ठ वसिष्ठ जी के ऊपर दौड़े; किन्तु भगवान् वसिष्ठ जी ने "हुङ्कार" कर, उन सब को भस्म कर डाला ॥६॥

ते साश्वरथपादाता वसिष्ठेन महात्मना ।
भस्मीकृता मुहूर्तेन विश्वामित्रसुतास्तदा ॥७॥

राजकुमारों के साथ जो घोड़े, रथ और पैदल सिपाही थे उनको भी राजकुमारों के साथ ही महात्मा वसिष्ठ जी ने क्षण भर में भस्म कर डाला ॥७॥

दृष्ट्वा विनाशितान् पुत्रान् बलं च सुमहायशाः ।
सव्रीडश्चिन्तयाविष्टो विश्वामित्रोऽभवत्तदा ॥८॥

बड़े यशस्वी राजा विश्वामित्र अपने सौ पुत्रों को सैन्य सहित नष्ट हुआ देख, अत्यन्त लज्जित हो, चिन्तामग्न हो गये ॥८॥

समुद्र इव निर्वेगो भग्नदंष्ट्र इवोरगः ।
उपरक्त इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः ॥९॥

वे वेगरहित समुद्र, विषदन्त-रहित सर्प और राहुग्रसित सूर्य की तरह निष्प्रभ (तेजहीन) हो गये ॥९॥

हतपुत्रबलो दीनो लूनपक्ष इव द्विजः ।
हतदर्पो हतोत्साहो निर्वेदं समपद्यत ॥१०॥

वे अपने पुत्रों और सेना के मारे जाने से पक्षरहित पक्षी की तरह दीन हो गये। वे दर्पहत और हतोत्साह हो, अत्यन्त दुःखित हुए ॥१०॥

स पुत्रमेकं राज्याय पालयेति नियुज्य च ।
पृथिवीं क्षत्रधर्मेण वनमेवान्वपद्यत ॥११॥

(बचे हुए) एक पुत्र को राज्य सौंप और क्षात्रधर्म से राज्य करने का उसे उपदेश दे, वे स्वयं वन को चल दिये ॥११॥

स गत्वा हिमवत्पार्श्वं किन्नरोरगसेवितम् ।
महादेवप्रसादार्थं तपस्तेपे महातपाः ॥१२॥

वे हिमालय पर उस जगह गये जहाँ किन्नर और उरग रहते थे और भगवान् शिव को प्रसन्न करने के लिए तपस्या करने लगे ॥१२॥

केनचित्त्वथ कालेन देवेशो वृषभध्वजः ।
दर्शयामास वरदो विश्वामित्रं महाबलम् ॥१३॥

कुछ काल के बाद, वरदानी भगवान् वृषभध्वज महादेव जी महाबली विश्वामित्र जी के आगे प्रकट हुए ॥१३॥

किमर्थं तप्यसे राजन् ब्रूहि यत्ते विवक्षितम् ।
वरदोऽस्मि वरो यस्ते कांक्षितः सोऽभिधीयताम् ॥१४॥

वे बोले—हे राजन्! तुम किस लिए तप कर रहे हो? बतलाओ तुम क्या चाहते हो? जो तुम माँगो, वही वर देने को मैं प्रस्तुत हूँ ॥१४॥

एवमुक्तस्तु देवेन विश्वामित्रो महातपाः ।
प्रणिपत्य महादेवमिदं वचनमब्रवीत् ॥१५॥

महादेव जी के ये वचन सुन, महातपस्वी विश्वामित्र उनको प्रणाम कर यह बोले ॥१५॥

यदि तुष्टो महादेव धनुर्वेदो ममानघ ।
[1]साङ्गोपाङ्गोपनिषदः सरहस्यः प्रदीयताम् ॥१६॥

हे महादेव! हे अनघ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो अङ्ग, उपाङ्ग, उपनिषद् तथा रहस्य सहित, धनुर्वेद मुझे बतला दीजिए ॥१६॥

यानि देवेषु चास्त्राणि दानवेषु महर्षिषु ।
गन्धर्वयक्षरक्षःसु प्रतिभान्तु ममानघ ॥१७॥

जिन प्रसिद्ध अस्त्रों का प्रचार दानवों, महर्षियों, गन्धर्वों, यक्षों और राक्षसों में है, वे सब ॥१७॥

तव प्रसादाद्भवतु देवदेव ममेप्सितम् ।
एवमस्त्विति देवेशो वाक्यमुक्त्वा गतस्तदा ॥१८॥

हे देवों के देव! आपके अनुग्रह से मुझे प्राप्त हों। यह वर माँगने पर महादेव जी "एवमस्तु" अर्थात् ऐसा ही हो, कह कर चले गये ॥१८॥

---

१ अङ्ग = सन्निपत्योपकारकम् । उपाङ्गम् = आरादुपकारकम् । उपनिषत् = रहस्यमन्त्रः । (गो०)

प्राप्य चास्त्राणि देवेशाद्विश्वामित्रो महाबलः ।
दर्पेण महता युक्तो दर्पपूर्णोऽभवत्तदा ॥१६॥

महादेव जी से अस्त्रों को पाकर महाबली विश्वामित्र महान् दर्प से युक्त हो अभिमान में डूब गये ॥१९॥

विवर्धमानो वीर्येण समुद्र इव पर्वणि ।
हतमेव तदा मेने वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥२०॥

वे बल में ऐसे बढ़े, जैसे पर्वकाल में (अर्थात् पूर्णिमा के दिन) चन्द्रमा को देख समुद्र बढ़ता है। उन्होंने अपने मन में निश्चित कर लिया कि, वसिष्ठ अब मरे ही धरे हैं ॥२०॥

ततो गत्वाऽऽश्रमपदं मुमोचास्त्राणि पार्थिवः ।
यैस्तत्तपोवनं सर्वं निर्दग्धं चास्त्रतेजसा ॥२१॥

तदनन्तर राजा विश्वामित्र, वसिष्ठ जी के आश्रम पर पहुँचे और अस्त्रों की वर्षा करने लगे। उन अस्त्रों की आग से वह (हराभरा) तपोवन जल उठा ॥२१॥

उदीर्यमाणमस्त्रं तद्विश्वामित्रस्य धीमतः ।
दृष्ट्वा विप्रद्रुता भीता मुनयः शतशो दिशः ॥२२॥

विश्वामित्र जी के अस्त्रों का प्रयोग देख (उन तपोवनवासी) सैकड़ों मुनि भयभीत हो चारों ओर भाग गये ॥२२॥

वसिष्ठस्य च ये शिष्यास्तथैव मृगपक्षिणः ।
विद्रवन्ति भयाद्भीता नानादिग्भ्यः सहस्रशः ॥२३॥

वसिष्ठ जी के जो शिष्य थे तथा जो हजारों पशु-पक्षी वहाँ रहते थे, वे भी सब भयभीत हो, चारों ओर भग गये ॥२३॥

वसिष्ठस्याश्रमपदं शून्यमासीन् महात्मनः ।
मुहूर्तमिव निःशब्दमासीदिरिणसन्निभम् ॥२४॥

महात्मा वसिष्ठ जी के आश्रम मे एक भी जीवधारी न रहा । घड़ी भर मे ही वहाँ सन्नाटा छा गया अथवा वह आश्रम ऊसर भूमि की तरह उजाड़ हो गया ॥२४॥

वदतो वै वसिष्ठस्य मा भैरिति मुहुर्मुहुः ।
नाशयाम्यद्य गाधेयं नीहारमिव भास्करः ॥२५॥

वसिष्ठ जी उन सब से बार-बार चिल्ला-चिल्ला कर यह कहते जाते थे कि, डरो मत ! डरो मत ! मैं विश्वामित्र का अभी उसी प्रकार नाश किये डालता हूँ जैसे सूर्य कोहरे का नाश करते हैं ॥२५॥

एवमुक्त्वा महातेजा वसिष्ठो जपतां वरः ।
विश्वामित्रं तदा वाक्यं सरोषमिदमब्रवीत् ॥२६॥

उन सब से यह कह कर, तपस्विप्रवर वसिष्ठ जी ने रोष में भर विश्वामित्र जी से यह कहा ॥२६॥

आश्रमं चिरसंवृद्धं यद्विनाशितवानसि ।
दुराचारोऽसि यन्मूढ तस्मात्त्वं न भविष्यसि ॥२७॥

तूने मेरे बहुत पुराने और भरे पूरे इस आश्रम को नष्ट कर दिया है । अतएव हे दुराचारी और मूढ ! अब तू न बचने पावेगा ॥२७॥

इत्युक्त्वा परमक्रुद्धो दण्डमुद्यम्य सत्वरः ।
विधूममिव कालाग्निं यमदण्डमिवापरम् ॥२८॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

यह कह कर, वसिष्ठ जी ने क्रोधपूर्वक बड़े वेग से अपना दण्ड उठाया जो धूमरहित कालाग्नि के समान अथवा दूसरा यमदण्ड जैसा (भयङ्कर) था ॥२८॥

बालकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—:o:—

षट्पञ्चाशः सर्गः

—:o:—

एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महाबलः ।
आग्नेयमस्त्रमुत्क्षिप्य तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥१॥

वसिष्ठ जी के ऐसे कठोर वचन सुन कर, महाबली विश्वामित्र ने आग्नेयास्त्र उठाया और कहा खड़ा रह ! खड़ा रह ! ॥१॥

ब्रह्मदण्डं समुत्क्षिप्य कालदण्डमिवापरम् ।
वसिष्ठो भगवान् क्रोधादिदं वचनमब्रवीत् ॥२॥

वसिष्ठ जी ने भी दूसरे कालदण्ड के समान ब्रह्मदण्ड को उठा कर क्रोधपूर्वक विश्वामित्र से यह कहा ॥२॥

क्षत्रबन्धो[1] स्थितोऽस्म्येष यद्बलं तद्विदर्शय ।
नाशयाम्यद्य ते दर्पं शस्त्रस्य तव गाधिज ॥३॥

अरे क्षत्रियों में नीच ! ले मैं खड़ा हूँ । तूने महादेव से जो अस्त्र शस्त्र-प्राप्त किए हैं, उन सब को मेरे ऊपर चला । अरे गाधिं के छोकड़े ! तुझे जो इन अस्त्रों की शेखी है, उसे मैं अभी दूर किये देता हूँ ॥३॥

---

१ क्षत्रबन्धो—क्षत्रियाधम । (गो०)

क्व च ते क्षत्रियबलं क्व च ब्रह्मबलं महत् ।
पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपांसन ॥४॥

अरे कहाँ क्षत्रियों का पशुबल ! और कहाँ ब्राह्मणों का बड़ा तपबल ! क्षत्रियाधम ! मेरा दिव्य ब्रह्म बल देख ॥४॥

तस्यास्त्रं गाधिपुत्रस्य घोरमाग्नेयमुद्यतम् ।
ब्रह्मदण्डेन तच्छान्तमग्नेर्वेग इवाम्भसा ॥५॥

वसिष्ठ जी ने अपने ब्रह्मदण्ड से विश्वामित्र का चलाया हुआ वह भयङ्कर आग्नेयास्त्र उसी प्रकार शान्त कर दिया, जिस प्रकार जल आग को शान्त कर देता है ॥५॥

वारुणं चैव रौद्रं च ऐन्द्रं पाशुपतं तथा ।
ऐषीकं चापि चिक्षेप कुपितो गाधिनन्दनः ॥६॥

तदनन्तर विश्वामित्र ने क्रुद्ध हो वारुण, रौद्र, ऐन्द्र, पाशुपत तथा ऐषीक अस्त्र चलाये ॥६॥

मानवं मोहनं चैव गान्धर्वं स्वापनं तथा ।
जृम्भणं मादनं चैव सन्तापनविलापने ॥७॥

फिर मानव, मोहन, गान्धर्व, स्वापन, जृम्भण, मादन, सन्तापन, विलापन, ॥७॥

शोषणं दारणं चैव वज्रमस्त्रं सुदुर्जयम् ।
ब्रह्मपाशं कालपाशं वारुणं पाशमेव च ॥८॥

शोषण, दारण, सुदुर्जय वज्रास्त्र, ब्रह्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, ॥८॥

पैनाकास्त्रं च दयितं शुष्कार्द्रे अशनी उभे ।
दण्डास्त्रमथ पैशाचं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥६॥

पिनाकास्त्र, प्यारा शुष्कार्द्र, दोनों अशनी, दण्डास्त्र, पैशाचास्त्र, क्रौञ्चास्त्र, ॥६॥

धर्मचक्रं कालचक्रं विष्णुचक्रं तथैव च ।
वायव्यं मथनं चैव अस्त्रं हयशिरस्तथा ॥१०॥

धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, वायव्यास्त्र, मथनास्त्र तथा हयशिरास्त्र भी चलाये ॥१०॥

शक्तिद्वयं च चिक्षेप कङ्कालं मुसलं तथा ।
वैद्याधरं महास्त्रं च कालास्त्रमथ दारुणम् ॥११॥

तथा दोनों शक्तियाँ भी फेंकी। तदनन्तर कङ्काल, मुसल, वैद्याधर नामक महास्त्र, कठोर कालास्त्र ॥११॥

त्रिशूलमस्त्रं घोरं च कापालमथ कङ्कणम् ।
एतान्यस्त्राणि चिक्षेप सर्वाणि रघुनन्दन ॥१२॥

घोर त्रिशूल, कापाल और कङ्कणास्त्र। हे राम! ये सब अस्त्र विश्वामित्र जी ने वसिष्ठ जी के ऊपर चलाये ॥१२॥

वसिष्ठे जपतां श्रेष्ठे तदद्भुतमिवाभवत् ।
तानि सर्वाणि दण्डेन ग्रसते ब्रह्मणः सुतः ॥१३॥

किन्तु यह बड़े अचम्भे की बात हुई कि, ब्रह्मा जी के पुत्र और तपस्वियों में श्रेष्ठ वसिष्ठ जी ने इन सब ही अस्त्रों को अपने ब्रह्मदण्ड से ग्रस लिया (अर्थात् पकड़ लिया) ॥१३॥

तेषु शान्तेषु ब्रह्मास्त्रं क्षिप्तवान् गाधिनन्दनः ।
तदस्त्रमुद्यतं दृष्ट्वा देवाः साग्निपुरोगमाः ॥१४॥

इन सब अस्त्रों के विफल होने पर, विश्वामित्र ने ब्रह्मास्त्र चलाने के लिए उठाया, यह देख अग्नि देव ॥१४॥

देवर्षयश्च सम्भ्रान्ता गन्धर्वाः समहोरगाः ।
त्रैलोक्यमासीत्संत्रस्तं ब्रह्मास्त्रे समुदीरिते ॥१५॥

देवर्षि, गन्धर्व और महोरग घबड़ा गये। ब्रह्मास्त्र के उठाते ही तीनों लोक बहुत भयभीत हुए ॥१५॥

तदप्यस्त्रं महाघोरं ब्राह्मं ब्राह्मणतेजसा ।
वसिष्ठो ग्रसते सर्वं ब्रह्मदण्डेन राघव ॥१६॥

किन्तु, हे राम! उस ब्रह्मास्त्र को भी अपने ब्रह्मविद्याभ्यास जनित तेज से अर्थात् ब्रह्मदण्ड से पकड़ कर, वसिष्ठ ने शान्त कर दिया ॥१६॥

ब्रह्मास्त्रं ग्रसमानस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ।
त्रैलोक्यमोहनं[1] रौद्रं रूपमासीत्सुदारुणम् ॥१७॥

ब्रह्मास्त्र को ग्रास करते समय वसिष्ठ जी का तीनों लोकों को भय से मूर्च्छित करने वाला और अत्यन्त डरावना रूप हो गया ॥१७॥

रोमकूपेषु सर्वेषु वसिष्ठस्य महात्मनः ।
मरीच्य इव निष्पेतुरग्नेर्धूमाकुलार्चिषः ॥१८॥

उन महात्मा वसिष्ठ जी के प्रत्येक रोमकूप से धूमरहित अग्नि-ज्वाला की तरह चिनगारियाँ निकलने लगीं ॥१८॥

---

१ त्रैलोकस्य मोहन=भयान्मूर्च्छाजनकम् (गो०)

आज्वलद् ब्रह्मदण्डश्च वसिष्ठस्य करोद्यतः ।
विधूम इव कालाग्निर्यमदण्ड इवापरः ॥१६॥

वसिष्ठ जी के हाथ का ब्रह्मदण्ड—जो धूमरहित कालाग्नि के तुल्य अथवा दूसरे यमदण्ड के समान था—जल उठा ॥१६॥

ततोऽस्तुवन् मुनिगणा वसिष्ठं जपतां वरम् ।
अमेयं ते बलं ब्रह्मंस्तेजो धारय तेजसा ॥२०॥

यह देख अन्य मुनिगण तपस्वियों मे श्रेष्ठ वसिष्ठ जी की स्तुति करने लगे और बोले—हे ब्रह्मन् ! आपका बल अमोघ है। आप ब्रह्मास्त्र के इस तेज को अपने तप की महिमा से शान्त कीजिए ॥२०॥

निगृहीतस्त्वया ब्रह्मन् विश्वामित्रो महातपाः ।
प्रसीद जपतां श्रेष्ठ लोकाः सन्तु गतव्यथाः ॥२१॥

हे ब्रह्मन् ! आपने इस महातपा विश्वामित्र का गर्व खर्व कर दिया । हे तपस्विप्रवर ! अब आप प्रसन्न हों, जिससे सब लोगों को शान्ति प्राप्त हो ॥२१॥

एवमुक्तो महातेजाः शमं चक्रे महातपाः ।
विश्वामित्रोऽपि निकृतो विनिःश्वस्येदमब्रवीत् ॥२२॥

मुनियों के ऐसा कहने पर महातपा वसिष्ठ जी शान्त हो गए। तिरस्कृत विश्वामित्र भी ठंडी सांसें लेकर यह बोले ॥२२॥

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे ॥२३॥

क्षत्रिय-बल को धिक्कार है। ब्रह्मतेज ही का बल यथार्थ बल है। देखो न, अकेले ब्रह्मदण्ड ने मेरे सब अस्त्रों को निकम्मा कर दिया ॥२३॥

तदेतत्समवेक्ष्याहं प्रसन्नेन्द्रियमानसः[1] ।
तपो महत्समास्थास्ये यद्वै ब्रह्मत्वकारणम् ॥२४॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

अतः मैं अब क्षत्रिय-स्वभाव-सुलभ रोष को परित्याग कर, ब्रह्मत्व प्राप्त करने के लिए तप करूँगा, जो ब्राह्मणत्व प्राप्त होने का कारण अर्थात् उपाय है ॥२४॥

बालकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—०:—

ततः सन्तप्तहृदयः स्मरन् निग्रहमात्मनः ।
विनिःश्वस्य विनिःश्वस्य कृतवैरो महात्मना ॥१॥

अपने तिरस्कार को बारबार स्मरण कर, विश्वामित्र का हृदय सन्तप्त हुआ और वसिष्ठ जी के साथ वैर करने का जो फल प्राप्त हुआ, उसके लिए वे ऊँची स्वाँसें लेते हुए अर्थात् क्रोध से दग्ध होते हुए ॥१॥

स दक्षिणां दिशं गत्वा महिष्या सह राघव ।
तताप परमं घोरं विश्वामित्रो महत्तपः ॥२॥

---

१ प्रसन्नेन्द्रियमानस .—परित्यक्त क्षत्ररोष. (गो०)। परित्यक्तक्षत्र-स्वभाव. (रा०)।

हे रामचन्द्र ! विश्वामित्र अपनी रानी सहित दक्षिण दिशा में चले गए और वहां उन्होंने बड़ी कठिन तपस्या की ॥२॥

अथास्य जज्ञिरे पुत्राः सत्यधर्मपरायणाः ।
हविःष्यन्दो मधुष्यन्दो दृढनेत्रो महारथः ॥३॥

विश्वामित्र जी के कुछ दिनो बाद सत्यवादी, महारथी और धर्मात्मा हविष्यन्द, मधुष्यन्द दृढ़नेत्र नाम के पुत्र हुए ॥३॥

[टिप्पणी—तपस्वी को ब्रह्मचर्य धारण करना आवश्यक है किन्तु विश्वामित्र तप के समय ऐसा न कर सके। फल यह हुआ कि वे तप से भ्रष्ट हो गए और पुत्रोत्पादन किया। अतः उन्हें ब्रह्मा जी को प्रसन्न करने में एक सहस्र वर्ष लगे।]

पूर्णे वर्षसहस्रे तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम् ॥४॥

तब तप करते-करते एक हजार पूरे हो गए, तब लोकपितामह ब्रह्मा जी प्रकट हुए और तपस्वी विश्वामित्र जी से बोले ॥४॥

जिता राजर्षिलोकास्ते तपसा कुशिकात्मज ।
अनेन तपसा त्वां तु राजर्षिरिति विद्महे ॥५॥

हे कुशिक के पुत्र ! हे राजर्षे ! तुमने तप के बल से राजर्षियों के लोक जीत लिए। अतः तुम (अपनी इस तपस्या के प्रभाव से) राजर्षि हुए ॥५॥

एवमुक्त्वा महातेजा जगाम सह दैवतैः ।
त्रिविष्टपं ब्रह्मलोकं लोकानां परमेश्वरः ॥६॥

यह कह कर लोकेश्वर ब्रह्मा जी देवताओं सहित अपने ब्रह्मलोक को और देवगण स्वर्ग को चले गए ॥६॥

विश्वामित्रोऽपि तच्छ्रुत्वा ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ।
दुःखेन महताऽऽविष्टः समन्युरिदमब्रवीत् ॥७॥

ब्रह्मा जी के इन वचनों को सुन विश्वामित्र जी ने मारे लज्जा के मुख नीचा कर लिया और परम दु.खित हो, दीनतापूर्वक बोले ॥७॥

तपश्च सुमहत्तप्तं राजर्षिरिति मां विदुः ।
देवाः सर्षिगणाः सर्वे नास्ति मन्ये तपःफलम् ॥८॥

हा ! इतना घोर तप करने पर भी समस्त देवता और ऋषि मुझे राजर्षि ही मानते हैं, (ब्रह्मर्षि नहीं) अतः मैं इसको तप का फल ही नहीं मानता ॥८॥

इति निश्चित्य मनसा भूय एव महातपाः ।
तपश्चचार काकुत्स्थ परमं परमात्मवान् ॥९॥

हे राघव ! अपने मन में यह निश्चय कर, परम यत्नवान् महातपस्वी विश्वामित्र फिर कठोर तप करने लगे ॥९॥

एतस्मिन्नेव काले तु सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
त्रिशङ्कुरिति विख्यात इक्ष्वाकुकुलवर्धनः ॥१०॥

इसी बीच में सत्यवादी और जितेन्द्रिय इक्ष्वाकुवंशी त्रिशंकु नामक राजा के ॥१०॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना यजेयमिति राघव ।
गच्छेयं स्वशरीरेण देवानां परमां गतिम् ॥११॥

---

१ समन्यु:—सदैन्य (गो०)

मन में, हे राघव ! यह बात उठी कि, हम ऐसा कोई यज्ञ करें, जिससे हम अपने इस (पार्थिव) शरीर से स्वर्ग जायें ॥११॥

स वसिष्ठं समाहूय कथयामास चिन्तितम् ।
अशक्यमिति चाप्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना ॥१२॥

और अपने मन के इस विचार को, वसिष्ठ जी को बुला कर उनके सामने प्रकट किया। महात्मा वसिष्ठ जी ने त्रिशकु का विचार सुन कर कहा कि, ऐसा होना असम्भव है ॥ २॥

प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन स ययौ दक्षिणां दिशम् ।
ततस्तत्कर्मसिद्ध्यर्थं पुत्रांस्तस्य गतो नृपः ॥१३॥

जब वसिष्ठ जी ने त्रिशकु को इस प्रकार का सूखा जवाब दे दिया, तब यह दक्षिण दिशा में अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए वसिष्ठ जी के पुत्रों के पास गया ॥१३॥

वासिष्ठा दीर्घतपसस्तपो यत्र हि तेपिरे ।
त्रिशङ्कुः सुमहातेजाः शतं[१] परमभास्वरम् ॥१४॥
वसिष्ठपुत्रान् ददृशे तप्यमानान् यशस्विनः ।
सोऽभिगम्य महात्मानः सर्वानेव गुरोः सुतान् ॥१५॥

जाते-जाते राजा त्रिशकु वहाँ पहुँचा जहाँ वसिष्ठ जी के अनेक पुत्र बड़ा तप कर रहे थे। वहाँ जा महातेजस्वी त्रिशंकु ने वसिष्ठ जी के बड़े यशस्वी पुत्रों को देखा कि, वे सब के सब तपस्या में लीन हैं। उन सब महात्मा गुरुपुत्रों के पास जा ॥१४॥१५॥

---

१ शत वासिष्ठानिति—बह्वर्थे शतमितिनिपातनात्समानाधिकरण्यम् ।

अभिवाद्यानुपूर्व्येण ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ।
अब्रवीत्सुमहाभागान् सर्वानेव कृताञ्जलिः ॥१६॥

त्रिशङ्कु ने यथाक्रम सब को प्रणाम किया, किन्तु वे लज्जा के मारे मुख नीचे ही किए रहे और हाथ जोड़ कर उन सब बड़े भाग्यवान् गुरुपुत्रों से बोले ॥१६॥

शरणं वः प्रपद्येऽहं शरण्यान् शरणागतः ।
प्रत्याख्यातोऽस्मि भद्रं वो वसिष्ठेन महात्मना ॥१७॥

आप शरणागत की रक्षा करने वाले हैं। अत मैं आपके शरण में आया हूँ। मैंने आपके पिता जी से यज्ञ कराने को कहा था किन्तु उन्होंने मुझे जवाब दे दिया (अर्थात् यज्ञ कराने से इनकार कर दिया) ॥१७॥

यष्टुकामो महायज्ञं तदनुज्ञातुमर्हथ ।
गुरुपुत्रानहं सर्वान्नमस्कृत्य प्रसादये ॥१८॥

अब आप लोगों से प्रार्थना है कि, उस महायज्ञ के करने की आज्ञा हो। मैं अपने सब गुरुपुत्रों को प्रसन्न करने के लिए उनको नमस्कार करता हूँ ॥१८॥

शिरसा प्रणतो याचे ब्राह्मणांस्तपसि स्थितान् ।
ते मां भवन्तः सिद्ध्यर्थं याजयन्तु समाहिताः ॥१९॥

मैं वारम्वार प्रणाम कर, आप तपस्वी ब्राह्मणों से यह माँगता हूँ कि आप लोग मुझे सावधानतापूर्वक यज्ञ करावें, जिससे मेरा मनोरथ सिद्ध हो ॥१९॥

---

१ समाहिता = अवहिता (गो०)

सशरीरो यथाहं हि देवलोकमवाप्नुयाम् ।
प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन गतिमन्यां तपोधनाः ॥२०॥

और जिससे मैं इसी शरीर से स्वर्ग जाऊँ। हे तपोधनो! गुरु वसिष्ठ जी ने तो मुझे जवाब दे दिया, अतः मैं गुरुपुत्रों को छोड़, इस काम के लिए अन्य किसी को योग्य नहीं समझता ॥२०॥

गुरुपुत्रानृते सर्वान्नाहं पश्यामि काञ्चन ।
इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमा गतिः ॥२१॥

यदि आप सब लोगों ने भी मूखा ही टकराया तो मुझे और कोई नहीं देख पड़ता। इक्ष्वाकुवंशीय सब राजाओं के तो काम उनके पुरोहित द्वारा ही होते रहे हैं अथवा राजा इक्ष्वाकु के वंश की यह रीति है कि, सदा पुरोहित से प्रीति करें अतः मेरा आपके शरण में आना कोई अनोखी बात नहीं है ॥२१॥

पुरोधसस्तु विद्वांसस्तारयन्ति सदा नृपान् ।
तस्मादनन्तरं सर्वे भवन्तो दैवतं मम[1] ॥२२॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

श्रेष्ठ विद्वान् वसिष्ठ जी ही इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के सदा से रक्षक रहे हैं। उनके बाद आप सब लोग ही मेरे रक्षक हैं ॥२२॥

बालकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

---

१ तस्यारक्षकत्वे भवन्त एव रक्षका इतिभावः (गो०

अष्टपञ्चाशः सर्गः

— ० —

ततस्त्रिशङ्कोर्वचनं श्रुत्वा क्रोधसमन्वितम् ।
ऋषिपुत्रशतं राम राजानमिदमब्रवीत् ॥१॥

हे राम! राजा त्रिशंकु का वचन सुन, वसिष्ठ जी के सौ पुत्र क्रोध कर उससे यह बोले ॥१॥

प्रत्याख्यातो हि दुर्बुद्धे गुरुणा सत्यवादिना ।
ते कथं समतिक्रम्य शाखान्तरमुपेयिवान् ॥२॥

हे दुर्बुद्धे! तेरे सत्यवादी गुरु ने तुझे जिस काम के करने का निषेध कर दिया, उनकी उस आज्ञा की अवहेला कर, तू दूसरों के पास क्यों आया है ॥२॥

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमो गुरुः ।
न चातिक्रमितुं शक्यं वचनं सत्यवादिनः ॥३॥

(तेरे ही कथनानुसार) इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के लिए पुरोहित वसिष्ठ जी ही परमगति हैं। उन सत्यवादी की बात को टालना हमारे लिए असम्भव है ॥३॥

अशक्यमिति चोवाच वसिष्ठो भगवानृषिः ।
तं वयं वै समाहर्तुं क्रतुं शक्ताः कथं तव ॥४॥

भला जिस यज्ञ के विषय में भगवान् ऋषि वसिष्ठ जी कह चुके हैं कि, यज्ञ नहीं हो सकता, (जरा सोच तो) उस तेरे यज्ञ को हम कैसे करा सकते हैं? ॥४॥

[नोट—वसिष्ठ जी के पुत्रों के क्रुद्ध होने का कारण यही था। उन लोगों ने समझा कि, त्रिशंकु हमारे और हमारे पिता के बीच वैर करवाना चाहता है। यही बात वे यहाँ कह रहे हैं।]

बालिशस्त्वं नरश्रेष्ठ गम्यतां स्वपुरं पुनः।
याजने भगवाञ्शक्तस्त्रैलोक्यस्यापि पार्थिव ॥५॥

हे राजन्! हम जान गए तुम अनाड़ी हो! तुम अब अपनी राजधानी को लौट जाओ। हे राजन्! भगवान् वसिष्ठ जी तो तीनों लोकों को भी यज्ञ करा सकते हैं, फिर तुम तो उनके शिष्य ही हो। (यदि उन्होंने तुमको किसी कारण-विशेष-वश यज्ञ कराना नहीं चाहा, तो इसका यह अर्थ मत समझो कि, वे वैसा यज्ञ करा नहीं सकते, किन्तु उनका वैसा न करवाना तुम्हारे ही हित के लिए है) ॥५॥

अवमानं च तत्कर्तुं तस्य शक्ष्यामहे कथम्।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा क्रोधपर्याकुलाक्षरम् ॥६॥

हम उनका अपमान कैसे कर सकते हैं। उनके ऐसे क्रोधयुक्त वचन सुन, ॥६॥

स राजा पुनरेवैतानिदं वचनमब्रवीत्।
प्रत्याख्यातोऽस्मि गुरुणा गुरुपुत्रैस्तथैव च ॥७॥

राजा ने उनसे फिर यह कहा—अच्छा महाराज! गुरु जी ने जिस प्रकार जवाब दे दिया, उसी प्रकार आप लोगों ने भी मुझे सूखा टरकाया ॥७॥

अन्यां गतिं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु तपोधनाः।
ऋषिपुत्रास्तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं घोराभिसंहितम् ॥८॥

हे तपस्वियो ! आप लोग आनन्द कीजिए। मैं अब जाता हूँ और अन्य किसी का सहारा पकड़ूँगा। ऋषिपुत्रों ने जब राजा के मुख से निकले हुए ऐसे घोर अपमानकारक वचन सुने ॥८॥

शेपुः परमसंक्रुद्धाश्चण्डालत्वं गमिष्यसि ।
एवमुक्त्वा महात्मानो विविशुस्ते स्वमाश्रमम् ॥९॥

तब वे परम क्रुद्ध हुए और राजा को शाप दिया कि, "तू चाण्डाल हो जायगा"। यह शाप दे, वे सब उठ कर अपनी-अपनी कुटियों के भीतर चले गए ॥९॥

अथ रात्र्यां व्यतीतायां राजा चण्डालतां गतः ।
नीलवस्त्रधरो नीलः परुषो ध्वस्तमूर्धजः[1] ॥१०॥

रात बीतने पर राजा चाण्डालता को प्राप्त हो गया (पीताम्बर की जगह) उसने नीले रङ्ग का तहमत पहना, उसका शरीर भी काला पड़ गया। शरीर पर रुखाई आ गई। सिर के बाल छोटे हो गए ॥१०॥

चित्यमाल्यानुलेपश्च आयसाभरणोऽभवत् ।
तं दृष्ट्वा मन्त्रिणः सर्वे त्यज्य चण्डालरूपिणम् ॥११॥
प्राद्रवन् सहिता राम पौरा येऽस्यानुगामिनः ।
एको हि राजा काकुत्स्थ जगाम परमात्मवान् ॥१२॥

चिता की भस्म शरीर में पुत गई। उसके जितने (सोने के) गहने थे वे सब लोहे के हो गए। हे राम ! इस प्रकार राजा को चाण्डालत्व को प्राप्त हुआ देख, सब पुरवासी, जो उसके अनुगामी

---

१ ध्वस्तमूर्धजः=ह्रस्वकेशः ।

थे, नगर से भाग गए। हे राम! तब राजा भी वहाँ से अकेला चल दिया ॥१२॥१८॥

दह्यमानो दिवारात्रं विश्वामित्रं तपोधनम्।
विश्वामित्रस्तु तं दृष्ट्वा राजानं विफलीकृतम् ॥१३॥

और रात दिन चिन्ताकुल वह राजा तपस्वी विश्वामित्र जी के पास गया। विश्वामित्र जी को उस राजा को राज्य-भ्रष्ट ॥१३॥

चण्डालरूपिणं राम मुनिः कारुण्यमागतः।
कारुण्यात्स महातेजा वाक्यं परमधार्मिकः ॥१४॥

और चाण्डालत्व को प्राप्त हुआ देख, उस पर दया आई। दयावश, महातेजस्वी और परम धार्मिक विश्वामित्र जी ने ॥१४॥

इदं जगाद भद्रं ते राजानं घोररूपिणम्।
किमागमनकार्यं ते राजपुत्र महाबल ॥१५॥

उस घोर रूपधारी राजा से यह कहा—हे महाबली राजपुत्र तुम्हारा मङ्गल हो। मेरे पास तुम किस काम के लिए आए हो? ॥१५॥

अयोध्याधिपते वीर शापाच्चण्डालतां गतः।
अथ तद्वाक्यमाकर्ण्य राजा चण्डालतां गतः ॥१६॥

मैं यह जानता हूँ कि, तुम अयोध्या के राजा हो और इस समय तुम शापवश चण्डाल के रूप में हो। चण्डालता को प्राप्त राजा त्रिशंकु इन वाक्यों को सुन, ॥१६॥

अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ।
प्रत्याख्यातोऽस्मि गुरुणा गुरुपुत्रैस्तथैव च ॥१७॥
अनवाप्यैव तं कामं मया प्राप्तो विपर्ययः ।
सशरीरो दिवं यायामिति मे सौम्य दर्शनम् ॥१८॥

बचन बोलने में चतुर राजा हाथ जोड़ कर, परम चतुर विश्वामित्र से बोला—महाराज ! मेरे गुरु और उनके पुत्रों ने मुझे हताश किया है। मैं चाहता था कि, मैं सशरीर स्वर्ग जाऊं सो तो उन्होंने न किया, उलटा मुझे चाण्डाल बनाकर, इस लोक में भी मुँह दिखाने योग्य नहीं रखा ॥१७॥१८॥

मया चेष्टं क्रतुशतं तच्चानावाप्यते फलम् ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ॥१९॥

महाराज, मैंने जो सौ यज्ञ किए उसका फल भी मुझे न मिला। न तो कभी झूठ बोला न कभी बोलूँगा* ॥१९॥

कृच्छ्रेष्वपि गतः सौम्य क्षत्रधर्मेण ते शपे ।
यज्ञैर्बहुविधैरिष्टं प्रजा धर्मेण पालिताः ॥२०॥

भले ही मुझ पर कोई कष्ट ही क्यों न पड़े, मैं क्षात्रधर्म की शपथ खा कर कहता हूँ, मैंने अनेक यज्ञ किए, धर्मपूर्वक प्रजा का पालन किया ॥२०॥

गुरवश्च महात्मानः [1]शीलवृत्तेन तोषिताः ।
धर्मे प्रयतमानस्य यज्ञं चाहर्तुमिच्छतः ॥२१॥

---

* यह बात राजा त्रिशंकु ने इसलिए कही है कि झूठ बोलने से यज्ञफल नष्ट हो जाता है।

१ शीलवृत्तेन—शीलयुक्तवृत्तेन (गो०)

अपने शील और आचार से पूज्य जनों और महात्माओं को सन्तुष्ट किया। अब भी मैं धर्म ही के लिए एक यज्ञ और करना चाहता था ॥२१॥

परितोषं न गच्छन्ति गुरवो मुनिपुङ्गव।
दैवमेव परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥२२॥

हे मुनिपुङ्गव! परन्तु गुरु लोग राजी न हुए। सो हे मुने! मैं तो भाग्य ही को प्रबल मानता हूँ, पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है ॥२२॥

दैवेनाक्रम्यते सर्वं दैवं हि परमा गतिः।
तस्य मे परमार्तस्य प्रसादमभिकाङ्क्षतः।
कर्तुमर्हसि भद्रं ते दैवोपहतकर्मणः ॥२३॥

जो कुछ होता है वह भाग्य ही से होता है। भाग्य ही सब कुछ है। सो मुझ परमदीन हतभाग्य पर, आप कृपा कीजिए। आपका मङ्गल हो ॥२३॥

नान्यां गतिं गमिष्यामि नान्यः शरणमस्ति मे।
दैवं पुरुषकारेण निवर्तयितुमर्हसि ॥२४॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

मैं न तो किसी दूसरे के पास जाऊँगा और न मुझे कोई दूसरा इसके योग्य देख ही पड़ता है। अतः आप अपने पुरुषार्थ से मेरे दुर्भाग्य को दूर कीजिए ॥२४॥

बालकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

एकोनषष्टितमः सर्गः

—:०:—

उक्तवाक्यं तु राजानं कृपया कुशिकात्मजः।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं साक्षाच्चण्डालरूपिणम् ॥१॥

साक्षात् चण्डालता को प्राप्त राजा ने जब ऐसा कहा, तब उस पर कृपाकर विश्वामित्र जी ने उससे मधुर वाणी में कहा ॥१॥

ऐक्ष्वाक स्वागतं वत्स जानामि त्वां सुधार्मिकम्।
शरणं ते भविष्यामि मा भैषीर्नृपपुङ्गव ॥२॥

हे राजन्! मैं तेरा स्वागत करता हूँ। मैं जानता हूँ कि, तू धर्मात्मा है। मैं तुझे अपने शरण में लूँगा, अथवा मैं तेरी रक्षा करूँगा। हे नृपपुङ्गव! तू मत डर ॥२॥

अहमामन्त्रये सर्वान् महर्षीन् पुण्यकर्मणः।
यज्ञसाह्यकरान् राजंस्ततो यक्ष्यसि निर्वृतः ॥३॥

हे राजन्! मैं सब पुण्यकर्मनिरत महर्षियों के पास न्योता भेजता हूँ। वे सब आकर यज्ञ मे सहायता करेंगे और तू सानन्द यज्ञ करेगा ॥३॥

गुरुशापकृतं रूपं यदिदं त्वयि वर्तते।
अनेन सह रूपेण सशरीरो गमिष्यसि ॥४॥

गुरुशाप से तेरा यह जो रूप बिगड़ गया है, सो तू इसी रूप से और इसी शरीर से स्वर्ग को जायगा ॥४॥

हस्तप्राप्तमहं मन्ये स्वर्गं तव नराधिप।
यस्त्वं कौशिकमागम्य शरण्यं शरणागतः ॥५॥

हे राजन्! अब तू शरणागतवत्सल विश्वामित्र के शरण में आ चुका; तब स्वर्ग को तो मैं तेरे हाथ में आया हुआ ही समझता हूँ ॥५॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुत्रान् परमधार्मिकान् ।
व्यादिदेश महाप्राज्ञान् यज्ञसम्भारकारणात् ॥६॥

राजा से यह कह कर, विश्वामित्र जी ने परम धार्मिक अपने पुत्रों को यज्ञ की तैयारी करने की आज्ञा दी ॥६॥

सर्वान् शिष्यान् समाहूय वाक्यमेतदुवाच ह ।
सर्वानृषि[१]गणान् वत्सा आनयध्वं ममाज्ञया ॥७॥

फिर अपने सब शिष्यों को बुला कर उनसे कहा कि, हे वत्सो! तुम लोग जाकर मेरी आज्ञा से सब ऋषियों को लिवा लाओ ॥७॥

सशिष्यसुहृदश्चैव सर्त्विजः सुबहुश्रुतान् ।
यदन्यो वचनं ब्रूयान् मद्वाक्यबलचोदितः ॥८॥

वे सब अपने अपने शिष्यों, सुहृदों, ऋत्विजों और विद्वानों सहित आवें। और जो कोई मेरी आज्ञा के विरुद्ध कुछ कहे ॥८॥

यत्सर्वमखिलेनोक्तं ममाख्येयमनादृतम् ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दिशो जग्मुस्तदाज्ञया ॥९॥

उसकी कही वह ज्यों की त्यों (मेरे अपमान की) बात, आकर मुझसे कहो। विश्वामित्र जी के वचन सुन और उनकी आज्ञा से वे सब चारों ओर चल दिए ॥९॥

---

१ पाठान्तरे—सर्वानृषीन्सवासिष्ठानानयध्वं ममाज्ञया ।

आजग्मुरथ देशेभ्यः सर्वेभ्यो ब्रह्मवादिनः ।
ते च शिष्याः समागम्य मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥१०॥

विश्वामित्र जी का न्योता पाकर अनेक देशों से ब्रह्मवादी ऋषि आने लगे। शिष्य भी (जो न्योता देने गए थे) परम तेजस्वी विश्वामित्र के पास लौट कर आ गए ॥१०॥

ऊचुश्च वचनं सर्वे सर्वेषां ब्रह्मवादिनः ।
श्रुत्वा ते वचनं सर्वे समायान्ति द्विजातयः ॥११॥

और बोले—आपका न्योता पा कर सब ब्रह्मवादी ऋषि और ब्राह्मण आ रहे हैं ॥११॥

सर्वदेशेषु चागच्छन् वर्जयित्वा महोदयम् ।
वासिष्ठं तच्छतं सर्वं क्रोधपर्याकुलाक्षरम् ॥१२॥

सब देश के ऋषि तो आ भी चुके हैं, पर महोदय नामक ऋषि नहीं आए। इनके अतिरिक्त वसिष्ठ जी के सब पुत्रों ने महाक्रुद्ध हो जो कुवाच्य ॥१२॥

यदाह वचनं सर्वं शृणु त्वं मुनिपुङ्गव ।
क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषतः ॥१३॥

कहे, वे सब, हे मुनिपुङ्गव ! सुनिए। वे बोले कि, जिस यज्ञ में, विशेष कर चण्डाल के यज्ञ मे, क्षत्रिय तो याजक—यज्ञ कराने वाला हो ॥१३॥

कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः ।
ब्राह्मणा वा महात्मानो भुक्त्वा चण्डालभोजनम् ॥१४॥

कथं स्वर्गं गमिष्यन्ति विश्वामित्रेण पालिताः ।
एतद्वचननैष्ठुर्यमूचुः संरक्तलोचनाः ॥१५॥

उस यज्ञ में देवर्षि किस प्रकार हवि ग्रहण करेंगे और ब्राह्मण वा महात्मा लोग जो विश्वामित्र के वश में हो, चाण्डाल का अन्न भोजन करेंगे कैसे स्वर्ग जाँयगे? ये कठोर वचन, क्रोध में भर ॥१४।१५॥

वासिष्ठा मुनिशार्दूल सर्वे ते समहोदयाः ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा सर्वेषां मुनिपुङ्गवः ॥१६॥

हे मुनिशार्दूल! वसिष्ठ के उन सब पुत्रों ने तथा महोदय ऋषि ने कहे हैं। उन शिष्यों के मुख से ये वचन सुन कर, विश्वामित्र जी ॥१६॥

क्रोधसंरक्तनयनः सरोषमिदमब्रवीत् ।
ये दूषयन्त्यदुष्टं मां तप उग्रं समास्थितम् ॥१७॥

मारे क्रोध के लाल लाल नेत्र कर, रोष सहित यह बोले। देखो मैं महा उग्र तपस्या कर रहा हूँ, सब प्रकार से दोषरहित हूँ। तिस पर भी जो वसिष्ठ के दुष्ट पुत्र ।मुझे दूषण देते हैं, वे सब के सब ॥१७॥

भस्मीभूता दुरात्मानो भविष्यन्ति न संशयः ।
अद्य ते कालपाशेन नीता वैवस्वतक्षयम् ॥१८॥

दुरात्मा, निश्चय ही भस्म हो जाँयगे और कालपाश में बँधे हुए, आज ही यमपुरी में पहुँचा दिए जाँयगे ॥१८॥

सप्त जातिशतान्येव मृतपाः सन्तु सर्वशः ।
श्वमांसनियताहारा मुष्टिका नाम निर्घृणाः ॥१९॥

और सात सौ जन्म तक "मृतपा" (शवभक्षी) मुर्दा खाने वाले होंगे। उन्हें नियमित रूप से कुत्ते का मांस खाना पड़ेगा और "मुष्टिक" उनका नाम होगा ॥१९॥

विकृताश्च विरूपाश्च लोकाननुचरन्त्विमान् ।
महोदयश्च दुर्बुद्धिर्मामदूष्यं ह्यतूषयत् ॥२०॥

निर्दय, घृणित और कुरूप हो कर इधर उधर घूमेंगे। महोदय नामक दुर्बुद्धि ने मुझ निर्दोष को जो दोष लगाया है ॥२०॥

दूषितः सर्वलोकेषु निषादत्वं गमिष्यति ।
प्राणातिपातनिरतो निरनुक्रोशतां गतः ।
दीर्घकालं मम क्रोधाद् दुर्गतिं वर्तयिष्यति ॥२१॥

सो वह सब लोगों से दूषित हो निषाद योनि पायेगा और हिंसक तथा निर्दय हो कर दीर्घ काल तक मेरे क्रोध से बड़ी दुर्गति भोगेगा ॥२१॥

एतावदुक्त्वा वचनं विश्वामित्रो महातपाः ।
विरराम महातेजा ऋषिमध्ये महामुनिः ॥२२॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः ॥

महातपस्वी विश्वामित्र जी ऋषियों के बीच बैठे हुए इस प्रकार उनको शाप दे, चुप हो गए ॥२२॥

[टिप्पणी—इस कथा से यह पता चलता है कि वर्तमानकालीन मुष्टिका तथा निषाद जाति में कुछ लोग ऋषिवंशीय भी हैं।]

बालकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

षष्टितमः सर्गः

—:०:—

तपोबलहतान् कृत्वा वासिष्ठान् समहोदयान् ।
ऋषिमध्ये महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥१॥

महोदय सहित वसिष्ठ जी के पुत्रों को अपनी तपस्या के बल से मार कर, महातेजस्वी विश्वामित्र, ऋषियों के बीच में बैठे हुए, कहने लगे ॥१॥

अयमिक्ष्वाकुदायादस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः ।
धर्मिष्ठश्च वदान्यश्च मां चैव शरणं गतः ॥२॥

इक्ष्वाकुवंशी यह प्रसिद्ध राजा त्रिशंकु, जो धर्मिष्ठ और उदार है, मेरे शरण में आया है ॥२॥

तेनानेन शरीरेण देवलोकजिगीषया ।
यथायं स्वशरीरेण स्वर्गलोकं गमिष्यति ॥३॥

अपने इसी शरीर से देवलोक (स्वर्ग) को जाना चाहता है। इसलिए जिस प्रकार यह अपने इसी शरीर से स्वर्गलोक में जाय ॥३॥

तथा प्रवर्त्यतां यज्ञो भवद्भिश्च मया सह ।
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा सर्व एव महर्षयः ॥४॥

उसी प्रकार आप लोग मेरे साथ मिल कर, इसे यज्ञ करवाइये। विश्वामित्र जी के वचन सुन सब महर्षि लोग, ॥४॥

ऊचुः समेत्य सहिता धर्मज्ञा धर्मसंहितम् ।
अयं कुशिकदायादो मुनिः परमकोपनः ॥५॥

जो धर्म का मर्म जानने वाले थे, आपस में कहने लगे—यह कुशिकवंशीय विश्वामित्र जी बड़े क्रोधी हैं ॥५॥

यदाह वचनं सम्यगेतत्कार्यं न संशयः ।
अग्निकल्पो हि भगवान् शापं दास्यति रोषितः ॥६॥

जो यह कह रहे हैं, यदि उसके अनुसार हम लोगों ने कार्य न किया, तो यह साक्षात् अग्नि के तुल्य विश्वामित्र क्रुद्ध हो हमें शाप दे देंगे ॥६॥

तस्मात्प्रवर्त्यतां यज्ञः सशरीरो यथा दिवम् ।
गच्छेदिक्ष्वाकुदायादो विश्वामित्रस्य तेजसा ॥७॥

अत. ऐसा यज्ञ करो जिससे इक्ष्वाकुवंशज त्रिशंकु, विश्वामित्र के तप प्रभाव से सशरीर स्वर्ग को चला जाय ॥७॥

तथा प्रवर्त्यतां यज्ञः सर्वे समधितिष्ठत ।
एवमुक्त्वा महर्षयश्चक्रुस्तास्ताः क्रियास्तदा ॥८॥

सो अब सब को मिल कर यज्ञारम्भ करना चाहिए। यह कह, वे सब ऋषि लोग वेदविधान से यज्ञक्रियाएँ करने लगे ॥८॥

याजकश्च महातेजा विश्वामित्रोऽभवत् क्रतौ ।
ऋत्विजश्चानुपूर्व्येण मन्त्रवन्मन्त्रकोविदाः ॥९॥

उस यज्ञ में याजक विश्वामित्र जी हुए और अन्य बड़े-बड़े विज्ञानी लोग जो भली भांति वेद के मंत्रों के जानने वाले थे, यथाक्रम ऋत्विज आदि हुए ॥९॥

चक्रुः सर्वाणि कर्माणि यथाकल्पं यथाविधि ।
ततः कालेन महता विश्वामित्रो महातपाः ॥१०॥

उन सब ने यज्ञ के समस्त कर्म विधिपूर्वक यथाक्रम किए। इस रीति से बहुत दिनों तक यज्ञक्रिया होती रही। तदनन्तर महातपस्वी विश्वामित्र जी ने ॥१०॥

चकारावाहनं तत्र भागार्थं सर्वदेवताः ।
नाभ्यागमंस्तदाहूता भागार्थं सर्वदेवताः ॥११॥

यज्ञभाग ग्रहण करने के लिए सब देवताओं को बुलाया। किन्तु बुलाने पर भी कोई भी देवता यज्ञभाग लेने को न आया ॥११॥

ततः क्रोधसमाविष्टो विश्वामित्रो महामुनिः ।
स्रुवमुद्यम्य सक्रोधस्त्रिशङ्कुमिदमब्रवीत् ॥१२॥

तब तो महर्षि विश्वामित्र जी कुपित हुए और स्रुवा उठा, त्रिशंकु से यह बोले ॥१२॥

पश्य मे तपसो वीर्यं स्वार्जितस्य नरेश्वर ।
एष त्वां सशरीरेण नयामि स्वर्गमोजसा[1] ॥१३॥

हे राजन्! मेरी तपस्या का प्रभाव देखिए, मैं तुमको इसी शरीर से अपने तपोबल द्वारा स्वर्ग पहुँचाता हूँ ॥१३॥

दुष्प्रापं स्वशरीरेण दिवं गच्छ नराधिप ।
स्वार्जितं किञ्चिदप्यस्ति मया हि तपसः फलम् ॥१४॥

हे राजन्! यद्यपि इस (पार्थिव) शरीर से स्वर्ग में जाना असम्भव है, तथापि मेरा जो कुछ थोड़ा बहुत तपस्या का फल है, ॥१४॥

---

१ ओजसा = तपोवीर्येण (गो०

राजन् स्वतेजसा तस्य सशरीरो दिवं व्रज ।

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन् सशरीरो नरेश्वरः ॥१५॥

हे राजन्! उसके द्वारा तू सशरीर स्वर्ग को जा। जब विश्वामित्र ने यह कहा, तब त्रिशंकु सशरीर ॥१५॥

दिवं जगाम काकुत्स्थ मुनीनां पश्यतां तदा ।

देवलोकगतं दृष्ट्वा त्रिशङ्कुं पाकशासनः ॥१६॥

मुनियों की आँखों के सामने (त्रिशंकु सशरीर) स्वर्ग को गए और वहाँ पहुँच गए। हे राम! सशरीर राजा त्रिशंकु को स्वर्ग में आया हुआ देख, इन्द्र ने ॥१६॥

सह सर्वैः सुरगणैरिदं वचनमब्रवीत् ।

त्रिशङ्को गच्छ भूयस्त्वं नासि स्वर्गकृतालयः[१] ॥१७॥

अन्य सब देवताओं सहित कहा, हे त्रिशंकु! तू पृथिवी पर ही जा कर रह, तू स्वर्ग में रहने योग्य नहीं है ॥१७॥

गुरुशापहतो मूढ पत भूमिमवाक्शिराः ।

एवमुक्तो महेन्द्रेण त्रिशङ्कुरपतत्पुनः ॥१८॥

क्योंकि तू गुरु के शाप से शापित है, अतः हे मूर्ख! तू नीचे को सिर कर ज़मीन पर गिर! इन्द्र के यह कहते ही त्रिशंकु नीचे की ओर गिरने लगा ॥१८॥

विक्रोशमानस्त्राहीति विश्वामित्रं तपोधनम् ।

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य क्रोशमानस्य कौशिकः ॥१९॥

और विश्वामित्र जी को पुकार कर कहने लगा—मुझे बचाइये! बचाइये!! इस प्रकार चिल्लाते हुए राजा के ऐसे वचन सुन विश्वामित्र जी ॥१९॥

---

१ स्वर्गकृतालय. = स्वर्गालयार्हः (गो०)

रोषमाहारयत्तीव्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।
ऋषिमध्ये स तेजस्वी प्रजापतिरिवापरः ॥२०॥

महाकुपित हो बोले—'तिष्ठ तिष्ठ" (वहीं) ठहर! (वहीं) ठहर! उस समय ऋषियों के बीच, विश्वामित्र जी दूसरे प्रजापति जैसे मालूम पड़ने लगे ॥२०॥

सृजन् दक्षिणमार्गस्थान् सप्तर्षीनपरान्पुनः ।
नक्षत्रमालामपरामसृजत् क्रोधमूर्छितः ॥२१॥

विश्वामित्र जी ने कुपित हो दक्षिण दिशा में पहले तो नवीन सप्तर्षियों की रचना की, तदनन्तर अश्विनी आदि सत्ताइस नये नक्षत्र बना डाले ॥२१॥

दक्षिणां दिशमास्थाय मुनिमध्ये महातपाः* ।
सृष्ट्वा नक्षत्रवंशं च क्रोधेन कलुषीकृतः ॥२२॥

क्रोध से विकल और ऋषियों के बीच में बैठे हुए विश्वामित्र जी जब दक्षिण दिशा में नवीन नक्षत्र बना चुके तब विचारने लगे कि, ॥२२॥

अन्यमिन्द्रं करिष्यामि लोको वा स्यादनिन्द्रकः ।
दैवतान्यपि स क्रोधात् स्रष्टुं समुपचक्रमे ॥२३॥

(मैंने जो यह नये स्वर्ग की कल्पना की है, उसके लिए) एक नया इन्द्र भी बनाऊँ अथवा (इस नये स्वर्ग को) बिना इन्द्र ही का रहने दूँ। (और इस नवीन स्वर्ग का मालिक त्रिशंकु ही हो।) फिर वे क्रोध में भर नवीन देवताओं की भी रचना करने लगे ॥२३॥

---

* पाठान्तरे—महायशाः ।

ततः परमसम्भ्रान्ताः सर्षिसंघाः सुरासुराः ।
सकिन्नरमहायक्षाः सहसिद्धाः सचारणाः ॥ २४॥

तब तो ऋषि, देवता, असुर, किन्नर, यक्ष, सिद्ध और चारण बहुत घबड़ाए ॥२४॥

विश्वामित्रं महात्मानमूचुः सानुनयं वचः ।
अयं राजा महाभाग गुरुशापपरिक्षतः ॥२५॥

और विश्वामित्र जी के पास जा कर, विनयपूर्वक कहने लगे—हे महाभाग! यह राजा गुरुशाप से शापित होने के कारण ॥२५॥

सशरीरो दिवं यातुं नार्हत्येव तपोधन ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा देवानां मुनिपुङ्गवः ॥२६॥

हे तपोधन! सशरीर स्वर्ग में जाने के योग्य नहीं है। उन देवताओं का यह वचन सुन महर्षि ॥२६॥

अब्रवीत् सुमहद्वाक्यं कौशिकः सर्वदेवताः ।
सशरीरस्य भद्रं वस्त्रिशङ्कोरस्य भूपतेः ॥२७॥

विश्वामित्र उन सब देवताओं से बोले कि, हे महात्माओ! आपका कल्याण हो, इस राजा त्रिशंकु को सशरीर स्वर्ग में ॥२७॥

आरोहणं प्रतिज्ञाय नानृतं कर्तुमुत्सहे ।
स्वर्गोऽस्तु सशरीरस्य त्रिशङ्कोरत्र शाश्वतः ॥२८॥

पहुँचने की मैंने जो प्रतिज्ञा की है, उसे मैं अन्यथा नहीं कर सकता। इस राजा त्रिशंकु को निरन्तर स्वर्ग में रखने के लिए ॥२८॥

नक्षत्राणि च सर्वाणि मामकानि ध्रुवाण्यथ ।
यावल्लोका धरिष्यन्ति तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः ॥२९॥

मेरे बनाए ध्रुव सहित वे सब नक्षत्र, तब तक बने रहें, जब तक अन्य सब लोक बने रहें। अर्थात् जब तक अन्य स्वर्गादि लोक रहें, तब तक मेरा बनाया हुआ नया स्वर्ग भी रहे, ॥२९॥

मत्कृतानि सुराः सर्वे तदनुज्ञातुमर्हथ ।
एवमुक्ताः सुरा सर्वे प्रत्यूचुर्मुनिपुङ्गवम् ॥३०॥

और मेरे बनाये सब देवता भी रहें। हे देवताओं! तुम सब ऐसी अनुमति दो। यह सुन उन सब देवताओं ने विश्वामित्र जी से कहा, ॥३०॥

एवं भवतु भद्रं ते तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः ।
गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद्बहिः[1] ॥३१॥

अच्छी बात है, आपका मङ्गल हो। आपके बनाए ये (नक्षत्र, ध्रुव, तथा देवता) सदैव बने रहेंगे; किन्तु प्राचीन वैश्वानरमार्ग (उत्तरायण मार्ग) के बाहर रहेंगे ॥३१॥

नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन् ।
अवाक्शिरास्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसन्निभः ॥३२॥

हे मुनिश्रेष्ठ! उन चमकते हुए नक्षत्रों में अधोमुख राजा त्रिशंकु भी अमर के तुल्य (देवताओं की तरह) बना रहेगा ॥३२॥

अनुयास्यन्ति चैतानि ज्योतींषि नृपसत्तमम् ।
कृतार्थं कीर्त्तिमन्तं च स्वर्गलोकगतं यथा ॥३३॥

---

१ वैश्वानरपथादुत्तरायणमार्गात् (गो०)

और जिस प्रकार कीर्तिवान् एवं सिद्धमनोरथ जीव के पीछे नक्षत्र चलते हैं, उसी प्रकार त्रिशंकु के पीछे-पीछे आपके बनाए हुए सब नक्षत्र भी चला करेंगे ॥२३॥

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा सर्वदेवैरभिष्टुतः ।
ऋषिभिश्च महातेजा बाढमित्याह देवताः ॥२४॥

देवताओं ने धर्मात्मा विश्वामित्र जी से इस प्रकार कहा और उनकी स्तुति की। विश्वामित्र जी ने भी उनकी (देवताओं की) बात मान ली ॥२४॥

ततो देवा महात्मानो मुनयश्च तपोधनाः ।
जग्मुर्यथागतं सर्वे यज्ञस्यान्ते नरोत्तम ॥२५॥

इति षष्टितमः सर्गः॥

हे राम! उस यज्ञ में जो देवता और तपस्वी ऋषि आए थे वे यज्ञ की समाप्ति हो चुकने पर, अपने अपने स्थानों को चले गए ॥२५॥

बालकाण्ड का साठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

एकषष्टितमः सर्गः

—:o:—

विश्वामित्रो महात्माथ प्रस्थितान् प्रेक्ष्य तानृषीन् ।
अब्रवीन्नरशार्दूलः सर्वास्तान् वनवासिनः ॥१॥

हे राम! नरशार्दूल महात्मा विश्वामित्र जी ने उन ऋषियों को जाते हुए देख कर, उन तपोवन वासियों से कहा ॥१॥

महान् विघ्नः प्रवृत्तोऽयं दक्षिणामास्थितो दिशम् ।
दिशमन्यां प्रपत्स्यामस्तत्र तप्स्यामहे तपः ॥२॥

इस दक्षिण दिशा में रहने से मेरी तपस्या में यह एक बड़ा विघ्न पड़ा। अत. अन्य किसी दिशा में जा कर, मैं अब तप करूँगा ॥२॥

पश्चिमायां विशालायां पुष्करेषु महात्मनः ।
सुखं तपश्चरिष्यामो वरं तद्धि तपोवनम् ॥३॥

विशाल पश्चिम दिशा में, जहाँ पुष्कर आनन्द तीर्थ है और जिसके समीप बहुत अच्छा तपोवन है, वहीं जा कर मैं आनन्द से तप करूँगा ॥३॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुष्करेषु महामुनिः ।
तप उग्रं दुराधर्षं तेपे मूलफलाशनः ॥४॥

यह कह विश्वामित्र जी पुष्कर को चले गए और वहाँ पहुँच कर और फल फूल खा कर, वे उग्र तप करने लगे ॥४॥

एतस्मिन्नेव काले तु अयोध्याधिपतिर्नृपः ।
अम्बरीष इति ख्यातो यष्टुं समुपचक्रमे ॥५॥

इसी बीच में अयोध्या के अम्बरीष नामक राजा ने, यज्ञ करना आरम्भ किया ॥५॥

तस्य वै यजमानस्य पशुमिन्द्रो जहार ह ।
प्रणष्टे तु पशौ विप्रो राजानमिदमब्रवीत् ॥६॥

उस राजा के यज्ञ-पशु को इन्द्र चुरा कर ले गए। पशु के इस प्रकार नष्ट होने पर पुरोहित ने राजा से कहा ॥६॥

पशुरद्य हृतो राजन् प्रणष्टस्तव दुर्नयात् ।
अरक्षितारं राजानं घ्नन्ति दोषा नरेश्वर ॥७॥

हे राजन्! आज यज्ञपशु चोरी हो गया है, सो तुम्हारी अनवधानता ही से गया है। यह अच्छा नहीं हुआ। क्योंकि अरक्षित पशु के हरे जाने का दोष रक्षक ही के माथे रहता है ॥७॥

प्रायश्चित्तं महद्ध्येतन्नरं वा पुरुषर्षभ।

आनयस्व पशुं शीघ्रं यावत् कर्म प्रवर्तते ॥८॥

हे राजन्! अतएव यज्ञकर्म समाप्त होते होते या तो कोई दूसरा पशु लाइए अथवा गोधन दे कर कोई नर ही शीघ्र लाइए, जिससे इस विघ्न का प्रायश्चित्त हो ॥८॥

[टिप्पणी—इससे पता चलता है कि रामायण काल में गोधन सर्वश्रेष्ठ और बहुमूल्यवान समझा जाता था।]

उपाध्यायवचः श्रुत्वा स राजा पुरुषर्षभ।

अन्वियेय महाबुद्धिः पशुं गोभिः सहस्रशः ॥९॥

पुरोहित के वचन सुन, वह नरोत्तम बड़ा बुद्धिमान् राजा, सहस्रों गौएँ दे कर यज्ञपशु को ढूँढ़ने लगा ॥९॥

देशाञ्जनपदांस्तांस्तान् नगराणि वनानि च।

आश्रमाणि च पुण्यानि मार्गमाणो महीपतिः ॥१०॥

उन्होंने यज्ञपशु की तालाश में अनेक देश, नगर, जनपद, वन, आश्रम और तीर्थ मझा डाले ॥१०॥

स पुत्रसहितं तात सभार्यं रघुनन्दन।

[1]भृगुतुङ्गे* समासीनमृचीकं सन्ददर्श ह ॥११॥

पशु की तलाश करते करते, अम्बरीप ने भृगुतुङ्ग नामक किसी

---

* पाठान्तरे 'भृगुतुन्दे'।

१ भृगुतुङ्गे = भृगुतुङ्गाख्ये पर्वते। यह पर्वत वर्त्तमान राजपूताने में कहीं पर जान पड़ता है।

पर्वत के शृङ्ग पर भार्या और पुत्रों सहित बैठे हुए ऋचीक को देखा ॥११॥

तमुवाच महातेजाः प्रणम्याभिप्रसाद्य च ।
ब्रह्मर्षिं तपसा दीप्तं राजर्षिरमितप्रभः ॥१२॥

महाप्रतापी राजा ने मुनि को प्रणाम कर उन्हें अनेक प्रकार से प्रसन्न किया और तपस्या मे निरत ब्रह्मर्षि से ॥१२॥

पृष्ट्वा सर्वत्र कुशलमृचीकं तमिदं वचः ।
गवां शतसहस्रेण विक्रीणीषे सुतं यदि ॥१३॥
पशोरर्थे महाभाग कृतकृत्योऽस्मि भार्गव ।
सर्वे परिसृता देशा याज्ञीयं न लभे पशुम् ॥१४॥

कुशल-प्रश्न पूछा। तदनन्तर अम्बरीष ने ऋचीक से कहा कि, यदि आप एक लाख गौएँ ले कर अपने पुत्र को यज्ञपशु बनाने के लिए हमारे हाथ बेच डालते, तो मैं आपका बड़ा अनुगृहीत होता। सारे के सारे देश मझा डाले, न तो मेरे (पहले) यज्ञपशु ही का पता चला और न (दाम देने पर ही) कोई यज्ञपशु मिला ॥१३॥१४॥

दातुमर्हसि मूल्येन सुतमेकमितो मम ।
एवमुक्तो महातेजा ऋचीकस्त्वब्रवीद्वचः ॥१५॥

अतः आप मूल्य ले कर मुझे अपना एक पुत्र दे दीजिए। यह सुन महातेजस्वी ऋचीक बोले ॥१५॥

नाहं ज्येष्ठं नरश्रेष्ठं विक्रीणीयां कथञ्चन ।
ऋचीकस्य वचः श्रुत्वा तेषां माता महात्मनाम् ॥१६॥

हे राजन्! मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र को तो कभी न बेचूँगा। ऋचीक की यह बात सुन, उनके महात्मा पुत्रों की माता ॥१६॥

[टिप्पणी—श्लोक १२ में ऋचीक को ब्रह्मर्षि बतलाया है। ब्रह्मर्षि हो कर, गोधन के बदले अपने पुत्र को बेचने जैसे असत्कर्म का क्या समाधान हो सकता है? राजा जब स्पष्टतया कहता है कि उसे यज्ञपशु बनाने को ऋचीक के पुत्र की आवश्यकता है, तब भी पुत्र बेचने को तैयार होना ब्रह्मर्षि कहलाने वाले के योग्य कार्य नहीं कहा जा सकता। इस शङ्का का समाधान टीकाओं में अप्राप्त है।]

उवाच नरशार्दूलमम्बरीषमिदं वचः ।
अविक्रेयं सुतं ज्येष्ठं भगवानाह भार्गवः ॥१७॥

राजा अम्बरीष से यह बोली—मेरे पति महाभाग भार्गव ने कहा है कि, ज्येष्ठ पुत्र तो बेचा जा नहीं सकता (क्योंकि वह देव पितृ कर्म करने का अधिकारी है) ॥१७॥

ममापि दायितं विद्धि कनिष्ठं शुनकं नृप ।
तस्मात् कनीयसं पुत्रं न दास्ये तव पार्थिव ॥१८॥

हे राजन्! सब से छोटे पुत्र शुनक पर आप मेरी बड़ी प्रीति जाने, अतः उसे मैं आपको न दूँगी ॥१८॥

प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः ।
मातृणां च कनीयांसस्तस्माद्रक्षे कनीयसम् ॥१९॥

हे नरश्रेष्ठ, बड़ा पुत्र पिता को और सब से छोटा माता को प्रायः बहुत प्यारे होते हैं। अतः मैं छोटे को न दूँगी ॥१९॥

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन् मुनिपत्न्यां तथैव च ।
शुनःशेपः स्वयं राम मध्यमो वाक्यमब्रवीत् ॥२०॥

हे राम! मुनि और मुनिपत्नी की इस बातचीत को सुन, उनका मझला पुत्र शुनःशेप स्वयं राजा से बोला ॥२०॥

पिता ज्येष्ठमविक्रेयं माता चाह कनीयसम् ।
विक्रीतं मध्यमं मन्ये राजन् पुत्रं नयस्व माम् ॥२१॥

पिता जी बड़े को वेचा नहीं चाहते और माता छोटे को देना नहीं चाहती। इससे मझोले को वेचा हुआ समझ, आप मुझे ले चलिए ॥२१॥

गवां शतसहस्रेण शुनःशेपं नरेश्वरः ।
गृहीत्वा परमप्रीतो जगाम रघुनन्दन ॥२२॥

हे राम! यह सुन, राजा ने ऋचीक को एक लाख गौएं, दीं और शुनःशेप को ले कर, वहाँ से चला ॥२२॥

अम्बरीषस्तु राजर्षी रथमारोप्य सत्वरः ।
शुनःशेपं महातेजा जगामाशु महायशाः ॥२३॥

इति एकषष्टितमः सर्गः ॥

महातेजस्वी और महायशस्वी राजर्षि अम्बरीष शुनःशेप को रथ पर चढ़ा, वहां से शीघ्र रवाना हो गया ॥२३॥

वालकाण्ड का एकसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

द्विषष्टितमः सर्गः

—:o:—

शुनःशेपं नरश्रेष्ठ गृहीत्वा तु महायशाः ।
व्यश्राम्यत् पुष्करे राजा मध्याह्ने रघुनन्दन ॥१॥

हे राम! महायशा राजा अम्बरीष शुनःशेप को लिए हुए पुष्कर पहुँचे और दो पहर भर वहाँ विश्राम किया ॥१॥

तस्य विश्रममाणस्य शुनःशेपो महायशाः ।
पुष्करं श्रेष्ठ[1]मागम्य विश्वामित्रं ददर्श ह ॥२॥

जब राजा विश्राम कर रहे थे, तब अवसर पा शुनःशेप ने श्रेष्ठ पुष्कर जी में जा विश्वामित्र जी के दर्शन किए ॥२॥

तप्यन्तमृषिभिः सार्धं मातुलं परमातुरः ।
विषण्णवदनो दीनस्तृष्णया च श्रमेण च ॥३॥

ऋषियों के समूह में बैठ कर तप करते हुए अपने मामा (विश्वामित्र) को देख, उदास, प्यासा, थका हुआ और परमातुर ॥३॥

पपाताङ्के मुनौ राम वाक्यं चेदमुवाच ह ।
न मेऽस्ति माता न पिता ज्ञातयो बान्धवाः कुतः ॥४॥

शुनःशेप उनकी गोद में गिर पड़ा और बोला—जब मेरे माता और पिता ही नहीं हैं, तब जाति बिरादरी और भाई बन्धु हो ही कहाँ सकते हैं ॥४॥

त्रातुमर्हसि मां सौम्य धर्मेण मुनिपुङ्गव ।
त्राता त्वं हि मुनिश्रेष्ठ सर्वेषां त्वं हि भावनः[2] ॥५॥

हे सौम्य! हे मुनिराज! मैं शरणागत धर्म की दुहाई देता हूँ, मुझे बचाइए! मेरी ही क्यों? शरण आने पर आप समस्त संसार की रक्षा कर सकते हैं ॥५॥

राजा च कृतकार्यः स्यादहं दीर्घायुरव्ययः ।
स्वर्गलोकमुपाश्नीयां तपस्तप्त्वा ह्यनुत्तमम् ॥६॥

---

१ पाठान्तरे पुष्कर ज्येष्ठ । (रा०) पुष्करक्षेत्र। (गो०)
२ भावनः = हितप्रापकः (गो०)

अतः ऐसा कीजिए जिससे राजा का तो यज्ञ निर्विघ्न पूरा हो जाय और मैं बहुत दिनों तक जीवित रहूँ और उत्तम तपस्या कर अन्त में स्वर्ग जाऊँ ॥६॥

त्वं मे नाथो ह्यनाथस्य भव भन्येन चेतसा ।
पितेव पुत्रं धर्मज्ञ त्रातुमर्हसि किल्बिषात् ॥७॥

आप मुझ अनाथ के नाथ हो कर जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है,। उसी प्रकार आप मेरी भी इस सङ्कट से रक्षा कीजिए ॥७॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महातपाः ।
सान्त्वयित्वा बहुविधं पुत्रानिदमुवाच ह ॥८॥

शुनःशेप के ऐसे दीन वचन सुन, विश्वामित्र जी ने उसे बहुत कुछ सान्त्वना दी और अपने पुत्रों से बोले ॥८॥

यत्कृते पितरः पुत्राञ्जनयन्ति शुभार्थिनः ।
परलोकहितार्थाय तस्य कालोऽयमागतः ॥९॥

हे पुत्रो ! जिस परलोक के प्रयोजन के लिए पिता सत्पुत्रों को उत्पन्न करते हैं, उसका समय आ पहुँचा ॥९॥

अयं मुनिसुतो बालो मत्तः शरणमिच्छति ।
अस्य जीवितमात्रेण प्रियं कुरुत पुत्रकाः ॥१०॥

हे पुत्रो ! यह ऋचीक मुनि का पुत्र है। अभी बच्चा है और हमारे शरण में आया है। इसके प्राणों की रक्षा कर हमारा प्रिय कार्य करो ॥१०॥

सर्वे सुकृतकर्माणः सर्वे धर्मपरायणाः ।
पशुभूता नरेन्द्रस्य तृप्तिमग्नेः प्रयच्छत ॥११॥

तुम सब पुण्यात्मा और धर्मात्मा हो। अतः तुम लोग स्वयं राजा के यज्ञपशु बनकर अग्निदेव को तृप्त करो ॥११॥

नाथवांश्च शुनःशेपो यज्ञश्चाविघ्नतो भवेत् ।
देवतास्तर्पिताश्च स्युर्मम चापि कृतं वचः ॥१२॥

ऐसा करने से शुनःशेप के प्राण बच जायँगे, राजा का यज्ञ भी निर्विघ्न पूरा हो जायगा, देवता सन्तुष्ट होंगे और मेरी बात भी रह जायगी ॥१२॥

मुनेस्तु वचनं श्रुत्वा मधुच्छन्दादयः सुताः ।
साभिमानं नरश्रेष्ठ सलीलमिदमब्रुवन् ॥१३॥

विश्वामित्र जी के ये वचन सुन, उनके मधुछन्दादि पुत्र अभिमान सहित (अपने पिता का) उपहास करते हुए यह बोले ॥१३॥

कथमात्मसुतान् हत्वा त्रायसेऽन्यसुतं विभो ।
अकार्यमिव पश्यामः श्वमांसमिव भोजने ॥१४॥

हे महाराज ! आप अपने पुत्रों को छोड़, अन्य के पुत्र की रक्षा क्यों करते हैं ? यह तो वैसा ही कर्म है, जैसा कि सुन्दर भोज्य पदार्थों को छोड कुत्ते का मांस खाना। अथवा आपका यह कार्य उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार कुत्ते का मांस खाना अनुचित है ॥१४॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा पुत्राणां मुनिपुङ्गवः ।
क्रोधसंरक्तनयनो व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥१५॥

अपने पुत्रों की ये बातें सुन, क्रोध से लाल-लाल आंखें कर, विश्वामित्र जी उनसे कहने लगे ॥१५॥

निःसाध्वसमिदं प्रोक्तं धर्मादपि विगर्हितम् ।
अतिक्रम्य तु मद्वाक्यं दारुणं रोमहर्षणम् ॥१६॥

तुम्हारा यह कहना उद्दण्डतापूर्ण, धर्म की दृष्टि से भी भ्रष्ट, और पितृभक्तिरहित होने के कारण दारुण (कठोर) है, अतएव रोमाञ्चकारी और मेरी अवज्ञा करने वाला है ॥१६॥

श्वमांसभोजिनः सर्वे वासिष्ठा इव जातिषु ।
पूर्णं वर्षसहस्रं तु पृथिव्यामनुवत्स्यथ ॥१७॥

अतः तुम लोग भी वसिष्ठ जी के पुत्रों की तरह चण्डाल हो कर और कुत्तों का मांस खाते हुए पूरे एक हज़ार वर्ष तक पृथिवी पर घूमोगे ॥१७॥

[टिप्पणी—आधुनिक चाण्डालों मे कुछ तो अवश्य ही विश्वामित्र वंशीय होंगे ।]

कृत्वा शापसमायुक्तान् पुत्रान् मुनिवरस्तदा ।
शुनःशेपमुवाचार्तं कृत्वा रक्षां निरामयाम् ॥१८॥

इस प्रकार मुनिवर अपने पुत्रों को शाप दे, सब प्रकार से शुनःशेप की रक्षा कर, उससे बोले ॥१८॥

पवित्रपाशैरासक्तो रक्तमाल्यानुलेपनः ।
वैष्णवं यूपमासाद्य वाग्भिरग्निमुदाहर ॥१९॥

इमे च गाथे द्वे दिव्ये गायेथा मुनिपुत्रक ।
अम्बरीषस्य यज्ञेऽस्मिंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥२०॥

हे मुनिपुत्र ! जब तुम अम्बरीष के यज्ञ में पवित्र फाँसी से, वैष्णवस्तम्भ मे, लाल माला लाल चन्दन से सजा कर बाँधे

जाओ, तब तुम इन दो मन्त्रों से स्तुति करना। इससे तुम्हारा काम हो जायगा अर्थात् तुम बच जाओगे ॥१६॥२०॥

शुनःशेपो गृहीत्वा ते द्वे गाथे सुसमाहितः ।
त्वरया राजसिंहं तमम्बरीषमुवाच ह ॥२१॥

शुनःशेप ने बड़ी सावधानी से उन दोनों मन्त्रों को याद कर लिया और फिर तुरन्त अम्बरीष से जा कर कहा, ॥२१॥

राजसिंह महासत्त्व शीघ्रं गच्छावहे सदः ।
निर्वर्तयस्व राजेन्द्र दीक्षां च समुपाविश ॥२२॥

हे महाबलवान् राजसिंह ! चलिए, अब शीघ्र चलें और पहुँच कर आप यज्ञदीक्षा ले, अपना यज्ञ पूरा कीजिए ॥२२॥

तद्वाक्यमृषिपुत्रस्य श्रुत्वा हर्षसमुत्सुकः ।
जगाम नृपतिः शीघ्रं यज्ञवाटमतन्द्रितः ॥२३॥

ऋषिपुत्र का वचन सुन, राजा परमहर्षित हो तुरन्त अपनी यज्ञशाला को गया ॥२३॥

सदस्यानुमते राजा पवित्रकृतलक्षणम् ।
पशुं रक्ताम्बरं कृत्वा यूपे तं समबन्धयत् ॥२४॥

फिर यज्ञ कराने वालों की सम्मति से राजा ने उस शुनः-शेप को पशु बना और लाल कपड़े पहना, खम्भे में बाँध दिया ॥२४॥

स बद्धो वाग्भिरग्र्याभिरभितुष्टाव वै सुरौ ।
इन्द्रमिन्द्रानुजं चैव यथावन्मुनिपुत्रकः ॥२५॥

तव बँधे हुए शुन.शेप ने विश्वामित्र जी के बतलाए हुए मन्त्रों से इन्द्र और उपेन्द्र की यथावत् स्तुति की ॥२५॥

ततः प्रीतः सहस्राक्षो रहस्यस्तुतितर्पितः ।
दीर्घमायुस्तदा प्रादाच्छुनःशेपाय वासवः ॥२६॥

शुन शेप की मन ही मन कही हुई स्तुति को सुन, इन्द्र उस पर प्रसन्न हो गए और इन्द्र ने उसे दीर्घजीवी होने का वरदान दिया ॥२६॥

स च राजा नरश्रेष्ठ यज्ञस्यान्तमवाप्तवान् ।
फलं बहुगुणं राम सहस्राक्षप्रसादजम् ॥२७॥

हे राम ! नरश्रेष्ठ राजा ने भी यज्ञ समाप्त कर, इन्द्र की कृपा से अनेक प्रकार के वरदान पाए ॥२७॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा भूयस्तेपे महातपाः ।
पुष्करेषु नरश्रेष्ठ दशवर्षशतानि च ॥२८॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः ॥

हे राजन् ! धर्मात्मा विश्वामित्र ने भी पुनः पुष्करक्षेत्र में दस हज़ार वर्षों तक अच्छी तरह तप किया ॥२८॥

बालकाण्ड का बासठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:#:—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—:०:—

पूर्णे वर्षसहस्रे तु व्रतस्नातं[1] महामुनिम् ।
अभ्यागच्छन् सुराः सर्वे तपःफलचिकीर्षवः[2] ॥१॥

विश्वामित्र जी को तप करते हुए जब पूरे एक हज़ार वर्ष बीत गए, (अथवा जब उनका पुरश्चरण पूरा हुआ), तब सब देवता उनको उनके तप का फल स्वरूप वर देने की इच्छा से आए ॥१॥

अब्रवीत् सुमहातेजा ब्रह्मा सुरुचिरं वचः ।
ऋषिस्त्वमसि भद्रं ते स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः ॥२॥

उनमें परमतेजस्वी ब्रह्मा जी परम रुचिकर यह वचन बोले कि, हे विश्वामित्र ! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम अपने उपार्जित शुभ कर्मों द्वारा ऋषि हुए। (अर्थात् अभी तुमको ब्रह्मर्षिपद अथवा ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं) ॥२॥

[टिप्पणी—जो लोग केवल कर्म द्वारा वर्णव्यवस्था की व्यवस्था मानते हैं और अपने तर्क की पुष्टि में विश्वामित्र का उदाहरण देते हैं, उन्हें उचित है कि, वे इस बात पर भी जरा ध्यान दें कि, विश्वामित्र जी को अपने जन्मजात क्षत्रियत्व को छुड़ा कर, ब्रह्मत्व प्राप्त करने में कितने दिनों तक और कैसा कठोर तप करना पड़ा था और कितनी लाञ्छनाएँ भोगनी पड़ी थीं ।]

तमेवमुक्त्वा देवेशस्त्रिदिवं पुनरभ्यगात् ।
विश्वामित्रो महातेजा भूयस्तेपे महत्तपः ॥३॥

---

१ व्रतस्नात—व्रतान्ते स्नात समाप्तपुरश्चरणमितियावत् । (गो०) २ तप फलचिकीर्षव.—तपःफल दातुमिच्छव । (गो०)

यह कह ब्रह्मादि देवता अपने अपने लोकों को लौट गए और विश्वामित्र जी पुनः तप करने लगे ॥३॥

ततः कालेन महता मेनका परमाप्सराः ।
पुष्करेषु नरश्रेष्ठ स्नातुं समुपचक्रमे ॥४॥

जब तप करते करते उन्हें बहुत दिन हो गए, तब एक दिन मेनका नाम की एक अप्सरा पुष्कर में स्नान करने की इच्छा से वहाँ आई ॥४॥

तां ददर्श महातेजा मेनकां कुशिकात्मजः ।
रूपेणाप्रतिमां तत्र विद्युतं जलदे यथा ॥५॥

मेघ में चमकती हुई बिजली की तरह मेनका के सौन्दर्य को देख, महातपस्वी विश्वामित्र ॥५॥

कन्दर्पदर्पवशगो मुनिस्तामिदमब्रवीत् ।
अप्सरः स्वागतं तेऽस्तु वस चेह ममाश्रमे ॥६॥

मुनि कामासक्त हो, उससे यह बोले—हे अप्सरा ! मैं तेरा स्वागत करता हूँ । मेरे इस आश्रम में रह ॥६॥

अनुगृह्णीष्व भद्रं ते मदनेन सुमोहितम् ।
इत्युक्ता सा वरारोहा तत्र वासमथाकरोत् ॥७॥

तेरा मङ्गल हो, तू मेरे ऊपर अनुग्रह कर । क्योंकि मैं तुझे देख कामासक्त हो गया हूँ । यह सुन वह सुन्दरी मेनका ऋषि जी के आश्रम में रहने लगी ॥७॥

[टिप्पणी—व्यासस्मृति में लिखा है—बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति-इन्द्रियाँ बड़े बड़े पण्डितों को भी अपने वश में कर लेती हैं । विश्वामित्र ने फलमूल खाकर सहस्रों वर्षों कठोर तप किया; किन्तु मेनका को देखते ही काम वशवर्त्ती हो गए !]

तपसो हि महाविघ्नो विश्वामित्रमुपागतः ।
तस्यां वसन्त्यां वर्षाणि पञ्च पञ्च च राघव ॥८॥

वहाँ आश्रम में मेनका के रहने के कारण, विश्वामित्र जी की तपस्या में बड़ा भारी विघ्न पड़ा। हे राघव! मेनका अप्सरा दस वर्ष तक ॥८॥

विश्वामित्राश्रमे तस्मिन् सुखेन व्यतिचक्रमुः ।
अथ काले गते तस्मिन् विश्वामित्रो महामुनिः ॥९॥

विश्वामित्र के उस आश्रम में सुखपूर्वक रही। (अर्थात् मुनिराज विश्वामित्र ने उसके साथ भोग विलास कर बात की बात में दस वर्ष निकाल दिए।) तदनन्तर दस वर्ष बीतने पर महर्षि विश्वामित्र जी ॥९॥

सव्रीड इव संवृत्तश्चिन्ताशोकपरायणः ।
बुद्धिर्मुनेः समुत्पन्ना सामर्षा रघुनन्दन ॥१०॥

(अपनी इस भूल पर) लज्जित हुए और चिन्ता में पड़ कर बहुत दुःखी हुए। हे रघुनन्दन! जब विश्वामित्र जी ने इसका कारण विचारा, तब उनकी समझ मे क्रोधपूर्वक यह आया कि, ॥१०॥

सर्वं सुराणां कर्मैतत्तपोपहरणं महत् ।
अहोरात्रापदेशेन गताः संवत्सरा दश ॥११॥

मेरे इस चिरकालीन तप को हरण करने के लिए यह सब देवताओं की करतूत है। उन्होंने यह विघ्न डाला है। अरे! दस वर्ष बीत गए, किन्तु मुझे जान पड़ता है, मानो अभी केवल एक रात्रि ही बीती है ॥११॥

कामक्रोधाभिभूतस्य विघ्नोऽयं प्रत्युपस्थितः ।
विनिःश्वसन् मुनिवरः पश्चात्तापेन दुःखितः ॥१२॥

हा ! कामासक्त होने के कारण मेरे तप में बड़ा भारी विघ्न पड़ा ! महर्षि जी यह कह और बार बार ऊँची साँसें ले, पछता कर दुःखी हुए ॥१२॥

भीतामप्सरसं दृष्ट्वा वेपन्तीं प्राञ्जलिं स्थिताम् ।
मेनकां मधुरैर्वाक्यैर्विसृज्य कुशिकात्मजः ॥१३॥

शाप के डर से थरथराती और हाथ जोड़े खड़ी हुई मेनका को देख, विश्वामित्र जी ने, मीठे वचन कह कर उसे विदा किया ॥१३॥

उत्तरं पर्वतं राम विश्वामित्रो जगाम ह ।
स कृत्वा नैष्ठिकीं[1] बुद्धिं जेतुकामो महायशाः ॥१४॥

हे राम ! तदनन्तर विश्वामित्र जी (पुष्करक्षेत्र को छोड़) उत्तर दिशा में पर्वत पर अर्थात् हिमालय पर चले गए और व्रत समाप्त होने तक काम को जीतने की इच्छा से, महायशा विश्वामित्र ॥१४॥

कौशिकीतीरमासाद्य तपस्तेपे सुदारुणम् ।
तस्य वर्षसहस्राणि घोरं तप उपासतः ॥१५॥

कौशिकी नदी के तट पर जा फिर उग्र तपस्या करने लगे। जब उनको वहाँ उग्र तप करते करते एक हजार वर्ष बीत गए ॥१५॥

उत्तरे पर्वते राम देवतानामभूद्भयम् ।
अमन्त्रयन् समागम्य सर्वे सर्षिगणाः सुरा ॥१६॥

---

१ नैष्ठिकीं व्रतसमापनपर्यन्ताम् । (गो०)

तब हे राम! हिमालय पर्वत पर तप करने से देवता लोग बहुत डरे और सब देवर्षि और देवता सम्मति कर, ब्रह्मा जी के पास जा कर बोले ॥१६॥

महर्षिशब्दं लभतां साध्वयं कुशिकात्मजः ।
देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः ॥१७॥

अब विश्वामित्र को "महर्षि" की पदवी प्रदान कीजिए। देवताओं का यह वचन सुन ब्रह्मा जी ने ॥१७॥

अब्रवीन् मधुरं वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम् ।
महर्षे स्वागतं वत्स तपसोग्रेण तोषितः ॥१८॥

तपस्वी विश्वामित्र जी के पास जा उनसे मीठे वचनों में कहा—हे विश्वामित्र! तुम बहुत अच्छे हो (भले हो), तुम्हारी उग्र तपस्या से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ ॥१८॥

महत्त्वमृषिमुख्यत्वं ददामि तव सुव्रत ।
ब्रह्मणः स वचः श्रुत्वा विश्वामित्रस्तपोधनः ॥१९॥

और तुमको ऋषियों में मुख्य होने का आशीर्वाद देता हूँ। ब्रह्मा जी के वचन सुन तपोधन विश्वामित्र जी ॥१९॥

प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम् ।
ब्रह्मर्षिशब्दमतुलं स्वार्जितः कर्मभिः शुभैः ॥२०॥

हाथ जोड़ और प्रणाम कर ब्रह्मा जी से बोले—मैंने तो तपस्या अतुलित ब्रह्मर्षिपद प्राप्त करने के लिए की थी ॥२०॥

यदि मे भगवानाह ततोऽहं विजितेन्द्रियः ।
तमुवाच ततो ब्रह्मा न तावत्त्वं जितेन्द्रियः ॥२१॥

यदि आप मुझे महर्षि ही कहते हैं तो मैं समझता हूँ कि मैं जितेन्द्रिय नहीं हूँ। (तभी तो आप मेरा अभीष्ट ब्रह्मर्षिपद प्रदान

नहीं करते और महर्षि मुझे कहते हैं) इस पर ब्रह्मा जी ने कहा—हां, अभी तक तुम (सचमुच) जितेन्द्रिय नहीं हो पाए ॥२१॥

यतस्व मुनिशार्दूल इत्युक्त्वा त्रिदिवं गतः ।
विप्रस्थितेषु देवेषु विश्वामित्रो महामुनिः ॥२२॥

हे मुनिशार्दूल ! अभी और तप करो। यह कह ब्रह्मा जी स्वर्ग को चले गए। सब देवताओं के यथास्थान चले जाने पर, महर्षि विश्वामित्र जी ॥२२॥

ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बो वायुभक्षस्तपश्चरन् ।
घर्मे पञ्चतपा भूत्वा वर्षास्वाकाशसंश्रयः ॥२३॥

बिना सहारे ऊपर को बाँह उठाए और केवल वायु से पेट भर कर, तप करने लगे। गर्मी में वे पञ्चाग्नि तपते, वर्षाऋतु में छायादार जगह से निकल, खुले मैदान में बैठते ॥२३॥

शिशिरे सलिलस्थायी रात्र्यहानि तपोधनः ।
एवं वर्षसहस्रं हि तपो घोरमुपागमत् ॥२४॥

जाड़ों में दिन-रात वे जल के भीतर खड़े रहते थे। इस प्रकार उन्होंने एक हज़ार वर्षों तक उग्र तप किया ॥२४॥

तस्मिन् सन्तप्यमाने तु विश्वामित्रे महामुनौ ।
सम्भ्रमः सुमहानासीन् सुराणां वासवस्य च ॥२५॥

महर्षि विश्वामित्र के इस प्रकार तप करने से इन्द्र सहित समस्त देवताओं में बड़ी खलबली मची। वे लोग बहुत घब-ड़ाए ॥२५॥

रम्भामप्सरसं शक्रः सह सर्वैर्मरुद्गणैः ।
उवाचात्महितं वाक्यमहितं कौशिकस्य च ॥२६॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

तदनन्तर देवराज इन्द्र सब देवताओं सहित रंभा अप्सरा से अपने हित और विश्वामित्र के अनहित की यह बात बोले ॥२६॥

बालकाण्ड का त्रिसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

चतुःषष्टितमः सर्गः

—:※:—

सुरकार्यमिदं रम्भे कर्तव्यं सुमहत्त्वया ।
लोभनं कौशिकस्येह काममोहसमन्वितम् ॥१॥

हे रम्भे ! देवताओं का यह बड़ा भारी काम है कि, विश्वामित्र को कामासक्त करना (जिससे वे तपस्या से विमुख हों) ॥१॥

तथोक्ता साऽप्सरा राम सहस्राक्षेण धीमता ।
व्रीडिता प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रत्युवाच सुरेश्वरम् ॥२॥

हे राम ! जब इन्द्र ने रम्भा से यह कहा, तब वह बहुत लज्जित हुई और हाथ जोड़ कर इन्द्र से बोली ॥२॥

अयं सुरपते घोरो विश्वामित्रो महामुनिः ।
क्रोधमुत्स्रक्ष्यते घोरं मयि देव न संशयः ॥३॥

हे इन्द्र ! यह विश्वामित्र बड़े क्रोधी हैं । जैसे ही मैं उनके पास गई कि, वे अत्यन्त क्रुद्ध हो, निश्चय ही शाप देंगे ॥३॥

ततो हि मे भयं देव प्रसादं[1] कर्तुमर्हसि ।
एवमुक्तस्तया राम रम्भया भीतया तया ॥४॥

इसी लिए मैं उनके समीप जाती हुई बहुत डरती हूँ। आप कृपया मुझे वहाँ न भेजिए। हे राम! उस डरी हुई रम्भा के यह कहने पर ॥४॥

तामुवाच सहस्राक्षो वेपमानां कृताञ्जलिम् ।
मा भैषि रम्भे भद्रं ते कुरुष्व मम शासनम् ॥५॥

इन्द्र ने (भय से) थर थर काँपती हुई और हाथ जोड़े खड़ी हुई रम्भा से कहा—डरो मत ; तेरा मङ्गल हो। मेरी आज्ञा मान ॥५॥

कोकिलो हृदयग्राही माधवे रुचिरद्रुमे ।
अहं कन्दर्पसहितः स्थास्यामि तव पार्श्वतः ॥६॥

मैं स्वयं वसन्तऋतु मे, मनोहर कुहुक करने वाला कोकिल पक्षी वन कर, कामदेव सहित ।किसी सुन्दर वृक्ष के ऊपर, तेरे आस पास ही रहूँगा ॥६॥

त्वं हि रूपं बहुगुणं कृत्वा परमभास्वरम् ।
तमृर्षि कौशिकं रम्भे भेदयस्व[2] तपोधनम् ॥७॥

हे रम्भे! तू अपना बड़ा सुन्दर और चटकीला भड़कीला शृङ्गार कर, उन तपस्वी विश्वामित्र का मन (तप से) चलायमान करना ॥७॥

---

[1] प्रसादं—नियोगनिवृत्तिरूपम् । (गो०) [2] भेदयस्व—चलचित्तं कारय । (गो०)

सा श्रुत्वा वचनं तस्य कृत्वा रूपमनुत्तमम् ।
लोभयामास ललिता[1] विश्वामित्रं शुचिस्मिता ॥८॥

इन्द्र के इस प्रकार समझाने पर वह सुन्दरी अपना शृङ्गार कर और मन्द मन्द मुसक्याती हुई, विश्वामित्र के मन को लुभाने लगी ॥८॥

कोकिलस्य स शुश्राव वल्गु[2] व्याहरतः स्वनम् ।
सम्प्रहृष्टेन मनसा तत चनामुदैक्षत ॥९॥

उस समय विश्वामित्र जी कोकिल का मधुर कुहकना सुन और प्रसन्न हो, रम्भा की ओर देखने लगे ॥९॥

अथ तस्य च शब्देन गीतेनाप्रतिमेन च ।
दर्शनेन च रम्भाया मुनिः सन्देहमागतः ॥१०॥

(परन्तु) उस कोकिल की कुहुक तथा रम्भा का मनोहारी गाना सुन और उसको देख, विश्वामित्र जी के मन में सन्देह उत्पन्न हो गया ॥१०॥

सहस्राक्षस्य तत्कर्म विज्ञाय मुनिपुङ्गवः ।
रम्भां क्रोधसमाविष्टः शशाप कौशिकात्मजः ॥११॥

और यह जान कर कि, यह सब नटखटी इन्द्र की है, विश्वामित्र जी बहुत क्रुद्ध हुए और रम्भा को यह शाप दिया ॥११॥

यन्मां लोभयसे रम्भे कामक्रोधजयैषिणम् ।
दश वर्षसहस्राणि शैली स्थास्यसि दुर्भगे ॥१२॥

---

१ ललिता—सुन्दरी । (गो०) २ वल्गु—मनोहरम् । (गो०)

हे रम्भे ! काम-क्रोध को अपने वश में करने की इच्छा रखने वाले मुझे जो तू लुभाती है, सो हे दुर्भगे ! (अभागिनी) तू दस हज़ार वर्ष तक शिला हो कर रहेगी ॥१२॥

ब्राह्मणः सुमहातेजास्तपोबलसमन्वितः ।
उद्धरिष्यति रम्भे त्वां मत्क्रोधकलुषीकृताम् ॥१३॥

हे रम्भे ! फिर कोई बड़ा तेजस्वी एवं तपस्वी ब्राह्मण तुझ पापरूपिणी को, मेरे कोप से अर्थात् शाप से उबारेगा ॥१३॥

एवमुक्त्वा महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।
अशक्नुवन् धारयितुं क्रोधं सन्तापमागतः ॥१४॥

महर्षि विश्वामित्र यह शाप देने के अनन्तर, क्रोध को रोक न सकने के लिए, पछताए। (इसलिए कि क्रोधातुर हो कर शाप देने से उनका तपोबल, जो उन्होंने उग्र तप कर सम्पादन किया था, नष्ट हो गया । इन्द्र यही चाहते भी थे ।) ॥१४॥

तस्य शापेन महता रम्भा शैली तदाऽभवत् ।
वचः श्रुत्वा च कन्दर्पो महर्षेः स च[1] निर्गतः ॥१५॥

विश्वामित्र जी के उस महाशाप से रम्भा शिला हो गई और महर्षि विश्वामित्र के क्रोधयुक्त वचन सुन कामदेव और इन्द्र वहां से चले गये ॥१५॥

कोपेन सुमहातेजास्तपोपहरणे कृते ।
इन्द्रियैरजितै राम न लेभे शान्तिमात्मनः[2] ॥१६॥

---

१ स च—इन्द्रश्च । (गो०) २ आत्मनः—मनस । (गो०)

हे राम ! कोप करने से महातेजस्वी विश्वामित्र का तप नष्ट होगया। वे अपनी इन्द्रियों को अपने वश में न रख सके, इस लए उनके मन को शान्ति न मिली ॥१६॥

बभूवास्य मनश्चिन्ता[१] तपोपहरणे कृते ।
नैव क्रोधं गमिष्यामि न च वक्ष्यामि किञ्चन ॥१७॥

बल्कि उन्होंने तप के नष्ट होने पर, प्रतिज्ञा की कि, आगे कभी न तो किसी पर क्रोध करूँगा और न किसी से कुछ बात-चीत ही करूँगा ॥१७॥

अथवा नोच्छ्वसिष्यामि संवत्सरशतान्यपि ।
अहं विशोषयिष्यामि ह्यात्मानं विजितेन्द्रियः ॥१८॥

इतना ही नहीं, बल्कि मैं सैकड़ों वर्षों तक साँस भी न लूँगा। इस प्रकार इन्द्रियों को जीतने के लिए मैं अपने शरीर को सुखा डालूँगा और इन्द्रियों को अपने वश में करूँगा ॥१८॥

तावद्यावद्धि मे प्राप्तं ब्राह्मण्यं तपसार्जितम् ।
अनुच्छ्वसन्नभुञ्जानस्तिष्ठेयं शाश्वतीः समाः ॥१९॥

जब तक तपोबल से मुझे ब्राह्मणत्व प्राप्त न होगा तब तक कितना ही समय क्यों न लगे, मैं न तो साँस ही लूँगा और न फलूँगा और सदा ही खड़ा रहूँगा ॥१९॥

---

१ मनश्चिन्ता—सङ्कल्पः। (गो०)

न हि मे तप्यमानस्य क्षयं यास्यन्ति मूर्तयः[1] ।
एवं वर्षसहस्रस्य दीक्षां[2] स मुनिपुङ्गवः ।
चकाराप्रतिमां[3] लोके प्रतिज्ञां रघुनन्दन ॥२०॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

मुझे इस वात का तो भय ही नहीं है कि, भोजन न करने या साँस न लेने अथवा सदैव खड़े रहने से मेरे शरीर के अवयव क्षीण हो जाँयगे। हे रघुनन्दन ! महर्षिवर विश्वामित्र ने एक हज़ार वर्षों तक उक्त विधि से (साँस न ले कर, भोजन न कर के, मौनी हो कर, खड़े रह कर) तप करने का अतुल सङ्कल्प किया ॥२०॥

वालकाण्ड का चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

पंचषष्टितमः सर्गः

—:*:—

अथ हैमवतीं[4] राम दिशं त्यक्त्वा महामुनिः ।
पूर्वां दिशमनुप्राप्य तपस्तेपे सुदारुणम् ॥१॥

तदनन्तर महर्षि विश्वामित्र उत्तर दिशा को त्याग कर और पूर्व दिशा में जा कर, फिर उग्र तप करने लगे ॥१॥

मूर्तय.—शरीरावयवाः। (गो०) २ दीक्षा—अनुच्छ्वासाभोजनसङ्कल्पम्। (गो०) ३ अप्रतिमां—निस्तुला। (गो०) ४ हैमवतीं—उत्तराम्। (रा०)

मौनं वर्षसहस्रस्य कृत्वा व्रतमनुत्तमम् ।
चकाराप्रतिमं राम तपः परमदुष्करम् ॥२॥

हे राम! उन्होंने, एक हज़ार वर्षों तक मौनव्रत धारण कर परम दुष्कर अतुलित तप किया ॥२॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु काष्ठभूतं महामुनिम् ।
विघ्नैर्बहुभिराधूतं क्रोधो नान्तरमाविशत् ॥३॥

यहाँ तक कि, जब एक हज़ार वर्ष पूरे हुए, तब विश्वामित्र जी का शरीर काठ की तरह हो गया। इस बीच में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित हुए, किन्तु मुनिराज के अन्तःकरण में क्रोध उत्पन्न न हुआ ॥३॥

स कृत्वा निश्चयं राम तप आतिष्ठदव्ययम् ।
तस्य वर्षसहस्रस्य व्रते पूर्णे महाव्रतः ॥४॥

हे राम! जब विश्वामित्र जी को निश्चय हो गया कि, उन्होंने क्रोध को जीत लिया और उनका एक हज़ार वर्ष तप करने का सङ्कल्प पूरा हो गया ॥४॥

भोक्तुमारब्धवानन्नं तस्मिन् काले रघूत्तम ।
इन्द्रो द्विजातिर्भूत्वा तं सिद्धमन्नमयाचत ॥५॥

हे राघव! तब वे अन्न भोजन करने को बैठे। उसी समय इन्द्र ब्राह्मण का रूप धर कर आए और विश्वामित्र की थाली में परोसे हुए भोज्य पदार्थों के लिए उनसे याचना की ॥५॥

तस्मै दत्त्वा तदा सिद्धं सर्वं विप्राय निश्चितः ।
निःशेषितेऽन्ने भगवानभुक्त्वैव महातपाः ॥६॥

भोजन के लिए जो अन्न तैयार हुआ था वह सब का सब उठा कर, उन्होंने इन्द्र को सचमुच ब्राह्मण जान दे दिया। स्वयं बिना खाए ही रह गए ॥६॥

न किञ्चिदवदद्विप्रं मौनव्रतमुपास्थितः।
अथ वर्षसहस्रं वै नोच्छ्वसन् मुनिपुङ्गवः ॥७॥

किन्तु ब्राह्मण से कुछ भी न कहा, क्योंकि वे मौनव्रत धारण किए हुए थे। तदनन्तर फिर उन्होंने एक हज़ार वर्ष तक साँस रोक कर तप करना आरम्भ किया ॥७॥

तस्यानुच्छ्वसमानस्य मूर्ध्नि धूमो व्यजायत।
त्रैलोक्यं येन सम्भ्रान्तमादीपित[1]मिवाभवत् ॥८॥

साँस रोक कर रखने से (अर्थात् कुम्भक करने से) उनके सिर से धुआँ निकलने लगा। इससे तीनों लोकवासी घबड़ा उठे और तीनों लोक तप्त हो गए ॥८॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः पन्नगोरगराक्षसाः।
[2]मोहितास्तेजसा तस्य तपसा मन्दरश्मयः ॥९॥

तब तो देवता, गन्धर्व, सर्प, नाग और राक्षस सब ही उनके तप रूपी अग्नि से मूर्च्छित हो गए और उनके तेज मन्द पड़ गए ॥९॥

कश्मलोपहताः[3] सर्वे पितामहमथाब्रुवन्।
बहुभिः कारणैर्देव विश्वामित्रो महामुनिः ॥१०॥

---

१ आदीपितम्—तापित। (गो०) २ मोहिता—मूर्च्छिताः। (गो०)
३ कश्मलोपहता—दुःखोपहताः। (गो०)

उन सब ने दुःखी हो ब्रह्मा जी से कहा—हे देव! हमने महर्षि विश्वामित्र को अनेक प्रकार से ॥१०॥

लोभितः क्रोधितश्चैव तपसा चाभिवर्धते ।
न ह्यस्य वृजिनं[1] किञ्चिद्दृश्यते सूक्ष्ममप्यथ ॥११॥

लुभाया और क्रुद्ध करना चाहा, किन्तु ये अपने तप से न डिगे, प्रत्युत इनका तप बढ़ता ही गया। अब इनमें राग-द्वेष नाम मात्र को भी नहीं रह गया ॥११॥

न दीयते यदि त्वस्य मनसा यदभीप्सितम् ।
विनाशयति त्रैलोक्यं तपसा सचराचरम् ॥१२॥

यदि अब भी उनको उनका अभीष्ट वर (अर्थात् ब्रह्मर्षि की पदवी) न दिया गया, तो वे अपने तप से सचराचर तीनों लोकों को नष्ट कर डालेंगे ॥१२॥

व्याकुलाश्च दिशः सर्वा न च किञ्चित् प्रकाशते ।
सागराः क्षुभिताः सर्वे विशीर्यन्ते च पर्वताः ॥१३॥

देखिए, सब दिशाएँ विकल हैं और प्रकाशरहित हैं। (अर्थात् इनकी तपस्या के तेज से सब का तेज छिप गया है) समुद्र क्षुब्ध हो गए हैं और सब पर्वत फटे जाते हैं ॥१३॥

भास्करो निष्प्रभश्चैव महर्षेस्तस्य तेजसा ।
प्रकम्पते च पृथ्वी वायुर्वाति भृशाकुलः ॥१४॥

महर्षि की तपस्या के तेज से सूर्य प्रभाहीन पड़ गया है, पृथ्वी काँप रही है और वायु की गति भी गड़बड़ा गई है ॥१४॥

---

१ वृजिन—पाप, रागद्वेषादिलक्षण। (गो०)

ब्रह्मन्[1] प्रतिजानीमो नास्तिको[2] जायते जनः ।
सम्मूढमिव[3] त्रैलोक्यं सम्प्रक्षुभितमानसम् ॥१५॥

हे ब्रह्मन्! इनका प्रतिकार हम लोगों को अब नहीं सूझ पड़ता। इस हलचल के कारण लोग नास्तिकों की तरह कर्मानुष्ठान-शून्य हुए जाते हैं। क्योंकि इस समय किसी का मन ठिकाने नहीं है और सब विकल हैं ॥१५॥

बुद्धिं न कुरुते यावन्नाशे देव महामुनिः ।
तावत्प्रसाद्यो भगवानग्निरूपो महाद्युतिः ॥१६॥

अत. हे देव! विश्वामित्र के मन में इस जगत् को नाश करने की इच्छा उत्पन्न होने के पूर्व ही, आप इनको सन्तुष्ट कर दीजिए। क्योंकि इस समय वे अग्नि रूप होने के कारण महाद्युति-मान हो रहे हैं ॥१६॥

कालाग्निना यथा पूर्वं त्रैलोक्यं दह्यते भृशम् ।
देवराज्यं चिकीर्षेत दीयतामस्य यन्मतम् ॥१७॥

जैसे प्रलय के समय कालाग्नि तीनों लोकों को जला कर नष्ट कर डालते है, वैसे ही ये भी जला कर भस्म कर डालेंगे। यदि यह इन्द्रासन चाहे तो वह भी इनको दे कर इनका अभीष्ट पूरा कीजिए अथवा यदि आप इनको ब्रह्मर्षिपद, जो इनका अभीष्ट है, नहीं देंगे तो यह इन्द्रपुरी के राज्य की इच्छा करने लगेंगे ॥१७॥

---

१ न प्रतिजानीम·—प्रतिक्रियामितिशेष· । (गो०) २ नास्तिको जायत इति—उक्तसंक्षोभवशान्नास्तिक इव कर्मानुष्ठानाशून्योजायत इत्यर्थः । (गो०) ३ सम्मूढमिवेति—व्याकुलचित्तं । (रा०)

ततः सुरगणाः सर्वे पितामहपुरोगमाः ।
विश्वामित्रं महात्मानं वाक्यं मधुरमब्रुवन् ॥१८॥

(उन लोगों से इस प्रकार अनुरोध किए जाने पर) ब्रह्मा जी सब देवताओं को साथ ले, महात्मा विश्वामित्र जी से जा कर, (ये) मधुर वचन बोले ॥१८॥

ब्रह्मर्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसा स्म सुतोषिताः ।
ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवानसि कौशिक ॥१९॥

हे ब्रह्मर्षे ! हम तुम्हारा स्वागत* करते हैं (अर्थात् तुम्हें बधाई देते हैं)। हम तुम्हारी तपस्या से भली भांति सन्तुष्ट हुए हैं। हे विश्वामित्र ! तुमने अपने उग्र तप के प्रभाव से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया ॥१९॥

दीर्घमायुश्च ते ब्रह्मन् ददामि समरुद्गणः ।
स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गच्छ सौम्य यथासुखम् ॥२०॥

अब हम सब देवताओं सहित तुमको आशीर्वाद देते हैं कि, तुम दीर्घजीवी हो, तुम्हारा मङ्गल हो। हे सौम्य ! अब जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ जाओ ॥२०॥

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वेषां च दिवौकसाम् ।
कृत्वा प्रणामं मुदितो व्याजहार महामुनिः ॥२१॥

---

* श्रीयुत वामन शिवराम आपटे ने स्वागत का अर्थ बतलाते हुए, इस शब्द के प्रयोग के विषय में लिखा है—"Used chiefly in greeting a person, who is put in the dativecase"

ब्रह्मा जी के इन वचनों को सुन, विश्वामित्र जी ने सब देवताओं को प्रणाम किया और वे प्रसन्न हो बोले ॥२१॥

ब्राह्मण्यं यदि मे प्राप्तं दीर्घमायुस्तथैव च ।
ओंकारश्च वषट्कारो वेदाश्च वरयन्तु माम् ॥२२॥

यदि मुझे ब्राह्मणत्व दिया है और दीर्घायु प्राप्त हो चुका है, तो ओंकार, वषट्कार तथा वेद भी मुझे अङ्गीकार करें ॥२२॥

[नोट—ओंकार का यहाँ अर्थ है ब्रह्मज्ञानसाधन और वषट्कार से अभिप्राय है यज्ञसाधन । वेद से अभिप्राय है साङ्गोपाङ्ग वेदविद्या से । अङ्गीकार करें (वरयन्तु) अर्थात् जैसे वसिष्ठादि ब्रह्मर्षियों को वेद पढ़ाने का तथा यज्ञ कराने का अधिकार है—विश्वामित्र जी ब्रह्मा जी से कहते हैं कि, वैसे ही मुझे भी वेद पढ़ाने और यज्ञ कराने का अधिकार आप दें ।]

क्षत्रवेद[1]विदां श्रेष्ठो ब्रह्मवेदविदामपि ।
ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेवं वदतु देवताः ॥२३॥

और क्षत्रियों की वेदविद्या (अथर्वणवेद) जानने वालों में श्रेष्ठ तथा ब्राह्मणों की वेदविद्या जानने में भी श्रेष्ठ (अर्थात् चारों वेदों के ज्ञाता) ब्रह्मा जी के पुत्र वसिष्ठ जी भी मुझे "ब्रह्मर्षि" कहें ॥२३॥

यद्ययं परमः कामः कृतो यान्तु सुरर्षभाः ।
ततः प्रसादितो देवैर्वसिष्ठो जपतांवरः ॥२४॥

---

१ क्षत्रवेदाः—क्षत्रियाणाम् शान्तिपुष्ट्यादिप्रयोजना अथर्वणवेदाः तद्विदा श्रेष्ठः । (गो०)

[1]गुणा बहुविधाः प्राप्तास्तव सन्दर्शनान् मया ।
विस्तरेण च ते ब्रह्मन् कीर्त्यमानं महत्तपः ॥३३॥

आपके दर्शन से मेरा मान बढा है। मैंने विस्तारपूर्वक आपके तप की कीर्त्ति का वृत्तान्त सुना है ॥३३॥

श्रुतं मया महातेजो रामेण च महात्मना ।
सदस्यैः प्राप्य च सदः श्रुतास्ते बहवो गुणाः ॥३४॥

मैंने, श्रीरामचन्द्र जी ने तथा मेरे सभासदों ने आपके असंख्य गुण सुने ॥३४॥

अप्रमेयं तपस्तुभ्यमप्रमेयं च ते बलम् ।
अप्रमेया[2] गुणाश्चैव नित्यं ते कुशिकात्मज ॥३५॥

हे कौशिक ! आपका तप और बल अचिन्त्य है। आपके गुण अपार हैं ॥३५॥

तृप्तिराश्चर्यभूतानां कथानां नास्ति मे विभो ।
कर्मकालो मुनिश्रेष्ठ लम्बते रविमण्डलम् ॥३६॥

हे विभो ! आपकी विस्मयोत्पादिनी कथाओं को सुनते-सुनते मेरा जी नहीं भरा। अब सूर्य अस्त होने वाला है, सन्ध्योपासनादि कर्म करने का समय समीप है। (अत अब मैं विदा होता हूँ) ॥३६॥

श्वः प्रभाते महातेजो द्रष्टुमर्हसि मां पुनः ।
स्वागतं तपतांश्रेष्ठ मामनुज्ञातुमर्हसि ॥३७॥

---

१ गुणा —कर्मश्रेष्ठ्यजातिश्रेष्ट्यलक्षणाः (रा०) २ अप्रमेयाः—इयत्तया ज्ञातुमशक्या. । (गो०)

हे तप करने वालों में श्रेष्ठ! आप इस समय भले पधारे। कल प्रातःकाल फिर मुझे आपके दर्शन होंगे। अब जाने की आज्ञा दीजिए ॥३७॥

एवमुक्तो मुनिवरः प्रशस्य पुरुषर्षभम् ।
विससर्जाशु जनकं प्रीतं प्रीतमनास्तदा ॥३८॥

जब जनक जी ने ऐसा कहा, तब विश्वामित्र जी ने उनकी प्रशंसा करते हुए, प्रसन्न मन से बड़े प्रेम के साथ उनको तुरन्त विदा कर दिया ॥३८॥

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं वैदेहो मिथिलाधिपः ।
प्रदक्षिणं चकाराथ सोपाध्यायः सबान्धवः ॥३९॥

तदनन्तर राजा जनक ने अपने उपाध्याय और बन्धु-बान्धवों सहित उठ कर, विश्वामित्र जी की प्रदक्षिणा की और वे वहाँ से चल दिए ॥३९॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा सरामः सहलक्ष्मणः ।
स्ववाट[1]मभिचक्राम पूज्यमानो महर्षिभिः ॥४०॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

धर्मात्मा विश्वामित्र भी श्रीराम लक्ष्मण सहित मुनियों से सम्मानित हो अपने निवासस्थान में आए ॥४०॥

बालकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

---

१ स्ववाटं—स्वनिवेशं । (गो०)

षट्षष्टितमः सर्गः

—:o:—

तत: प्रभाते विमले कृतकर्मा नराधिपः ।
विश्वामित्रं महात्मानमाजुहाव सराघवम् ॥१॥

प्रातःकाल होते ही राजा जनक ने आह्निक कर्मानुष्ठान से निश्चिन्त हो, दोनों राजकुमारो सहित विश्वामित्र जी को बुला भेजा ॥१॥

तमर्चयित्वा धर्मात्मा शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
राघवौ च महात्मानौ तदा वाक्यमुवाच ह ॥२॥

शास्त्रविधि के अनुसार अर्घ्यपाद्यादि से विश्वामित्र व राम-लक्ष्मण की पूजा कर, धर्मात्मा राजा जनक बोले, ॥२॥

भगवन् स्वागतं तेऽस्तु किं करोमि तवानघ ।
भवानाज्ञापयतु मामाज्ञाप्यो भवता ह्यहम् ॥३॥

हे भगवन्! आपका मैं स्वागत करता हूँ, कुछ सेवा करने के लिए आज्ञा दीजिए। क्योंकि मैं आपकी आज्ञा पाने का पात्र हूँ ॥३॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा जनकेन महात्मना ।
प्रत्युवाच मुनिर्वीरं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥४॥

जब धर्मात्मा जनक जी ने ऐसा कहा, तब बात-चीत करने में अत्यन्त चतुर विश्वामित्र जी राजा से बोले ॥४॥

पुत्रौ दशरथस्येमौ क्षत्रियौ लोकविश्रुतौ ।
द्रष्टुकामौ धनुःश्रेष्ठं यदेतत्त्वयि तिष्ठति ॥५॥

ये दोनों कुमार महाराज दशरथ के पुत्र, क्षत्रियों में श्रेष्ठ और लोक में विख्यात श्रीरामचन्द्र एवं लक्ष्मण, वह धनुष देखना चाहते हैं, जो आपके यहाँ रखा है ॥५॥

एतद्दर्शय भद्रं ते कृतकामौ नृपात्मजौ ।
दर्शनादस्य धनुषो यथेष्टं प्रतियास्यतः ॥६॥

आपका मङ्गल हो ; अतः आप उसे इन्हें दिखलवा दीजिए। उसे देखने ही से इनका प्रयोजन हो जायगा और ये चले जायँगे ॥६॥

एवमुक्तस्तु जनकः प्रत्युवाच महामुनिम् ।
श्रूयतामस्य धनुषो यदर्थमिह तिष्ठति ॥७॥

यह सुन राजा जनक, विश्वामित्र जी से बोले कि, जिस प्रयोजन के लिए यह धनुष यहाँ रखा है, उसे सुनिए ॥७॥

देवरात इति ख्यातो निमेः षष्ठो महीपतिः ।
न्यासोऽयं तस्य भगवन् हस्ते दत्तो महात्मना ॥८॥

हे भगवन्! राजा निमि की छठवीं पीढ़ी में देवरात नाम के एक राजा हो गए हैं। उनको यह धनुष धरोहर के रूप में मिला था ॥८॥

दक्षयज्ञवधे पूर्वं धनुरायम्य वीर्यवान् ।
रुद्रस्तु त्रिदशान् रोषात् सलीलमिदमब्रवीत् ॥९॥

पूर्वकाल में जब महादेव जी ने दक्ष प्रजापति के यज्ञ का विध्वंस कर डाला (क्योंकि उसमें महादेव जी को यज्ञभाग नहीं मिला था) तब लीलाक्रम से शिव जी ने क्रोध में यही धनुष उठा देवताओं से कहा था ॥९॥

यस्माद्भागार्थिनो भागान्नाकल्पयत मे सुराः ।
वराङ्गाणि[1] महार्हाणि धनुषा शातयामि[2] वः ॥१०॥

हे देवो ! यत (चूँकि) तुम लोगों ने मुझ भागार्थी को यज्ञ-भाग नहीं दिया, अतः मैं इस धनुष से तुम सब के सिरों को काटे डालता हूँ ॥१०॥

ततो विमनसः सर्वे देवा वै मुनिपुङ्गव ।
प्रसादयन्ति देवेशं तेषां प्रीतोऽभवद्भवः ॥११॥

हे मुनिप्रवर ! शिव जी का यह वचन सुन, देवता लोग बहुत उदास हो गए और किसी न किसी तरह शिव जी को मना कर प्रसन्न किया ॥११॥

प्रीतियुक्तः स सर्वेषां ददौ तेषां महात्मनाम् ।
तदेतद्देवदेवस्य धनूरत्नं महात्मनः ॥१२॥

तब प्रसन्न हो कर महादेव जी ने यह धनुष देवताओं को दे दिया और देवताओं ने उस धनुषरत्न को धरोहर की तरह देवरात को दे दिया । सो यह वही धनुष है ॥१२॥

---

१ वराङ्गाणि—शिरांसि । (गो०) २ शातयामि—छिनद्मि । (गो०)

न्यासभूतं तदा न्यस्तमस्माकं पूर्वके विभो।
अथ मे कृषतः क्षेत्रं[1] लाङ्गलादुत्थिता ततः ॥१३॥
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा ॥१४॥

एक समय यज्ञ करने के लिए मैं हल से खेत जोत रहा था। उस समय हल की नोक से एक कन्या भूमि से निकली। वह अपने जन्मर्क्ष के कारण सीता के नाम से प्रसिद्ध है और मेरी लड़की कहलाती है। पृथ्वी से निकली हुई वह कन्या दिनों दिन मेरे यहाँ बड़ी होने लगी ॥१३॥१४॥

वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा।
भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम् ॥१५॥

उस अयोनिजा कन्या के विवाह के लिए मैंने पराक्रम ही शुल्क रखा है। पृथ्वी से निकली हुई मेरी यह कन्या जब धीरे-धीरे बड़ी होने लगी ॥१५॥

वरयामासुरागम्य राजानो मुनिपुङ्गव।
तेषां वरयतां कन्यां सर्वेषां पृथिवीक्षिताम् ॥१६॥
वीर्यशुल्केति भगवन् न ददामि सुतामहम्।
ततः सर्वे नृपतयः समेत्य मुनिपुङ्गव ॥१७॥

तब हे मुनिश्रेष्ठ! मेरी उस कन्या के साथ अपना विवाह करने के लिए अनेक देशों के राजा आए। सीता के साथ विवाह करने की इच्छा रखने वाले उन सब राजाओं से कहा गया कि,

---

१ क्षेत्र—योगभूमि। (गो०)

* हल की नोक को सीता कहते हैं। यह कन्या हल की नोक से भूमि खोदते समय पृथ्वी से निकली थी, अतः इसका नाम सीता पड़ा।

यह कन्या "वीर्यशुल्का" है। अतः मैं वर के पराक्रम की परीक्षा किए बिना अपनी कन्या किसी को नहीं दूँगा। तब तो हे मुनि-श्रेष्ठ! सब राजा लोग इकट्ठे हो ॥१६॥१७॥

मिथिलामभ्युपागम्य वीर्यजिज्ञासवस्तदा।
तेषां जिज्ञासमानानां वीर्यं धनुरुपाहृतम् ॥१८॥

अपने पराक्रम की परीक्षा देने को मिथिलापुरी में आए। उनके बल की परीक्षा के लिए मैंने यह धनुष उनके सामने (रोदा चढ़ाने के लिए) रखा ॥१८॥

न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽ[1]पि वा।
तेषां वीर्यवतां वीर्यमल्पं ज्ञात्वा महामुने ॥१९॥

उनमें से कोई भी राजा उस धनुष को उठा कर उस पर रोदा न चढ़ा सका, तब उन राजाओं को अल्पवीर्य समझ ॥१९॥

प्रत्याख्याता नृपतयस्तन्निबोध तपोधन।
ततः परमकोपेन राजानो मुनिपुङ्गव ॥२०॥
न्यरुन्धन् मिथिलां सर्वे वीर्यसन्देहमागताः।
आत्मान[2]मवधूतं[3] ते विज्ञाय नृपपुङ्गवाः ॥२१॥

मैंने उनमे से किसी को अपनी कन्या नही दी। हे मुनिराज! यह बात आप भी जान लें। (जब मैंने अपनी कन्या का विवाह उनमे से किसी के साथ नहीं किया) तब उन लोगों ने क्रुद्ध हो मिथिलापुरी घेर ली। क्योंकि धनुप द्वारा बल की परीक्षा देने में उन्होंने अपना अपमान समझा ॥२०॥२१॥

---

१ तोलने—भारपरीक्षार्थं हस्तचालने। (गो०) २ आत्मानं—स्वात्मान। (गो०) ३ अवधूत—वीर्यशुल्ककरणेन तिरस्कृतं विज्ञाय। (गो०)

रोषेण महताऽविष्टाः पीडयन् मिथिलां पुरीम् ।
ततः संवत्सरे पूर्णे क्षयं यातानि सर्वशः ॥२२॥
साधनानि मुनिश्रेष्ठ ततोऽहं भृशदुःखितः ।
ततो देवगणान् सर्वांस्तपसाहं प्रसादयम् ॥२३॥

उन लोगों ने अत्यन्त क्रुद्ध हो मिथिलावासियों को बड़े बड़े कष्ट दिए। एक वर्ष तक लड़ाई होने से मेरा धन भी बहुत नष्ट हुआ। इसका मुझे बड़ा दुःख हुआ। तब मैंने तप द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया ॥२२॥२३॥

ददुश्च परमप्रीताश्चतुरङ्गबलं सुराः ।
ततो भग्ना नृपतयो हन्यमाना दिशो ययुः ॥२४॥

देवताओं ने अत्यन्त प्रसन्न हो कर मुझे चतुरङ्गिणी सेना दी। तब तो हतोत्साह राजा पराजित हो भाग गए ॥२४॥

अवीर्या वीर्यसन्दिग्धा सामात्याः पापकारिणः ।
तदेतन्मुनिशार्दूल धनुः परमभास्वरम् ।
रामलक्ष्मणयोश्चापि दर्शयिष्यामि सुव्रत ॥२५॥

भीरु और वीरता की झूठी डींगे मारने वाले वे राजा अपने मन्त्रियों सहित भाग गए। हे मुनिश्रेष्ठ! यह वही दिव्य धनुष है। हे सुव्रत! मैं इसे श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को भी दिखलाऊँगा ॥२५॥

यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणं मुने ।
सुतामयोनिजां सीतां दद्यां दाशरथेरहम् ॥२६॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः

और यदि श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष पर रोदा चढ़ा दिया, तो मैं अपनी अयोनिजा सीता उनको ब्याह दूँगा ॥२६॥

बालकाण्ड का बावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—.०:—

सप्तषष्टितमः सर्गः

— * —

जनकस्य वचः श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः ।
धनुर्दर्शय रामाय इति होवाच पार्थिवम् ॥१॥

राजा जनक की बातें सुन, महर्षि विश्वामित्र ने राजा जनक से कहा—हे राजन्! वह धनुष श्रीरामचन्द्र को दिखलाइए तो ॥१॥

ततः स राजा जनकः सचिवान्* व्यादिदेश ह ।
धनुरानीयतां दिव्यं गन्धमाल्यविभूषितम् ॥२॥

तब राजा जनक ने अपने मंत्रियों को आज्ञा दी कि, जो दिव्य धनुष चन्दन और पुष्पमालाओं से भूषित है, उसे ले आओ ॥२॥

जनकेन समादिष्टाः सचिवाः प्राविशन् पुरीम् ।
तद्धनुः पुरतः कृत्वा निर्जग्मुः पार्थिवाज्ञया ॥३॥

राजा जनक की आज्ञा पाकर मंत्री लोग मिथिलापुरी में गए (यज्ञशाला नगरी के बाहर बनी थी) और उस धनुष को आगे कर चले ॥३॥

नृणां शतानि पञ्चाशद्व्यायतानां महात्मनाम् ।
मञ्जूषामष्टचक्रां तां समूहुस्ते कथञ्चन ॥४॥

---

* पाठान्तरे—"सामन्तान्"।

पांच हज़ार मजबूत मनुष्य, धनुष की आठ पहिये की पेटी का, कठिनता से खींच और ढकेल कर वहाँ ला सके ॥४॥

तामादाय तु मञ्जूषामायसीं यत्र तद्धनुः ।
सुरोपमं ते जनकमूचुर्नृपतिमन्त्रिणः ॥५॥

जिस पेटी में धनुष रखा था वह लोहे की थी—उसे ला कर, मंत्रियों ने सुरोपम महाराज जनक को इस बात की सूचना दी ॥५॥

इदं धनुर्वरं राजन् पूजितं सर्वराजभिः ।
मिथिलाधिप राजेन्द्र दर्शयैनं यदीच्छसि ॥६॥

मंत्री बोले—हे राजन्! यह वही धनुष है, जिसकी पूजा स राजा कर चुके हैं। हे मिथिला के अधीश्वर! हे राजेन्द्र! आप जिसको चाहे उसे इसे दिखलाइए ॥६॥

तेषां नृपो वचः श्रुत्वा कृताञ्जलिरभाषत ।
विश्वामित्रं महात्मानं तौ चोभौ रामलक्ष्मण

मन्त्रियों की बात सुन, राजा ने हाथ जोड़ मित्र और राम-लक्ष्मण से कहा ॥७॥

नैतत् सुरगणाः सर्वे नासुरा न च राक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥९॥

क्व गतिर्मानुषाणां च धनुषोऽस्य प्रपूरणे ।
आरोपणे समायोगे वेपने तोलनेऽपि वा ॥१०॥

समस्त देवता, असुर, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और नाग भी जब इस धनुष को उठा और झुका कर इस पर रोदा नहीं चढ़ा सके, तब बपुरे मनुष्यों की तो बात ही क्या है, जो इस धनुष को उठा कर और झुका कर, इस पर रोदा चढ़ा सकें ॥९॥१०॥

तदेतद्धनुषां श्रेष्ठमानीतं मुनिपुङ्गव ।
दर्शयैतन्महाभाग अनयो राजपुत्रयोः ॥११॥

हे ऋषिश्रेष्ठ ! वह श्रेष्ठ धनुष आ गया है । हे महाभाग ! उसे इन राजकुमारों को दिखलाइए ॥११॥

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा श्रुत्वा जनकभाषितम् ।
वत्स राम धनुः पश्य इति राघवमब्रवीत् ॥१२॥

धर्मात्मा विश्वामित्र जी ने जब राजा जनक के ये वचन सुने, तब उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे वत्स ! इस धनुष को देखो ॥१२॥

ब्रह्मर्षेर्वचनाद्रामो यत्र तिष्ठति तद्धनुः ।
मञ्जूषां तामपावृत्य दृष्ट्वा धनुरथाब्रवीत् ॥१३॥

महर्षि के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी वहाँ गए जहाँ धनुष था और उस पेटी को, जिसमे वह धनुष था, खोल कर, धनुष देखा और बोले ॥१३॥

इदं धनुर्वरं ब्रह्मन् संस्पृशामीह पाणिना ।
यत्नवांश्च भविष्यामि तोलने पूरणेपि वा ॥१४॥

हे ब्रह्मन् ! अब इस धनुष को मैं हाथ लगाता हूँ और इसे उठा कर इस पर रोदा चढाने का प्रयत्न करता हूँ ॥१४॥

बाढमित्येव तं राजा मुनिश्च समभाषत ।
लीलया स धनुर्मध्ये जग्राह वचनान्मुनेः ॥१५॥

राजा जनक और विश्वामित्र ने उनकी बात अङ्गीकार करते हुए कहा "बहुत अच्छा" । मुनि के वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने बिना प्रयास धनुष को बीच से पकड़ उसे उठा लिया ॥१५॥

पश्यतां नृसहस्राणां बहूनां रघुनन्दनः ।
आरोपयत्स धर्मात्मा सलीलमिव तद्धनुः ॥१६॥

और हजारों मनुष्यों के सामने धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने बिना प्रयास उस पर रोदा चढ़ा दिया ॥१६।

आरोपयित्वा धर्मात्मा पूरयामास वीर्यवान् ।
तद्बभञ्ज धनुर्मध्ये नरश्रेष्ठो महायशाः ॥१७॥

महायशस्वी पुरुषोत्तम एवं बलवान् श्रीराम ने रोदा चढ़ाने के बाद ज्यों ही रोदे को खींचा, त्यों ही वह धनुष बीच से टूट गया अर्थात् उस धनुष के दो टुकड़े हो गए ॥१७॥

तस्य शब्दो महानासीन्निर्घातसमनिःस्वनः ।
भूमिकम्पश्च सुमहान् पर्वतस्येव दीर्यतः ॥१८॥

उसके टूटने का शब्द वज्रपात के समान हुआ। बड़े जोर से भूमि हिल गयी और बड़े-बड़े पहाड़ फट गए ॥१८॥

निपेतुश्च नराः सर्वे तेन शब्देन मोहिताः ।
वर्जयित्वा मुनिवरं राजानं तौ च राघवौ ॥१९॥

धनुष के टूटने के विकराल शब्द के होने पर विश्वामित्र, राजा जनक और दोनो राजकुमारों को छोड़, सब लोग मूर्च्छित हो गिर पड़े ॥१९॥

प्रत्याश्वस्ते जने तस्मिन् राजा विगतसाध्वसः[1] ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो मुनिपुङ्गवम् ॥२०॥

सब लोगों की मूर्च्छा भङ्ग हुई, वे सचेत हुए तथा राजा जनक के सब सन्देह दूर हो गए । तब राजा जनक हाथ जोड़, चतुर विश्वामित्र से कहने लगे ॥२०॥

भगवन्न दृष्टवीर्यो मे रामो दशरथात्मजः ।
अत्यद्भुतमचिन्त्यं च न तर्कितमिदं मया ॥२१॥

हे भगवन्! महाराज दशरथ जी के पुत्र श्रीरामचन्द्र जी का यह अत्यन्त विस्मयोत्पादक, अचिन्त्य और अतर्कित (जिसमें सन्देह करने की कोई गुञ्जाइश न हो) पराक्रम मैंने देखा ॥२१॥

जनकानां कुले कीर्त्तिमाहरिष्यति मे सुता ।
सीता भर्तारमासाद्य रामं दशरथात्मजम् ॥२२॥

---

१ विगतसाध्वस इत्यनेन रामजामातृकताप्रापकं धनुरारोपणमपि न भवेदिति पूर्वं भीतोऽभूदिति गम्यते । (गो०)

मेरी बेटी सीता, महाराज दशरथ के पुत्र श्रीरामचन्द्र जी को अपना पति बना कर, मेरे वंश की कीर्त्ति फैलाएगी ॥२२॥

मम सत्या प्रतिज्ञा च वीर्यशुल्केति कौशिक ।
सीता प्राणैर्बहुमता देया रामाय मे सुता ॥२३॥

हे कौशिक! मैंने सीता के विवाह के लिए "वीर्यशुल्क" की जो प्रतिज्ञा की थी वह आज पूरी हो गई। आज मैं अपनी प्राणों से भी बढ़ कर प्यारी सीता श्रीराम को दूँगा ॥२३॥

भवतोऽनुमते ब्रह्मन् शीघ्रं गच्छन्तु मन्त्रिणः ।
मम कौशिक भद्रं ते अयोध्यां त्वरिता रथैः ॥२४॥

हे ब्रह्मन्! हे कौशिक! यदि आपकी सम्मति हो तो मेरे मंत्री, रथ पर सवार हो, शीघ्र अयोध्या को जाँय ॥२४॥

राजानं [१]प्रश्रितैर्वाक्यैरानयन्तु पुरं मम ।
प्रदानं वीर्यशुल्कायाः कथयन्तु च सर्वशः ॥२५॥

और महाराज दशरथ को नम्रतापूर्वक यहाँ का सारा हाल सुना कर, यहाँ लिवा लावें ॥२५॥

मुनिगुप्तौ च काकुत्स्थौ कथयन्तु नृपाय वै ।
प्रीयमाणं तु राजानमानयन्तु सुशीघ्रगाः ॥२६॥

और महाराज को, आपसे रक्षित, दोनों राजकुमारों का कुशल-समाचार भी सुनावें और इस प्रकार महाराज को प्रसन्न कर, उन्हें अति शीघ्र यहाँ बुला लावें ॥२६॥

---

१ प्रश्रितैः—विनयान्वितैः । (गो०)

कौशिकश्च तथेत्याह राजा चाभाष्य मन्त्रिणः ।
अयोध्यां प्रेषयामास धर्मात्मा कृतशासनान्[1] ॥२७॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः ॥

इस पर जब विश्वामित्र ने कह दिया कि, बहुत अच्छी बात है, तब राजा ने मंत्रियों को समझा कर और महाराज दशरथ के नाम का कुशलपत्र उन्हें दे, अयोध्या को रवाना किया ॥२७॥

बालकाण्ड का सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

अष्टषष्टितमः सर्गः

—:o.—

जनकेन समादिष्टा दूतास्ते क्लान्तवाहनाः ।
त्रिरात्रमुषिता मार्गे तेऽयोध्यां प्राविशन् पुरीम् ॥१॥

राजा जनक की आज्ञा पा, वे दूत शीघ्रगामी रथों पर सवार हो और रास्ते में तीन रात्रि व्यतीत कर, अयोध्या में पहुँचे । उस समय उनके रथ के घोड़े थक गये थे ॥१॥

राज्ञो भवनमासाद्य द्वारस्थानिदमब्रुवन् ।
शीघ्रं निवेद्यतां राज्ञे दूतान्नो जनकस्य च ॥२॥

और राजभवन की ड्योढ़ी पर जा कर, द्वारपालों से यह बोले कि, जाकर तुरन्त महाराज से निवेदन करो कि, हम राजा जनक के दूत (आपके दर्शन करना चाहते हैं) ॥२॥

---

१ कृतशासनान्—दत्तकल्याणसंदेशपत्रकानित्यर्थः । (गो०)

इत्युक्ता द्वारपालास्ते राघवाय न्यवेदयन् ।
ते राजवचनाद्दूता राजवेश्म प्रवेशिताः ॥३॥

दूतों के ऐसा कहने पर उन द्वारपालों ने जा कर महाराज दशरथ से निवेदन किया। तब महाराज दशरथ की परवानगी से राजा जनक के दूत राजभवन के भीतर गए ॥३॥

ददृशुर्देवसङ्काशं वृद्धं दशरथं नृपम् ।
बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे दूता विगतसाध्वसाः[1] ॥४॥

राजानं प्रणता वाक्यमब्रुवन् मधुराक्षरम् ।
मैथिलो जनको राजा साग्निहोत्रपुरस्कृतम् ॥५॥

कुशलं चाव्ययं चैव सोपाध्यायपुरोहितम् ।
मुहुर्मुहुर्मधुरया स्नेहसंयुक्तया गिरा ॥६॥

जनकस्त्वां महाराजाऽऽपृच्छते सपुरःसरम् ।
पृष्ट्वा कुशलमव्यग्रं वैदेहो मिथिलाधिपः ॥७॥

वहाँ जा कर उन लोगों ने देवोपम वृद्ध महाराज दशरथ के दर्शन किए और उनके सौजन्य को देख, निर्भय हो तथा हाथ जोड़ कर, बड़ी नम्रता से यह मधुर वचन कहे—महाराज! मिथिलापुरी के स्वामी, महायज्ञशाली राजा जनक ने वारम्वार मधुर और स्नेहयुक्त वाणी तथा शान्त मन से आपकी और आपके पुरवासियों की कुशल-क्षेम पूछी है ॥४॥५॥६॥७॥

---

१ विगतसाध्वसाः—दशरथसौजन्येन विज्ञापने निर्भयाः। (गो०)

कौशिकानुमतो वाक्यं भवन्तमिदमब्रवीत् ।
पूर्वं प्रतिज्ञा विदिता वीर्यशुल्का ममात्मजा ॥८॥

और विश्वामित्र जी की अनुमति से आपको यह सन्देशा भेजा है कि, श्रीमान् को तो यह मालूम ही है कि, मेरी पुत्री वीर्यशुल्का है ॥८॥

राजानश्च कृतामर्षा निर्वीर्या विमुखीकृताः ।
सेयं मम सुता राजन्विश्वामित्रपुरःसरैः ॥९॥

उसके लिए अनेक राजा लोग हतोत्साह हो, विमुख हुए। उस मेरी कन्या को विश्वामित्र के साथ ॥९॥

यदृच्छया[1]ऽऽगतैर्वीरैर्निर्जिता तव पुत्रकैः ।
तच्च राजन्धनुर्दिव्यं मध्ये भग्नं महात्मना ॥१०॥

रामेण हि महाराज महत्यां जनसंसदि ।
अस्मै देया मया सीता वीर्यशुल्का महात्मने ॥११॥

मेरे सौभाग्य से आ कर श्रीमान् कुँवर ने जीत लिया है। क्योंकि महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने एक बड़ी सभा के बीच, उस दिव्य धनुष को बीचोबीच से तोड़ा है। अतः मैं अपनी वीर्यशुल्का सीता का विवाह श्रीराम जी के साथ करना चाहता हूँ ॥१०॥११॥

प्रतिज्ञां तर्तुमिच्छामि तदनुज्ञातुमर्हसि ।
सोपाध्यायो महाराज पुरोहितपुरःसरः ॥१२॥

---

१ यदृच्छया—मद्भागधेयात् । (गो०)

जिससे मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सकूँ। आप इस सम्बन्ध
षय में मुझे आज्ञा दें। हे महाराज! आप उपाध्याय और
हितों के सहित ॥१२॥

शीघ्रमागच्छ भद्रं ते द्रष्टुमर्हसि राघवौ।
प्रीतिं च मम राजेन्द्र निर्वर्तयितुमर्हसि ॥१३॥

शीघ्र यहां पधार कर अपने राजकुमारों को देखिए और हे
न्द्र! मेरी प्रीति को निबाहिए ॥१३॥

पुत्रयोरुभयोरेव प्रीतिं त्वमपि लप्स्यसे।
एवं विदेहाधिपतिर्मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥१४॥

विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः शतानन्दमते स्थितः।
इत्युक्त्वा विरता दूता राजगौरवशङ्किताः ॥१५॥

और यहां पधार कर दोनों राजकुमारों के विवाह की शोभा
प्रसन्न होइए। हे महाराज! यह शुभ सन्देश महाराज
क ने, महर्षि विश्वामित्र और अपने पुरोहित शतानन्द जी की
मति से आपकी सेवा में निवेदन करने को कहा है। इतना
और दशरथ के रोब में आ दूत चुप हो गए ॥१४॥१५॥

दूतवाक्यं तु तच्छ्रुत्वा राजा परमहर्षितः।
वसिष्ठं वामदेवं च मन्त्रिणोन्यांश्च सोऽब्रवीत् ॥१६॥

उन दूतों की बातों को सुन, महाराज दशरथ अत्यन्त प्रसन्न
और वसिष्ठ, वामदेव तथा अन्य मन्त्रियों से कहने
॥१६॥

गुप्तः कुशिकपुत्रेण कौसल्यानन्दवर्धनः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विदेहेषु वसत्यसौ ॥१७॥

विश्वामित्र से रक्षित, कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र आजकल मिथिलापुरी में हैं ॥१७॥

दृष्टवीर्यस्तु काकुत्स्थो जनकेन महात्मना ।
सम्प्रदानं सुतायास्तु राघवे कर्तुमिच्छति ॥१८॥

श्रीरामचन्द्र जी का पराक्रम राजा जनक भली भाँति देख चुके हैं और अब वे अपनी कन्या का विवाह श्रीरामचन्द्र जी के साथ करना चाहते हैं ॥१८॥

यदि वो रोचते वृत्तं जनकस्य महात्मनः ।
पुरीं गच्छामहे शीघ्रं मा भूत्कालस्य पर्ययः॥१९॥

यदि इसे आप लोग पसन्द करें, तो हम लोगों को मिथिला पुरी के लिए शीघ्र प्रस्थान करना चाहिए, जिससे वहाँ पहुँचने मे विलम्ब न हो ॥१९॥

[टिप्पणी—इस श्लोक में "यदि वो रोचते वृत्तं" को देखने से यह अवगत होता है कि, रामायणकाल में एकाधिपत्य राज्यशासन-प्रणाली प्रचलित होने पर भी तत्कालीन राजा लोग अपने घरेलू कामों में भी अपने पार्श्ववर्तियों की सम्मति लिए विना कोई कार्य नहीं करते थे ।]

मन्त्रिणो बाढमित्याहुः सह सर्वैर्महर्षिभिः ।
सुप्रीतश्चाब्रवीद्राजा श्वो यात्रेति स मन्त्रिणः ॥२०॥

महाराज का वचन सुन, सब उपस्थित ऋषियों और मन्त्रियों ने कहा—"यह तो बहुत ही अच्छी बात है।" तब महाराज ने

प्रसन्न होकर, मन्त्रियों से कहा—"तो कल ही यहाँ से चल देना चाहिए" ॥२०॥

मन्त्रिणस्तु नरेन्द्रेण रात्रिं परमसत्कृताः ।
ऊषुः प्रमुदिताः सर्वे गुणैः सर्वैः समन्विताः ॥२१॥

इति अष्टषष्टितमः सर्गः ॥

राजा जनक के मन्त्रियों की, जो दूत बन कर अयोध्या गए थे, बड़ी अच्छी तरह खातिरदारी की गई और उन लोगो ने बड़े सुख से रात व्यतीत की ॥२१॥

बालकाण्ड का अरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:❀:—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

—:❀:—

ततो रात्र्यां व्यतीतायां सोपाध्यायः सबान्धवः ।
राजा दशरथो हृष्टः सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥१॥

रात बीतने पर महाराज दशरथ, उपाध्याय और बन्धु-बान्धवों सहित, प्रसन्न हो अपने प्रमुख मन्त्री सुमन्त्र से यह बोले ॥१॥

अद्य सर्वे धनाध्यक्षा धनमादाय पुष्कलम् ।
व्रजन्त्वग्रे सुविहिता नानारत्नसमन्विताः ॥२॥

आज सब से पहले हमारे सब खजान्ची लोग बहुतसा धन और तरह-तरह के रत्न अपने साथ ले कर, उचित प्रबन्ध के साथ आगे चलें ॥२॥

चतुरङ्गं बलं सर्वं शीघ्रं निर्यातु सर्वशः ।
ममाज्ञासमकालं च यानयुग्य[१]मनुत्तमम् ॥३॥

मेरी समस्त चतुरङ्गिणी सेना शीघ्र ही तैयार की जाय। उसके साथ ही रथ और पालकियाँ भी तैयार की जायँ। देखो, मेरी आज्ञा में अन्तर न पड़ने पावे ॥३॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ काश्यपः ।
मार्कण्डेयः सुदीर्घायुर्ऋषिः कात्यायनस्तथा ॥४॥

वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप, दीर्घायु मार्कण्डेय और कात्यायन ॥४॥

एते द्विजाः प्रयान्त्वग्रे स्यन्दनं योजयस्व मे ।
यथा कालात्ययो न स्याद्दूता हि त्वरयन्ति माम् ॥५॥

ये सब ब्राह्मण आगे चलें। मेरा रथ भी तैयार कराओ जिससे देर न होने पावे। देखो, राजा जनक के दूत जल्दी कर रहे हैं ॥५॥

वचनात्तु नरेन्द्रस्य सा सेना चतुरङ्गिणी ।
राजानमृषिभिः सार्धं व्रजन्तं पृष्ठतोऽन्वगात् ॥६॥

जब महाराज दशरथ, उक्त ऋषियों के साथ रवाना हुए, तब उनकी आज्ञा से चतुरङ्गिणी सेना उनके पीछे-पीछे चली ॥६॥

गत्वा चतुरहं मार्गं विदेहानभ्युपेयिवान् ।
राजा तु जनकः श्रीमान् श्रुत्वा पूजामकल्पयत् ॥७॥

---

१ यानयुग्य—यान शिविकान्दोलिकादि, युग्य रथादि। (गो०)

रास्ते में चार दिन बिताकर, महाराज दशरथ जनकपुर में जा पहुँचे। उधर उनका आगमन सुन राजा जनक ने इनके सत्कार के लिए सब सामान सजाए और आगे जा कर, बड़े आदर-सत्कार के साथ अगमानी की ॥७॥

ततो राजानमासाद्य वृद्धं दशरथं नृपम् ।
जनको मुदितो राजा हर्षं च परमं ययौ ॥८॥

राजा जनक, वृद्ध महाराज दशरथ जी से मिल कर परमानन्दित हुए ॥८॥

उवाच च नरश्रेष्ठो नरश्रेष्ठं मुदान्वितः ।
स्वागतं ते महाराज दिष्ट्या प्राप्तोसि राघव ॥९॥

और नरश्रेष्ठ जनक नरश्रेष्ठ दशरथ जी से अत्यन्त हर्षित हो [बो]ले—हे महाराज ! मैं आपका स्वागत करता हूँ। यह मेरा [सौ]भाग्य है, जो आप पधारे हैं ॥९॥

पुत्रयोरुभयोः प्रीतिं लप्स्यसे वीर्यनिर्जिताम् ।
दिष्ट्या प्राप्तो महातेजा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥१०॥

अपने दोनों पराक्रमी राजकुमारों को देख कर, आप परम [प्रस]न्न होंगे। यह भी बड़े सौभाग्य की बात है, जो महातेजस्वी [भ]गवान् वसिष्ठ ऋषि ॥१०॥

सह सर्वैर्द्विजश्रेष्ठैर्देवैरिव शतक्रतुः ।
दिष्ट्या मे निर्जिता विघ्ना दिष्ट्या मे पूजितं कुलम् ॥११॥

सब ऋषियों के साथ, देवताओं सहित इन्द्र की तरह, यहाँ [प]धारे हैं। सौभाग्य की बात है कि, कन्यादान के समय के समस्त [वि]घ्न अब नष्ट हो गए और मेरा यह प्रतिष्ठित कुल भी ॥११॥

राघवैः सह सम्बन्धाद्वीर्यश्रेष्ठैर्महात्मभिः ।
श्वः प्रभाते नरेन्द्र त्वं निर्वर्तयितुमर्हसि ॥१२॥
यज्ञस्यान्ते नरश्रेष्ठ विवाहमृषिसम्मतम् ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा ऋषिमध्ये नराधिपः ॥१३॥

वीरो मे श्रेष्ठ और महात्मा रघुवंशियों के साथ सम्बन्ध होने से प्रतिष्ठित हो गया । हे नरेन्द्र ! आप कल प्रातःकाल यज्ञान्त-स्नान (अवभृथ) हो चुकने पर, ऋषियों की सम्मति से विवाहा-चार की रीति करावें । इस प्रकार राजा जनक के वचन सुन कर, ऋषियों के बीच वैठे हुए महाराजा दशरथ, ॥१२॥१३॥

वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः प्रत्युवाच महीपतिम् ।
प्रतिग्रहो दातृवशः श्रुतमेतन् मया पुरा ॥१४॥

जो बोलने वालों में चतुर थे, राजा जनक से बोले—हमने तो यह पहले ही सुन रखा है कि दान, दान देने वाले के अधीन है ॥१४॥

यथा वक्ष्यसि धर्मज्ञ तत्करिष्यामहे वयम् ।
धर्मिष्ठं च यशस्यं च वचनं सत्यवादिनः ॥१५॥

हे धर्मज्ञ ! अतः आप जैसा कहेंगे, हम लोग वैसा ही करेंगे । सत्यवादी महाराज दशरथ के ऐसे धर्मयुक्त और यश बढ़ाने वाले वचन ॥१५॥

श्रुत्वा विदेहाधिपतिः परं विस्मयमागतः ।
ततः सर्वे मुनिगणाः परस्परसमागमे ॥१६॥

सुन, राजा जनक को बड़ा विस्मय हुआ । (विस्मित होने की बात यह थी कि, राजा जनक की प्रतिज्ञा के अनुसार सीता जी जब

श्रीरामचन्द्र की न्यायानुसार हो ही चुकीं, तब महाराज दशरथ जी यह विनम्र वचन कि, "दान, दान देने वाले के अधीन है" क्यों कहते हैं। अर्थात् राजा जनक सीता का दान नहीं करते। सीता जी तो "वीर्यशुल्का" हैं) तदनन्तर ऋषियों ने भी आपस में मिल भेंट कर ॥१६॥

हर्षेण महता युक्तास्तां निशामवसन् सुखम् ।
राजा च राघवौ पुत्रौ निशाम्य परिहर्षितः ।
उवास परमप्रीतो जनकेनाभिपूजितः ॥१७॥

बड़ी प्रसन्नता के साथ वहाँ रह कर रात बिताई। महाराज दशरथ भी अपने पुत्रों (श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण) को देख, परम प्रसन्न हुए और राजा जनक की खातिरदारी से सुखपूर्वक वहाँ वास किया ॥१७॥

जनकोऽपि महातेजाः क्रियां धर्मेण तत्त्ववित् ।
यज्ञस्य च सुताभ्यां च कृत्वा रात्रिमुवास ह ॥१८॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥

उदार राजा जनक ने भी, यज्ञ और विवाह की करने योग्य रीति भाँति को कर के, विश्राम किया ॥१८॥

बालकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—.※.—

सप्ततितमः सर्गः

—.०:—

ततः प्रभाते जनकः कृतकर्मा[1] महर्षिभिः ।

उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शतानन्दं पुरोहितम् ॥१॥

प्रातःकाल होने पर राजा जनक ऋषियों की सहायता से यज्ञादि क्रिया समाप्त कर, अपने पुरोहित शतानन्द जी से बोले ॥१॥

भ्राता मम महातेजा यवीयानतिधार्मिकः ।

कुशध्वज इति ख्यातः पुरीमध्यवसच्छुभाम् ॥२॥

देखो, महातेजस्वी, महाबलवान् और अत्यन्त धर्मिष्ठ कुशध्वज नाम के मेरे छोटे भाई (साङ्काश्य नामक) पवित्र पुरी में रहते हैं ॥२॥

वार्याफ[2]लकपर्यन्तां पिबन्निक्षुमतीं नदीम् ।

सांकाश्यां पुण्यसंकाशां विमानमिव पुष्पकम् ॥३॥

सांकाश्या नाम की पवित्र पुरी के चारों ओर उसकी रक्षा के लिए खाई (परिखा) है और तरह-तरह के यत्र (कलें) हैं। इक्षु नदी पास ही बहती है और वह पुरी पुष्पक विमान के आकार की बनी हुई है ॥३॥

तमहं द्रष्टुमिच्छामि यज्ञगोप्ता[3] स मे मतः ।

प्रीतिं सोऽपि महातेजा इमां भोक्ता मया सह ॥४॥

---

१ कृतकर्मा—समाप्तयज्ञादिक्रिया. । (गो०) २ अफलका-यत्र यन्त्रफलकास्तद्युक्त. । (रा०) ३ यज्ञगोप्ता—साकाश्ये स्थित्वा यज्ञसामग्रीप्रेषणादिनेति भावः । (गो०)

मेरे यज्ञ में सामग्री आदि भेज कर वे सहायता करते हैं। अपने उस प्यारे भाई को मैं देखना चाहता हूँ। वह भी इस विवाहोत्सव में सम्मिलित हो हम लोगों के साथ आनन्दित हों ॥४॥

एवमुक्ते तु वचने शतानन्दस्य सन्निधौ ।
आगताः केचिदव्यग्रा[1] जनकस्तान्समादिशत् ॥५॥

इस प्रकार राजा जनक शतानन्द से कह ही रहे थे कि, इसी बीच में सामने कुछ सामर्थ्यवान् (जो काम सौंपा जाय, उसको अपने बुद्धिवल से करने की सामर्थ्य रखने वाले) दूत (भी) आ गए। राजा जनक ने उनको जाने की आज्ञा दी ॥५॥

शासनात्तु नरेन्द्रस्य प्रययुः शीघ्रवाजिभिः ।
समानेतुं नरव्याघ्रं विष्णुमिन्द्राज्ञया यथा ॥६॥

वे दूत राजा जनक की आज्ञा से शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो कर, ऐसे चले जैसे इन्द्र की आज्ञा पा कर देवता लोग वामन जी को लेने गए थे ॥६॥

सांकाश्यां ते समागत्य ददृशुश्च कुशध्वजम् ।
न्यवेदयन् यथावृत्तं जनकस्य च चिन्तितम् ॥७॥

साकाश्या पुरी में पहुँच कर, वे राजा कुशध्वज से मिले और जनक महाराज ने जो सन्देसा भेजा था, वह ज्यों का त्यों निवेदन किया ॥७॥

तद्वृत्तं नृपतिः श्रुत्वा दूतश्रेष्ठैर्महाबलैः ।
आज्ञयाऽथ नरेन्द्रस्य आजगाम कुशध्वजः ॥८॥

---

१ अव्यग्राः—समर्थाः। (रा०)

उन महाबली श्रेष्ठ दूतों के द्वारा राजा जनक का सन्देशा सुन, राजा जनक के आज्ञानुसार राजा कुशध्वज जनकपुरी में आ गए ॥८॥

स ददर्श महात्मानं जनकं धर्मवत्सलम् ।
सोऽभिवाद्य शतानन्दं राजानं चातिधार्मिकम् ॥९॥

जनकपुरी में आ कर, राजा कुशध्वज, धर्मवत्सल एवं महात्मा जनक जी से मिले। उन्होंने शतानन्द जी तथा अत्यन्त धर्मिष्ठ जनक जी को प्रणाम किया ॥९॥

राजार्हं परमं दिव्यमासनं सोऽध्यरोहत ।
उपविष्टावुभौ तौ तु भ्रातरावमितौजसौ ॥१०॥

तदनन्तर वे राजाओं के बैठने योग्य आसनों पर बैठे। जब वे अति तेजस्वी दोनों भाई आसन पर बैठ गए ॥१०॥

प्रेषयामासतुर्वीरौ मन्त्रिश्रेष्ठं सुदामनम् ।
गच्छ मन्त्रिपते शीघ्रमैक्ष्वाकममितप्रभम् ॥११॥

तब उन दोनों वीरों ने मन्त्रिप्रवर सुदामा नामक अपने मंत्री को (दशरथ महाराज के पास) भेजा और कहा कि, हे मन्त्रिपते ! तुम शीघ्र अमित तेजवाले महाराज दशरथ के पास जाओ ॥११॥

आत्मजैः सह दुर्धर्षमानयस्व समन्त्रिणम् ।
औपकार्यं[1] स गत्वा तु रघूणां कुलवर्धनम् ॥१२॥

---

१ औपकार्यम् - दशरथशिबिरनिवेश। (गो०)

और उन दुर्धर्ष महाराज को मय राजकुमारों और मंत्रियों के यहाँ बुला लाओ। यह सुन, वह मंत्री वहाँ गया जहाँ महाराज दशरथ जी डेरे-तंबुओं में ठहरे हुए थे ॥१२॥

ददर्श शिरसा चैनमभिवाद्येदमब्रवीत् ।
अयोध्याधिपते वीर वैदेहो मिथिलाधिपः ॥१३॥

और उनके सामने जा तथा प्रणाम कर बोला—हे वीर अयोध्यानाथ ! मिथिलाधिप विदेह ॥१३॥

स त्वां द्रष्टुं व्यवसितः सोपाध्यायपुरोहितम् ।
मन्त्रिश्रेष्ठवचः श्रुत्वा राजा सर्षिगणस्तदा ॥१४॥

राजकुमारों, उपाध्याय और पुरोहित सहित आपके दर्शन करना चाहते हैं। उस श्रेष्ठ मंत्री के यह वचन सुन, महाराज दशरथ, ऋषियों ॥१४॥

सबन्धुरगमत्तत्र जनको यत्र वर्तते ।
स राजा मन्त्रिसहितः सोपाध्यायः सबान्धवः ॥१५॥

और बन्धु-बान्धवों सहित वहाँ गए, जहाँ राजा जनक अपने पुरोहित, बान्धवों और मन्त्रियों सहित थे ॥१५॥

वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठो वैदेहमिदमब्रवीत् ।
विदितं ते महाराज इक्ष्वाकुकुलदैवतम् ॥१६॥

बोलने में चतुर महाराज दशरथ, राजा जनक से बोले—हे जनक जी महाराज ! आप तो जानते ही हैं कि, भगवान् वसिष्ठ जी इक्ष्वाकुकुल के देवता हैं ॥१६॥

वक्ता सर्वेषु कृत्येषु वसिष्ठो भगवानृषिः ।
विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः सह सर्वैर्महर्षिभिः ॥१७॥

और ऐसे सब कामों में मेरी ओर से बोलने वाले भगवान् वसिष्ठ ऋषि जी ही हैं। अतः विश्वामित्र जी की तथा अन्य महर्षियों की सलाह से ॥१७॥

एष वक्ष्यति धर्मात्मा वसिष्ठस्ते यथाक्रमम् ।
तूष्णींभूते दशरथे वसिष्ठो भगवानृषिः ॥१८॥

धर्मात्मा वसिष्ठ जी ही हमारी गोत्रावली यथाक्रम आपको सुनावेंगे। यह कह जब महाराज दशरथ चुप हुए, तब भगवान् वसिष्ठ ऋषि, ॥१८॥

उवाच वाक्यं वाक्यज्ञो वैदेहं सपुरोहितम् ।
अव्यक्तप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ॥१९॥

जो बातचीत करने का ढंग भली भाँति जानते थे, राजा जनक तथा उनके पुरोहित (शतानन्द जी) को सम्बोधन कर कहने लगे—हे राजन्! अव्यक्त (प्रत्यक्षाद्यगोचरं वस्तु प्रभवः कारणं यस्य सोऽव्यक्तप्रभवः) ब्रह्म से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए जो सनातन, नित्य और अव्यय हैं ॥१९॥

[टिप्पणी—इस श्लोक में "शाश्वत", "नित्य" और "अव्यय" तीन विशेषण ब्रह्मा के लिए आये हैं, उनके अर्थ इस प्रकार हैं : "शाश्वत" का अर्थ है बहुकालस्थायी। "नित्य" का अर्थ है द्विपरार्ध काल तक नाशरहित और "अव्यय" का अर्थ है प्रवाह रूप से प्रतिकल्प में रहने वाले।]

तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः काश्यपः सुतः ।
विवस्वान् काश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्मृतः ॥२०॥

उनके मरीचि, मरीचि से कश्यप, कश्यप से सूर्य और सूर्य से वैवस्वत मनु हुए ॥२०॥

मनुः प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुस्तु मनोः सुतः ।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥२१॥

यह मनु प्रथम प्रजापति कहलाए। मनु से इक्ष्वाकु हुए जो अयोध्या के प्रथम राजा थे ॥२१॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरित्येव विश्रुतः ।
कुक्षेरथात्मजः श्रीमान् विकुक्षिरुदपद्यत ॥२२॥

इक्ष्वाकु के पुत्र कुक्षि और कुक्षि के विकुक्षि नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥२२॥

विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान् ।
बाणस्य तु महातेजा अनरण्यो महायशाः ॥२३॥

विकुक्षि के महातेजस्वी और प्रतापी बाण हुए। बाण के महातेजस्वी और महायशस्वी अनरण्य हुए ॥२३॥

अनरण्यात् पृथुर्जज्ञे त्रिशङ्कुस्तु पृथोः सुतः ।
त्रिशङ्कोरभवत् पुत्रो धुन्धुमारो महायशाः ॥२४॥

अनरण्य के पृथु और पृथु के त्रिशंकु हुए। त्रिशंकु के धुन्धुमार नामक महायशस्वी पुत्र हुए ॥२४॥

धुन्धुमारान्महातेजा युवनाश्वो महाबलः ।
युवनाश्वसुतस्त्वासीन्मान्धाता पृथिवीपतिः ॥२५॥

धुन्धुमार के महाबली युवनाश्व हुए। युवनाश्व के पृथ्वीपति मान्धाता हुए ॥२५॥

मान्धातुस्तु सुतः श्रीमान् सुसन्धिरुदपद्यत ।
सुसन्धेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसन्धिः प्रसेनजित् ॥२६॥

मान्धाता के सुसन्धि नामक पुत्र उत्पन्न हुए। सुसन्धि के दो पुत्र हुए, जिनके नाम ध्रुवसन्धि और प्रसेनजित् थे ॥२६॥

यशस्वी ध्रुवसन्धेस्तु भरतो नाम नामतः ।
भरतात्तु महातेजा असितो नाम जातवान् ॥२७॥

यशस्वी ध्रुवसन्धि के भरत और भरत के महातेजस्वी असित हुए ॥२७॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशिबिन्दवः ॥२८॥

असित के हैहय, तालजङ्घ और शशिबिन्दु तीन पुत्र हुए। ये तीनों वीर राजा हुए, किन्तु इन तीनों ने अपने पिता असित के साथ वैर बाँधा ॥२८॥

तांस्तु स प्रतियुध्यन्वै युद्धे राज्यात्प्रवासितः ।
हिमवन्तमुपागम्य भार्याभ्यां सहितस्तदा ॥२९॥

और असित को लड़ाई में हराकर राज्य से निकाल दिया। तब राजा असित अपनी दो रानियों को साथ ले कर हिमालय पर चले गए ॥२९॥

असितोऽल्पबलो राजा कालधर्ममुपेयिवान् ।
द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतम् ॥३०॥

अल्पबली राजा असित वहाँ (हिमालय पर) जा कर मर गए उस समय उनकी दोनों रानियाँ गर्भवती थीं ॥३०॥

एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै सगरं ददौ ।
ततः शैलवरं रम्यं बभूवाभिरतो मुनिः ॥३१॥

एक ने अपनी सौत का गर्भ नष्ट करने के लिए उसको विष दे दिया। उस समय उस हिमालय पर्वत पर एक मुनि रहते थे, ॥३१॥

भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।
तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥३२॥

जो भृगुवंशी थे। उनका नाम च्यवन था। वे हिमालय पर्वत पर तप करते थे। असित की रानियों में से एक, भृगुवंशी एवं देववर्चस, (देवताओं के समान तेजसम्पन्न) च्यवन के पास गई ॥३२॥

ववन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षन्ती सुतमुत्तमम् ।
तमृषिं साऽभ्युपागम्य कालिन्दी चाभ्यवादयत् ॥३३॥

उत्तम पुत्र होने की इच्छा से उस कमलनयनी ने मुनि की वन्दना की और वह उनके सामने बैठ गई। उस रानी का नाम कालिन्दी था ॥३३॥

स तामभ्यवदद्विप्रः पुत्रेप्सुं पुत्रजन्मनि ।
तव कुक्षौ महाभागे सुपुत्रः सुमहायशाः ॥३४॥

महावीर्यो महातेजा अचिरात् संजनिष्यति ।
गरेण सहितः श्रीमान्मा शुचः कमलेक्षणे ॥३५॥

पुत्र-प्राप्ति की इच्छा रखने वाली उस रानी से च्यवन जी ने कहा कि, हे महाभागे ! तेरी कुक्षि में उत्तम, महायशस्वी, महाबली

और महातेजस्वी एक बालक है जो विषसहित शीघ्र उत्पन्न होगा। हे कमलनयनी ! तू कुछ भी चिन्ता मत कर ॥३५॥३५॥

च्यवनं तु नमस्कृत्य राजपुत्री पतिव्रता ।
पतिशोकातुरा तस्मात्पुत्रं देवी व्यजायत ॥३६॥

तदनन्तर पतिव्रता एव पति के शोक से आतुर उस राजपुत्री ने च्यवन को प्रणाम किया। (च्यवन जी के आशीर्वाद से) उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥३६॥

सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया ।
सह तेन गरेणैव जातः स सगरोऽभवत् ॥३७॥

उसकी सौत ने उसका गर्भ नष्ट करने को उसे जो विष खिलाया था, उस विष के साथ लड़का उत्पन्न होने के कारण, उस बालक का नाम सगर पड़ा ॥३७॥

सगरस्यासमञ्जस्तु असमञ्जात्तथांशुमान् ।
दिलीपोंशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥३८॥

सगर के असमञ्जस, असमञ्जस के अंशुमान, अंशुमान के दिलीप और दिलीप के भगीरथ हुए ॥३८॥

भगीरथात्ककुत्स्थोऽभूत्ककुत्स्थस्य रघुः सुतः ।
रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ॥३९॥

भगीरथ के ककुत्स्थ और ककुत्स्थ के रघु हुए। रघु के तेजस्वी पुत्र प्रवृद्ध हुआ जो नरमांस-भोजी अर्थात् राक्षस था ॥३९॥

कल्माषपादो ह्यभवत्तस्माज्जातश्च शंखणः ।
सुदर्शनः शंखणस्य अग्निवर्णः सुदर्शनात् ॥४०॥

पीछे यही कल्माषपाद भी कहलाया। कल्माषपाद के शङ्खण, शङ्खण के सुदर्शन और सुदर्शन के अग्निवर्ण हुए ॥४०॥

शीघ्रगस्त्वग्निवर्णस्य शीघ्रगस्य मरुः सुतः।
मरोः प्रशुश्रुकस्त्वासीदम्बरीषः प्रशुश्रुकात् ॥४१॥

अग्निवर्ण के शीघ्रग, शीघ्रग के मरु, मरु के प्रशुश्रुक और प्रशुश्रुक के अम्बरीष हुए ॥४१॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषः सत्यविक्रमः।
नहुषस्य ययातिश्च नाभागस्तु ययातिजः ॥४२॥

अम्बरीष के सत्यपराक्रमी नहुष हुए। नहुष के ययाति और ययाति के नाभाग हुए ॥४२॥

नाभागस्य बभूवाजो अजाद्दशरथोऽभवत्।
अस्माद्दशरथाज्जातौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥४३॥

नाभाग के पुत्र अज और अज के पुत्र महाराज दशरथ और दशरथ के पुत्र ये दोनो भाई श्रीरामचन्द्र-लक्ष्मण हैं ॥४३॥

आदिवंशविशुद्धानां राज्ञां परमधर्मिणाम्।
इक्ष्वाकुकुलजातानां वीराणां सत्यवादिनाम् ॥४४॥

आदि से ले कर इक्ष्वाकुवंश वाले राजाओं का विशुद्ध वंश-जो धर्मिष्ठ, वीर और सत्यवादी है—मैंने आपको सुनाया ॥४४॥

रामलक्ष्मणयोरर्थे त्वत्सुते वरये नृप।
सदृशाभ्यां नरश्रेष्ठ सदृशे दातुमर्हसि ॥४५॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

हर्यश्वस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रतिन्धकः ।
प्रतिन्धकस्य धर्मात्मा राजा कीर्त्तिरथः सुतः ॥९॥

हर्यश्व के मरु, मरु के प्रतिन्धक और प्रतिन्धक के धर्मात्मा राजा कीर्तिरथ हुए ॥९॥

पुत्रः कीर्त्तिरथस्यापि देवमीढ इति स्मृतः ।
देवमीढस्य विबुधो विबुधस्य महीध्रकः ॥१०॥

कीर्तिरथ के देवमीढ़, देवमीढ़ के विबुध और विबुध के महीध्रक हुए ॥१०॥

महीध्रकसुतो राजा कीर्त्तिरातो महाबलः ।
कीर्त्तिरातस्य राजर्षेर्महारोमा व्यजायत ॥११॥

महीध्रक के महाबली कीर्तिरात हुए और कीर्तिरात के राजर्षि महारोमा हुए ॥११॥

महारोम्णस्तु धर्मात्मा स्वर्णरोमा व्यजायत ।
स्वर्णरोम्णस्तु राजर्षेर्ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥१२॥

महारोमा के धर्मात्मा स्वर्णरोमा हुए और स्वर्णरोमा के राजर्षि ह्रस्वरोमा हुए ॥१२॥

तस्य पुत्रद्वयं जज्ञे धर्मज्ञस्य महात्मनः ।
ज्येष्ठोऽहमनुजो भ्राता मम वीरः कुशध्वजः ॥१३॥

धर्मज्ञ ह्रस्वरोमा के दो पुत्र हुए। उन दो में बड़ा मैं हूँ और दूसरा मेरा वीर छोटा भाई कुशध्वज है ॥१३॥

मां तु ज्येष्ठं पिता राज्ये सोऽभिषिच्य नराधिपः ।
कुशध्वजं समावेश्य भारं मयि वनं गतः ॥१४॥

हमारे पिता मुझ ज्येष्ठ को राज्य सौंप तथा कुशध्वज को, मेरे पास रख, वन को चले गए ॥१४॥

वृद्धे पितरि स्वर्याते धर्मेण धुरमावहम् ।
भ्रातरं देवसङ्काशं स्नेहात् पश्यन् कुशध्वजम् ॥१५॥

जब बूढ़े पिताजी स्वर्गवासी हुए, तब मैं धर्मपूर्वक राज्य करने लगा और देवता के समान अपने छोटे भाई को स्नेहपूर्वक पालने लगा ॥१५॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य सांकाश्यादगमत्पुरात् ।
सुधन्वा वीर्यवान् राजा मिथिलामवरोधकः ॥१६॥

कुछ काल बाद सांकाश्या पुरी के विक्रमी राजा सुधन्वा ने मिथिला को आ घेरा ॥१६॥

स च मे प्रेषयामास शैवं धनुरनुत्तमम् ।
सीता कन्या च पद्माक्षी मह्यं वै दीयतामिति ॥१७॥

उसने मेरे पास यह सन्देसा भेजा कि, शिवधनुष और कमलनयनी सीता मुझे दे दो ॥१७॥

तस्याऽप्रदानाद्ब्रह्मर्षे युद्धमासीन्मया सह ।
स हतोऽभिमुखो राजा सुधन्वा तु मया रणे ॥१८॥

हे ब्रह्मर्षे ! उसकी इस बात को मैंने स्वीकार न किया, तब मेरे साथ उसका घोर युद्ध हुआ । मैंने इस युद्ध में सुधन्वा को मार डाला ॥१८॥

निहत्य तं मुनिश्रेष्ठ सुधन्वानं नराधिपम् ।
सांकाश्ये भ्रातरं वीरमभ्यषिञ्चं कुशध्वजम् ॥१६॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! राजा सुधन्वा को मार कर, सांकाश्या पुरी के राजसिंहासन पर अपने वीर भाई कुशध्वज को बिठा दिया ॥१६॥

कनीयानेष मे भ्राता अहं ज्येष्ठो महामुने ।
ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुङ्गव ॥२०॥

हे महर्षे ! यह मेरा छोटा भाई है और मैं इसका बड़ा भाई हूँ। हे मुनिश्रेष्ठ ! मैं बड़ी प्रीति के साथ दो बहुएँ आपको देता हूँ ॥२०॥

सीता रामाय भद्रं ते ऊर्मिलां लक्ष्मणाय च ।
वीर्यशुल्कां मम सुतां सीतां सुरसुतोपमाम् ॥२१॥

उनमें सीता तो श्रीरामचन्द्र के लिए और ऊर्मिला लक्ष्मण जी के लिए देता हूँ। वीर्यशुल्का सीता जो देवकन्या के समान है ॥२१॥

द्वितीयामूर्मिलां चैव त्रिर्ददामि न संशयः ।
रामलक्ष्मणयो राजन् गोदानं कारयस्व ह ॥२२॥

और दूसरी ऊर्मिला मैं यथाक्रम श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को त्रिवाचा भर देता हूँ। अब इस बात में कुछ भी संशय नहीं है। अब आप दोनों राजकुमारों से गोदान करवाइए ॥२२॥

पितृकार्यं च भद्रं ते ततो वैवाहिकं कुरु ।
मघा ह्यद्य महाबाहो तृतीये दिवसे विभो ॥२३॥

आपका मङ्गल हो। तदनन्तर आप नान्दीमुख
र, विवाह सम्बन्धी विधि करवाइए। हे महाबाहो!
नत्र है। आज के तीसरे दिन ॥२३॥

ुन्यामुत्तरे राजंस्तस्मिन् वैवाहिकं कुरु।
रामलक्ष्मणयो राजन् दानं कार्यं सुखोदयम् ॥२४॥

इति एकसप्ततितमः सर्गः ॥

ेत्तराफाल्गुनी नक्षत्र आवेगा। हे महाराज! उसी नक्षत्र में विवाह होना चाहिए। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के सुखोदय के लिए (गो, तिल, भूमि आदि का) दान कीजिए ॥२४॥

बालकाण्ड का एकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—:o:—

द्विसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

तमुक्तवन्तं वैदेहं विश्वामित्रो महामुनिः।
उवाच वचनं वीरं वसिष्ठसहितो नृपम् ॥१॥

जब जनक जी ने इस प्रकार कहा, तब वसिष्ठ जी के अभिप्रायानुसार महामुनि विश्वामित्र जी ने राजा जनक से कहा ॥१॥

[1]अचिन्त्यान्यप्रमे[2]यानि कुलानि नरपुङ्गव।
इक्ष्वाकूणां विदेहानां नैषां तुल्योऽस्ति कश्चन ॥२॥

---

१ अचिन्त्यानि—आश्चर्यभूतानि। (गो०) २ अप्रमेयानि—अपरिच्छेद्य महिमानि। (गो०)

हे राजन्! इक्ष्वाकु और विदेह—दोनों ही वंशों की वंश-परम्पराएँ विस्मयोत्पादनी हैं और इनकी महिमा असीम है। इनकी बराबरी करने वाला दूसरा कोई कुल ही नहीं है ॥२॥

सदृशो धर्मसम्बन्धः सदृशो रूपसम्पदा ।
रामलक्ष्मणयो राजन् सीता चोर्मिलया सह ॥३॥

श्रीरामचन्द्र और सीता का तथा लक्ष्मण एवं उर्मिला का धर्म सम्बन्ध अर्थात् वैवाहिक सम्बन्ध बराबर का है। क्योंकि वर-बधू दोनों ही क्या रूप और क्या सम्पत्ति, सब बातों में समान हैं ॥३॥

वक्तव्यं च नरश्रेष्ठ श्रूयतां वचनं मम ।
भ्राता यवीयान् धर्मज्ञ एष राजा कुशध्वजः ॥४॥

हे राजन्! यह होने पर भी मुझे इस पर कुछ वक्तव्य है। उसे सुनिए। आपके यह छोटे और धर्मज्ञ भाई जो कुशध्वज हैं, ॥४॥

अस्य धर्मात्मनो राजन् रूपेणाप्रतिमं भुवि ।
सुताद्वयं नरश्रेष्ठ पत्न्यर्थं वरयामहे ॥५॥

इन धर्मात्मा की दो कन्याओं को, जो इस संसार में अपने सौन्दर्य मे सर्वश्रेष्ठ हैं, बहू बनाने के लिए मैं माँगता हूँ ॥५॥

भरतस्य कुमारस्य शत्रुघ्नस्य च धीमतः ।
वरयेम सुते राजंस्तयोरर्थे महात्मनोः ॥६॥

अर्थात् हे राजन्! एक कन्या बुद्धिमान् राजकुमार भरत के लिए और एक शत्रुघ्न के लिए हम मांगते हैं ॥६॥

पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिनः ।
लोकपालोपमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः ॥७॥

महाराज दशरथ के चारों राजकुमार रूपवान्, यौवनशाली, लोकपालों के समान, अथच देवतुल्य पराक्रमी हैं ॥७॥

उभयोरपि राजेन्द्र सम्बन्धो ह्यनुबध्यताम् ।
इक्ष्वाकोः कुलमव्यग्रं[1] भवतः पुण्यकर्मणः ॥८॥

सो हे राजेन्द्र! इन दोनों राजकुमारों का भी सम्बन्ध कीजिए। इक्ष्वाकुकुल निर्दोष है और आप भी पुण्यात्मा हैं ॥८॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा वसिष्ठस्य मते तदा ।
जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच मुनिपुङ्गवौ ॥९॥

विश्वामित्र जी के ये वचन सुन और वसिष्ठ जी की सम्मति जान अथवा वसिष्ठ जी के सम्मत विश्वामित्र जी के वचन सुन, महाराज जनक हाथ जोड़ कर दोनों महर्षियों से बोले ॥९॥

कुलं धन्यमिदं मन्ये येषां नो मुनिपुङ्गवौ ।
सदृशं कुलसम्बन्धं यदाज्ञापयथः स्वयम् ॥१०॥

मेरा कुल धन्य है, जो आप दोनों महर्षियों ने स्वयं इस कुल-सम्बन्ध का समान बतलाया है ॥१०॥

एवं भवतु भद्रं वः कुशध्वजसुते इमे ।
पत्न्यौ भजेतां सहितौ शत्रुघ्नभरतावुभौ ॥११॥

---

१ अव्यग्र—निर्दोष। (गो०)

आप जो आज्ञा देंगे वही होगा। आपका मङ्गल हो, कुशध्वज की कन्याओं का विवाह भरत और शत्रुघ्न के साथ कर दिया जायगा ॥११॥

एकाह्ना राजपुत्रीणां चतसृणां महामुने ।
पाणीन्गृह्णन्तु चत्वारो राजपुत्रा महाबलाः ॥१२॥

हे मुनि! एक ही दिन महाराज दशरथ के चारों महाबली राजकुमार, इन चारों का पाणिग्रहण करें। अर्थात् चारों का विवाह एक ही दिन हो ॥१२॥

उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फल्गुनीभ्यां मनीषिणः ।
वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापतिः ॥१३॥

हे ब्रह्मन्! कल उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र है। पण्डितों का मत है कि, इस नक्षत्र में विवाह होना उत्तम है। क्योंकि इस नक्षत्र का प्रजापति भग देवता है ॥१३॥

एवमुक्त्वा वचः सौम्यं प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ।
उभौ मुनिवरौ राजा जनको वाक्यमब्रवीत् ॥१४॥

यह कह राजा जनक खड़े हो गए और हाथ जोड़ कर दोनों मुनिवरों से बोले ॥१४॥

परो धर्मः[1] कृतो मह्यं शिष्योऽस्मि भवतोः सदा ।
इमान्यासनमुख्यानि आसातां मुनिपुङ्गवौ ॥१५॥

आप दोनों के अनुग्रह से यह कन्यादान-रूप धर्म प्राप्त हुआ। (अर्थात् कन्याप्रदान करने का उपदेश।) मैं सदा आप

१ परो धर्मः—कन्याप्रदानरूपः। (गो०)

दोनों का दास हूँ। आप दोनों इन मुख्य आसनों पर विराजिए (दो मुख्य आसन—राजा जनक का और महाराज दशरथ का) ॥१५॥

यथा दशरथस्येयं तथायोध्या पुरी मम।
प्रभुत्वे नास्ति सन्देहो यथार्हं कर्तुमर्हथ ॥१६॥

प्रभुत्व में जैसे जनकपुरी महाराज दशरथ की है, वैसे ही अयोध्यापुरी मेरी है। इसमें कुछ भी सन्देह नही है। अतएव आपको जो उचित जान पड़े सो कीजिए ॥१६॥

तथा ब्रुवति वैदेहे जनके रघुनन्दनः।
राजा दशरथो हृष्टः प्रत्युवाच महीपतिम् ॥१७॥

जब जनक ने ये वचन महाराज दशरथ से कहे, तब उन्होंने प्रसन्न होकर जनक से कहा, ॥१७॥

युवामसंख्येयगुणौ भ्रातरौ मिथिलेश्वरौ।
ऋषयो राजसंघाश्च भवद्भ्यामभिपूजिताः ॥१८॥

हे मिथिलेश्वर! आप दोनो भाइयो मे असख्य गुण हैं। आपने ऋषियो और राजाओं का अच्छा सत्कार किया ह ॥१८॥

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गमिष्यामि स्वमालयम्।
श्राद्धकर्माणि सर्वाणि विधास्यामीति चाब्रवीत् ॥१९॥

फिर महाराज दशरथ ने कहा कि, मैं आपको आशीर्वाद देता हूँ कि, आपका कल्याण हो। अब मैं स्वस्थान पर जाकर विधिपूर्वक नान्दीमुख आदि सब श्राद्धकर्म करता हूँ ॥१९॥

तमापृष्ट्वा नरपतिं राजा दशरथस्तदा।
मुनीन्द्रौ तौ पुरस्कृत्य जगामाशु महायशाः ॥२०॥

इस प्रकार राजा जनक से विदा हो महाराज दशरथ दोनों मुनियों को आगे कर, तुरन्त चल दिए ॥२०॥

स गत्वा निलयं राजा श्राद्धं कृत्वा विधानतः ।
प्रभाते काल्यमुत्थाय चक्रे गोदानमुत्तमम् ॥२१॥

अपने स्थान पर जा कर महाराज दशरथ ने विधि से श्राद्ध किया और अगले दिन प्रातःकाल होते ही गोदानादि किए ॥२१॥

गवां शतसहस्राणि ब्राह्मणेभ्यो नराधिपः ।
एकैकशो ददौ राजा पुत्रानुद्दिश्य धर्मतः ॥२२॥

महाराज दशरथ ने अपने राजकुमारों की मङ्गलकामना के लिए एक-एक लाख गौएँ, एक-एक ब्राह्मण को दीं ॥२२॥

सुवर्णशृङ्गाः सम्पन्नाः सवत्साः कांस्यदोहनाः ।
गवां शतसहस्राणि चत्वारि पुरुषर्षभः ॥२३॥

उन गौओं के सींग सोने के पत्रों से मढ़े हुए थे। वे दुधार थीं। उनके साथ उनके बछड़े थे। प्रत्येक गौ के साथ कांसे का दूध दुहने का पात्र (दुधैड़ी) था। इस प्रकार की चार लाख गौएँ महाराज ने दीं ॥२३॥

वित्तमन्यच्च सुबहु द्विजेभ्यो रघुनन्दनः ।
ददौ गोदानमुद्दिश्य पुत्राणां पुत्रवत्सलः ॥२४॥

पुत्रवत्सल राजा ने पुत्रों के कल्याण के लिए बहुत सा धन गोदान के उद्देश्य से ब्राह्मणों को दिया ॥२४॥

स सुतैः कृतगोदानैर्वृतस्तु नृपतिस्तदा ।
लोकपालैरिवाभाति वृतः सौम्यः प्रजापतिः ॥२५॥

इति द्विसप्ततितमः सर्गः ॥

पुत्रों सहित गोदान कर महाराज दशरथ ऐसे शोभित हुए जैसे लोकपालों सहित ब्रह्मा जी शोभित होते हैं ॥२५॥

बालकाण्ड का बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

त्रिसप्ततितमः सर्गः

—:※:—

यस्मिंस्तु दिवसे राजा चक्रे गोदानमुत्तमम् ।
तस्मिंस्तु दिवसे शूरो युधाजित्समुपेयिवान् ॥१॥

जिस दिन महाराज दशरथ जी ने उत्तम (विधिपूर्वक) गोदान किए, उसी दिन युधाजित जी भी (जनकपुर) पहुँचे ॥१॥

पुत्रः केकयराजस्य साक्षाद्भरतमातुलः ।
दृष्ट्वा पृष्ट्वा च कुशलं राजानमिदमब्रवीत् ॥२॥

केकय देश के राजा के पुत्र, भरत जी के साक्षात् मामा ने, महाराज दशरथ जी से मिल कर, कुशलक्षेम पूछी और वह बोले ॥२॥

केकयाधिपती राजा स्नेहात्कुशलमब्रवीत् ।
येषां कुशलकामोऽसि तेषां सम्प्रत्यनामयम् ॥३॥

हे महाराज! केकय देशाधिपति ने बड़ी प्रीति के साथ अपना कुशल कहा है और कहा कि आप जिन लोगों की कुशल चाहते हैं वे सब प्रकार से कुशल हैं ॥३॥

स्वस्रीयं[1] मम राजेन्द्र द्रष्टुकामो महीपतिः ।
तदर्थमुपयातोऽहमयोध्यां रघुनन्दन ॥४॥

हे राजेन्द्र! हमारे पिता को भरत जी के देखने की इच्छा है। मैं इसीलिए प्रथम अयोध्या गया ॥४॥

श्रुत्वा त्वहमयोध्यायां विवाहार्थं तवात्मजान् ।
मिथिलामुपयातांस्तु त्वया सह महीपते ॥५॥

जब मैंने वहाँ सुना कि, आप राजकुमारों का विवाह करने के लिए उनको लेकर मिथिलापुरी पधारे हैं, तब मैं ॥५॥

त्वरयाऽभ्युपयातोऽहं द्रष्टुकामः स्वसुः सुतम् ।
अथ राजा दशरथः प्रियातिथिमुपस्थितम् ॥६॥

तुरन्त अपने भाजे को देखने के लिए यहाँ चला आया हूँ।' महाराज दशरथ ने अपने नातेदार (साले) को आया हुआ ॥६॥

दृष्ट्वा परमसत्कारैः पूजनार्हमपूजयत् ।
ततस्तामुषितो रात्रिं सह पुत्रैर्महात्मभिः ॥७॥

देख, उस सत्कार करने योग्य नातेदार का अच्छी तरह सत्कार किया और अपने राजकुमारों सहित रात्रि को सुखपूर्वक निवास किया ॥७॥

---

१ स्वस्रीयं—भरत । (रा०)

प्रभाते पुनरुत्थाय कृत्वा कर्माणि कर्मवित् ।
ऋषींस्तदा पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागमत् ॥८॥

(अगले दिन) प्रातःकाल होते ही महाराज दशरथ नित्यकर्म कर, ऋषियों सहित यज्ञशाला में गये ॥८॥

युक्ते मुहूर्ते विजये सर्वाभरणभूषितैः ।
भ्रातृभिः सहितो रामः कृतकौतुकमङ्गलः ॥९॥

वसिष्ठं पुरतः कृत्वा महर्षीनपरानपि ।
वसिष्ठो भगवानेत्य वैदेहमिदमब्रवीत् ॥१०॥

विजयमुहूर्त में वसिष्ठादि सब ऋषियों सहित सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित भाइयों के साथ श्रीरामचन्द्र जी को विवाह के मङ्गलाचार की रीति करा कर, वसिष्ठ जी राजा जनक से बोले ॥९।१०॥

राजा दशरथो राजन् कृतकौतुकमङ्गलैः ।
पुत्रैर्नरवरश्रेष्ठ दातारमभिकाङ्क्षते ॥११॥

हे राजन्! महाराज दशरथ अपने राजकुमारों से (आरम्भिक) मङ्गल कृत्य करवा चुके। हे नरवरश्रेष्ठ! अब वे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥११॥

दातृप्रतिग्रहीतृभ्यां सर्वार्थाः प्रभवन्ति हि ।
स्वधर्मं[1] प्रतिपद्यस्व कृत्वा वैवाह्यमुत्तमम् ॥१२॥

---

१ स्वधर्मं—प्रतिज्ञारूप। (गो०)

क्योंकि दान-दाता और दान लेने वाला, जब दोनों तत्पर हों तभी काम होता है। अतः आप भी वैवाहिक मङ्गलकर्म करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिए ॥१२॥

इत्युक्तः परमोदारो[1] वसिष्ठेन महात्मना ।
प्रत्युवाच महातेजा वाक्यं परमधर्मवित् ॥१३॥

जब महात्मा वसिष्ठ जी ने परमदाता राजा जनक से यह कहा तब परम धर्मात्मा राजा जनक बोले ॥१३॥

कः स्थितः प्रतिहारो मे कस्याज्ञा सम्प्रतीक्ष्यते ।
स्वगृहे को विचारोऽस्ति यथा राज्यमिदं तव ॥१४॥

महाराज दशरथ को क्या किसी मेरे दरबान ने रोका है ? (जो यज्ञशाला के द्वार पर वे खड़े हुए हैं) महाराज किसकी परवानगी की प्रतीक्षा कर रहे हैं ? अपने घर के अन्दर आने में भी क्या कोई रुकावट होती है ? यह भी तो उन्हीं का घर (या राज्य) है। चले क्यों नहीं आते ? (मेरे आने की प्रतीक्षा क्यों करते हैं ?) ॥१४॥

[नोट—इसका भाव यह कि, महाराज दशरथ के लिए कोई रोक-टोक नहीं। वे आनन्द से पधारें।]

कृतकौतुकसर्वस्वा वेदिमूलमुपागताः ।
मम कन्या मुनिश्रेष्ठ दीप्ता वह्नेर्यथार्चिषः ॥१५॥

हमारी तो सब कन्याएँ मङ्गलाचार किए हुए वेदी के समीप बैठी हैं। वे सब अग्निशिखा की तरह देदीप्यमान हैं ॥१५॥

---

१ परमोदारः—परमदाता। (रा०)

सज्जोऽहं त्वत्प्रतीक्षोऽस्मि वेद्यामस्यां प्रतिष्ठितः ।
अविघ्नं क्रियतां राजन् किमर्थमवलम्ब्यते ॥१६॥

मैं स्वयं यहाँ वेदी के पास बैठा हुआ आप लोगों ही की बाट जोह रहा हूँ। सो अब विलम्ब किस बात का है? महाराज से कहिए कि, सब कार्य्य अब शीघ्र निर्विघ्न होने चाहिए ॥१६॥

तद्वाक्यं जनकेनोक्तं श्रुत्वा दशरथस्तदा ।
प्रवेशयामास सुतान् सर्वानृषिगणानपि ॥१७॥

वसिष्ठ जी द्वारा राजा जनक का यह सन्देसा पा, महाराज दशरथ ने राजकुमारों और ऋषियों सहित विवाह-मण्डप में प्रवेश किया ॥१७॥

ततो राजा विदेहानां वसिष्ठमिदमब्रवीत् ।
कारयस्व ऋषे सर्वामृषिभिः सह धार्मिकैः ॥१८॥

रामस्य लोकरामस्य क्रियां वैवाहिकीं प्रभो ।
तथेत्युक्त्वा तु जनकं वसिष्ठो भगवानृषिः ॥१९॥

तदनन्तर राजा जनक ने वसिष्ठ जी से कहा कि, हे ऋषे! आप अन्य ऋषियों सहित लोकाभिराम श्रीरामचन्द्र जी के विवाह की विधि करवाइए। यह सुन और जनक जी से, "बहुत अच्छा, कराते हैं" कह कर, भगवान वसिष्ठ जी ने ॥१८॥१९॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य शतानन्दं च धार्मिकम् ।
प्रपामध्ये[1] तु विधिवद्वेदिं कृत्वा महातपाः ॥२०॥

---

१ प्रपामध्ये—यज्ञशालामध्ये इतिकतक. । अभिनवनारिकेलादिरचित-मण्डप इत्यर्थ. । (गो०)

विश्वामित्र और धर्मात्मा शतानन्द को आगे कर, विवाह-मण्डप के वीच मे अग्निस्थापन करने के लिए विधवत् वेदी बनाई ॥२०॥

अलंचकार तां वेदिं गन्धपुष्पैः समन्ततः ।
सुवर्णपालिकाभि[१]श्छिद्रकुम्भैश्च साङ्कुरैः ॥२१॥

फिर उस वेदी को चारों ओर गन्धपुष्पादि से सजाया और सुवर्ण शलाकाओं, करवा एवं दूर्वाङ्कुरादि से शोभित किया ॥२१॥

अङ्कुराढ्यैः शरावैश्च धूपपात्रैः सधूपकैः ।
शंखपात्रैः स्रुवैः स्रुग्भिः पात्रैरर्घ्याभिपूरितैः ॥२२॥

दूर्वाङ्कु, सरवा और दूध से भर कर वहुत से पात्र रखे । अर्घ्य का सामान भर कर पात्र भी स्थापित किए । स्रुवादि वा अर्घ्यपात्र भी शङ्खाकार रखे ॥२२॥

लाजपूर्णैश्च पात्रीभिरक्षतैरपि संस्कृतैः ।
दर्भैः समैः समास्तीर्य विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ॥२३॥

बहुत से पात्रो म धान की खीलें (लावा) और जल से धुला-कर अक्षत भरवा कर रखाए और मंत्र पढ कर विधिपूर्वक बराबर-बराबर के (अर्थात् एक नाप के) कुश विछवाए ॥२३॥

अग्निमाधाय वेद्यां तु विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ।
जुहावाग्नौ महातेजा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥२४॥

तदनन्तर विधिवत् और मत्र पढ कर, वेदी पर अग्नि स्थापन किया और महातेजस्वी भगवान् वसिष्ठ ऋषि, उस अग्नि मे आहुति देने लगे ॥२४॥

---

१ सुवर्णपालिकाभि.—साङ्कुराभिरितिलिङ्गविपरिणामेनानुकृष्यते । (गो०)

ततः सीतां समानीय सर्वाभरणभूषिताम् ।
समक्षमग्नेः संस्थाप्य राघवाभिमुखे तदा ॥२५॥

फिर सीता जी को सब गहने पहना कर, वेदी के निकट श्रीरामचन्द्र जी के सामने बैठाया ॥२५॥

अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम् ।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ॥२६॥

राजा जनक ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राम! यह मेरी कन्या सीता, आज से आपकी सहधर्मचारिणी हुई ॥२६॥

[1]प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा ॥२७॥

इसे आप लीजिए और अपने हाथ से इसका हाथ पकड़िए। यह महाभागा पतिव्रता सदा छाया की तरह आपकी अनुगामिनी बनी रहेगी। आप दोनों का मङ्गल हो ॥२७॥

इत्युक्त्वा प्राक्षिपद्राजा मन्त्रपूतं जलं तदा ।
साधु साध्विति देवानामृषीणां वदतां तदा ॥२८॥

यह कह कर राजा जनक ने मंत्रों द्वारा पवित्र किया हुआ जल दोनों पर छिड़का। उस समय सब देवता और ऋषिगण "साधु-साधु" कहने लगे ॥२८॥

देवदुन्दुभिनिर्घोषः पुष्पवर्षो महानभूत् ।
एवं दत्त्वा तदा सीतां मन्त्रोदकपुरस्कृताम् ॥२९॥

---

१ प्रतीच्छ—गृहाण। (गो०)

देवताओं ने नगाड़े बजाए और बड़ी भारी पुष्पों की वर्षा की। इस प्रकार सीता का श्रीरामचन्द्र जी के साथ विवाह कर के ॥२६॥

अब्रवीज्जनको राजा हर्षेणाभिपरिप्लुतः ।
लक्ष्मणागच्छ भद्रं ते ऊर्मिलां च ममात्मजाम् ॥३०॥
प्रतीच्छ पाणिं गृह्णीष्व मा भूत्कालस्य पर्ययः ।
तमेवमुक्त्वा जनको भरतं चाभ्यभाषत ॥३१॥

राजा जनक अत्यन्त प्रसन्न हो बोले, हे लक्ष्मण! तुम्हारा मङ्गल हो। तुम भी शीघ्र आकर मेरी पुत्री ऊर्मिला को ग्रहण करो और अपने हाथ से इसका हाथ पकड़ो। विलम्ब मत करो। फिर राजा जनक ने भरत से कहा ॥३०॥३१॥

पाणिं गृह्णीष्व माण्डव्याः पाणिना रघुनन्दन ।
शत्रुघ्नं चापि धर्मात्मा अब्रवीज्जनकेश्वरः ॥३२॥

हे भरत! तुम माण्डवी का पाणिग्रहण करो। तदनन्तर राजा जनक ने शत्रुघ्न से भी कहा, ॥३२॥

श्रुतकीर्त्या महाबाहो पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ।
सर्वे भवन्तः सौम्याश्च सर्वे सुचरितव्रताः ॥३३॥

हे शत्रुघ्न! तुम श्रुतकीर्ति का हाथ अपने हाथ से पकड़ो। तुम सब के सब जैसे सौम्य स्वभाव व सुचरित्र हो, ॥३३॥

पत्नीभिः सन्तु काकुत्स्था मा भूत्कालस्य पर्ययः ।
जनकस्य वचः श्रुत्वा पाणीन् पाणिभिरस्पृशन् ॥३४॥

वैसे ही तुम्हे तुम्हारी पत्नियाँ भी मिली हैं। इन्हे अङ्गीकार करो, जिससे काल न बीत जाय। अर्थात् विवाह की लग्न न निकल जाय ॥३४॥

[नोट—इसको मि० ग्रिफिथ ने, इस प्रकार व्यक्त किया है—

"Now, Raghu's sons, may all of you,
Be gentle to your wives and true,
Keep well the vows make to day,
Not let occasion slip away,"

अर्थात् हे राजकुमारो! तुम सब अपनी इन पत्नियों के साथ सदा अच्छा और सत्य व्यवहार करना और आज तुम लोग जिस प्रतिज्ञा को करते हो, इसका आजन्म निर्वाह करना। अब विलम्ब मत करो।]

चत्वारस्ते चतसृणां वसिष्ठस्य मते स्थिताः।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा वेदिं राजानमेव च ॥३५॥
ऋषींश्चैव महात्मानः सभार्या रघुसत्तमाः।
यथोक्तेन तदा चक्रुर्विवाहं विधिपूर्वकम् ॥३६॥

राजा जनक के इस प्रकार कहने पर चारों राजकुमारो ने चारों राजकुमारियों के हाथ पकड़े और वसिष्ठ जी की आज्ञा से पत्नियों सहित, अग्निवेदी, राजा जनक तथा ऋषियों की परिक्रमा कर के विधिपूर्वक सब वैवाहिक कर्म किए ॥३५॥३६॥

काकुत्स्थैश्च गृहीतेषु ललितेषु च पाणिषु।
पुष्पवृष्टिर्महत्यासीदन्तरिक्षात्सुभास्वरा ॥३७॥

इस प्रकार चारों ककुत्स्थनन्दनों द्वारा उन राजकुमारियों के सुन्दर हाथों के पकड़ जाने पर, अर्थात् पाणिग्रहण हो चुकने पर, आकाश से दिव्य पुष्पों की बड़ी भारी वर्षा हुई ॥३७॥

दिव्यदुन्दुभिनिर्घोषैर्गीतवादित्रनिःस्वनैः ।
ननृतुश्चाप्सरःसंघा गन्धर्वाश्च जगुः कलम् ।
विवाहे रघुमुख्याणां तदद्भुतमदृश्यत ॥३८॥

देवताओं ने नगाडे बजाए, अप्सराएँ नाचीं और गन्धर्वों ने गीत गाए। दशरथनन्दनों के विवाह मे ये विस्मयोत्पादक कौतुक देख पड़े ॥३८॥

ईदृशे वर्तमाने तु तूर्योद्घुष्टनिनादिते ।
त्रिरग्निं ते परिक्रम्य ऊहुर्भार्या रघूत्तमाः ॥३९॥

इस प्रकार बाजे बजते हुए तीन-तीन बार तीनों* अग्नियों की प्रदक्षिणा कर, राजकुमारों ने अपनी पत्नियों को ग्रहण किया ॥३९॥

अथोपकार्यां जग्मुस्ते सदारा रघुनन्दनाः ।
राजाप्यनुययौ पश्यन् सर्षिसंघः सबान्धवः ॥४०॥

इति त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

तदनन्तर सब राजकुमार अपनी पत्नियों सहित जनवासे को सिधारे। महाराज जनक भी ऋषियों और बन्धुबान्धवों सहित विवाह का कौतुक देखते हुए जनवासे को गए ॥४०॥

बालकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

[टिप्पणी—इस विवाह कार्य में लक्ष्मण के बाद भरत जी का विवाह हुआ देख, कुछ लोगो को यह शका हो सकती है कि, ज्येष्ठ भरत को छोड़ छोटे लक्ष्मण का विवाह प्रथम क्यों हुआ। इस शका की

---

* तीन अग्नियाँ—अर्थात् १ गार्हपत्य २ आहवनीयाग्नि और ३ सौत्राग्नि।

निवृत्ति टीकाकारों ने यह कह कर की है कि, लक्ष्मण और भरत सगे भाई न थे। अतः ज्येष्ठ और लघु की शङ्का यहाँ नहीं हो सकती।]

—:o:—

चतुःसप्ततितमः सर्गः

—:*:—

अथ रात्र्यां व्यतीतायां विश्वामित्रो महामुनिः।
आपृष्ट्वा तौ च राजानौ जगामोत्तरपर्वतम् ॥१॥

विवाह हो चुकने पर अगले दिन सवेरा होते ही महर्षि विश्वामित्र दोनों राजाओं (महाराज दशरथ और राजा जनक) से विदा माँग, हिमालय पर (तप करने) चले गये ॥१॥

आशीर्भिः पूरयित्वा च कुमारांश्च सराघवान्।
विश्वामित्रे गते राजा वैदेहं मिथिलाधिपम् ॥२॥

विश्वामित्र ने जाते समय राजकुमारों को तथा महाराज दशरथ को आशीर्वाद दिये। महर्षि विश्वामित्र के विदा होने पर महाराज दशरथ ने मिथिलेश्वर राजा जनक से ॥२॥

आपृष्ट्वाथ जगामाशु राजा दशरथः पुरीम्।
गच्छन्तं तं तु राजानमन्वगच्छन्नराधिपः ॥३॥

विदा माँग अति शीघ्र अयोध्या को प्रस्थान किया। राजा जनक कुछ दूर तक महाराज दशरथ के पीछे-पीछे उन्हें विदा करने गये ॥३॥

अथ राजा विदेहानां ददौ कन्याधनं[1] बहु ।
गवां शतसहस्राणि बहूनि मिथिलेश्वरः ॥४॥

और दहेज के लवाजमे मे (दैन-दायजे में) मिथिलेश्वर ने अयोध्याधिपति को एक लाख गौएँ दीं ॥४॥

कम्बलानां च मुख्यानां क्षौमकोटयम्बराणि च ।
हस्त्यश्वरथपादातं दिव्यरूपं स्वलङ्कृतम् ॥५॥

बहुत से बहुमूल्य दुशाले और एक करोड़ रेशमी वस्त्र दिये। अनेक सुन्दर और सजे सजाए हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, ॥५॥

ददौ कन्यापिता तासां दासीदासमनुत्तमम् ।
हिरण्यस्य सुवर्णस्य मुक्तानां विद्रुमस्य च ॥६॥

दासियाँ और दास दिये। बहुत सी बढ़िया मोहरें और अशर्फियाँ, मोती, मूँगे (अथवा बढ़िया सोने के मोती जड़े गहने) दिये ॥६॥

ददौ परमसंहृष्टः कन्याधनमनुत्तमम् ।
दत्त्वा बहुधनं राजा समनुज्ञाप्य पार्थिवम् ॥७॥

इस प्रकार परम प्रसन्न हो और भी बहुतसा बहुमूल्य दायजा दे कर, राजा जनक, महाराज दशरथ से आज्ञा माँग ॥७॥

प्रविवेश स्वनिलयं मिथिलां मिथिलेश्वरः ।
राजाप्ययोध्याधिपतिः सह पुत्रैर्महात्मभिः ॥८॥

मिथिलेश्वर अपने मिथिलापुरी वाले राजभवन में गये। महाराज दशरथ भी, राजकुमारों को साथ लिये हुए ॥८॥

---

१ कन्याधनं—यौतुकाख्यम् । (रा०)

ऋषीन्दूर्नस्व पुरस्कृत्य जगाम सबलानुगः ।
गच्छन्तं तं नरव्याघ्र सर्षिसंघं सराघवम् ॥६॥

तथा ऋषियों को आगे कर, सेना सहित चल दिये। ऋषियों और श्रीरामचन्द्र जी के साथ जाते हुए महाराज दशरथ ॥६॥

घोराः स्म पक्षिणो वाचो व्याहरन्ति ततस्ततः ।
भौमाश्चैव मृगाः सर्वे गच्छन्ति स्म प्रदक्षिणम् ॥१०॥

के मार्ग में चारों ओर भयङ्कर पक्षी बोलने लगे। हिरन दौड़ कर रास्ता काटने लगे ॥१०॥

तान् दृष्ट्वा राजशार्दूलो वसिष्ठं पर्यपृच्छत ।
असौम्याः पक्षिणो घोरा मृगाश्चापि प्रदक्षिणाः ॥११॥

इन अपशकुनों को देख, महाराज दशरथ ने वसिष्ठ जी से पूछा कि, यह एक ओर दुष्ट पक्षी बुरी तरह बोल रहे हैं और दूसरी ओर हिरन दाहिनी ओर से रास्ता काट रहे हैं ॥११॥

किमिदं हृदयोत्कम्पि मनो मम विषीदति ।
राज्ञो दशरथस्यैतच्छ्रुत्वा वाक्यं महानृषिः ॥१२॥

यह हृदय दहलाने वाला क्या उत्पात है? इन अपशकुनों को देख मेरा मन उदास हो गया है। महाराज के इन प्रश्नों को सुन महर्षि वसिष्ठ जी ने ॥१२॥

उवाच मधुरां वाणीं श्रूयतामस्य यत्फलम् ।
उपस्थितं भयं घोरं दिव्यं पक्षिमुखाच्च्युतम् ॥१३॥

मधुर वाणी से उत्तर दिया कि, इनका फल सुनिए। पक्षी बोली बोल कर बतला रहे हैं कि, कोई बड़ा भारी भय उपस्थित होने वाला है ॥१३॥

मृगाः प्रशमयन्त्येते सन्तापस्त्यज्यतामयम् ।
तेषां संवदतां तत्र वायुः प्रादुर्बभूव ह ॥१४॥

परन्तु मृगों के रास्ता काटने से अर्थात् बाईं ओर से दाहिनी ओर जाने से, उस भय का नाश प्रतीत होता है। अतः आप सन्तप्त न हों। यह बात हो ही रही थी कि, बड़े ज़ोर की आँधी चली ॥१४॥

कम्पयन् मेदिनीं सर्वां पातयंश्च महाद्रुमान् ।
तमसा संवृतः सूर्यः सर्वा न प्रबभुर्दिशः ॥१५॥

जिससे पृथिवी काँपने लगी, बड़े-बड़े वृक्ष गिरने लगे। धूल के कारण सूर्य छिप गये और अन्धकार छा गया, दिशाओं का ज्ञान न रहा ॥१५॥

भस्मना चावृतं सर्वं सम्मूढमिव तद्बलम् ।
वसिष्ठश्चर्षयश्चान्ये राजा च ससुतस्तदा ॥१६॥

इतनी धूल उड़ी कि, सैनिकों के छक्के छूट गये। वसिष्ठ जी तथा अन्य ऋषियों को, महाराज दशरथ तथा उनके राजकुमारों को ॥१६॥

ससंज्ञा इव तत्रासन् सर्वमन्यद्विचेतनम् ।
तस्मिंस्तमसि घोरे तु भस्मच्छन्नेव सा चमूः ॥१७॥

वो उस समय चेत रहा और सब अचेत हो गये। क्योंकि उस घोर अन्धकार में, सब सेना भस्माच्छादित हो गई थी। अर्थात् मानों धूल से ढक गई थी ॥१७॥

ददर्श भीमसङ्काशं जटामण्डलधारिणम्।
भार्गवं जामदग्न्यं तं राजराजविमर्दिनम् ॥१८॥

तदनन्तर महाराज दशरथ ने भयङ्कर रूप धारण किये, जटाजूट-धारी, भृगुवंशी जमदग्नि जी के पुत्र और राजाओं का मान मर्दन करने वाले परशुराम को देखा ॥१८॥

कैलासमिव दुर्धर्षं कालाग्निमिव दुःसहम्।
ज्वलन्तमिव तेजोभिर्दुर्निरीक्ष्यं पृथग्जनैः[1] ॥१९॥

परशुराम जी कैलास की तरह दुर्धर्ष, कालाग्नि के समान दुस्सह, क्रोध से जलते हुए अग्नि के समान और पामर लोगों द्वारा दुर्निरीक्ष्य थे ॥१९॥

स्कन्धे चासाद्य परशुं धनुर्विद्युद्गणोपमम्।
प्रगृह्य शरमुख्यं च त्रिपुरघ्नं यथा शिवम् ॥२०॥

वे अपने कंधे पर फरसा रखे हुए थे और बिजली की तरह चमचमाता धनुष और बाण लिये हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानों त्रिपुरासुर को मारने के लिए शिवजी आये हों ॥२०॥

तं दृष्ट्वा भीमसङ्काशं ज्वलन्तमिव पावकम्।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे जपहोमपरायणाः ॥२१॥

---

१ पृथग्जनैः—पामरैः (गो०)

दहकती हुई आग के समान उन भयानक रूपधारी परशुराम जी को देख, जपहोमपरायण वसिष्ठ प्रमुख ॥२१॥

सङ्गता मुनयः सर्वे सञ्जजल्पुरथो मिथः ।
कच्चित्पितृवधामर्षी क्षत्रं नोत्सादयिष्यति ॥२२॥

ऋषिगण आपस में कहने लगे कि, पिता के मारे जाने के कारण क्रोध में भर, परशुराम जी क्षत्रियों का नाश करने को तो कहीं नहीं आये ॥२२॥

पूर्वं क्षत्रवधं कृत्वा गतमन्युर्गतज्वरः ।
क्षत्रस्योत्सादनं भूयो न खल्वस्य चिकीर्षितम् ॥२३॥

क्षत्रियों का नाश कर पहले तो इनका क्रोध शान्त हो चुका है। अब क्या पुनः क्षत्रियों का नाश करने पर तुले हैं ॥२३।

एवमुक्त्वाऽर्घ्यमादाय भार्गवं भीमदर्शनम् ।
ऋषयो रामरामेति वचो मधुरमब्रुवन् ॥२४॥

इस प्रकार परस्पर बातचीत कर ऋषिगण अर्घ्य पाद्य ले उनके आगे गये और राम ! राम ! ऐसा मधुर वचन कहने लगे ॥२४॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिदत्तां प्रतापवान् ।
रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्योऽभ्यभाषत ॥२५॥

इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

प्रतापी परशुराम ने ऋषियों का वह आतिथ्य ग्रहण किया। दशरथनन्दन श्रीराम जी से परशुराम जी इस प्रकार बातचीत करने लगे ॥२५॥

बालकाण्ड का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

—:※:—

राम दाशरथे राम वीर्यं ते श्रूयतेऽद्भुतम् ।
धनुषो भेदनं चैव निखिलेन मया श्रुतम् ॥१॥

हे वीर राम! तुम्हारा पराक्रम अद्भुत सुनाई पड़ता है। जनकपुर में तुमने जो धनुष तोड़ा है, उसका सारा वृत्तान्त भी मैंने सुना है ॥१॥

तदद्भुतमचिन्त्यं च भेदनं धनुषस्त्वया ।
तच्छ्रुत्वाऽहमनुप्राप्तो धनुर्गृह्यापरं शुभम् ॥२॥

उस धनुष का तोड़ना विस्मयोत्पादक और ध्यान में न आने योग्य बात है। उसी का वृत्तान्त सुन हम यहाँ आये हैं और एक दूसरा उत्तम धनुष लेते आये हैं ॥२॥

तदिदं घोरसङ्काशं जामदग्न्यं महद्धनुः ।
पूरयस्व शरेणैव स्वबलं दर्शयस्व च ॥३॥

यह भयङ्कर बड़ा धनुष जमदग्नि जी का है (अथवा इस धनुष का नाम जामदग्न्य है)। इस पर रोदा चढ़ा कर और बाण चढ़ा कर, आप अपना बल मुझे दिखलाइए ॥३॥

तदहं ते बलं दृष्ट्वा धनुषोऽस्य प्रपूरणे ।
द्वन्द्वयुद्धं प्रदास्यामि वीर्यश्लाघ्यमहं तव ॥४॥

इस धनुष के चढ़ाने से तुम्हारे बल को हम जान लेंगे और उसकी प्रशंसा कर, हम तुम्हारे साथ द्वन्द्व युद्ध करेंगे ॥४॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजा दशरथस्तदा ।
विषण्णवदनो दीनः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥५॥

परशुराम जी की ये बातें सुन, महाराज दशरथ उदास हो गये और दीनतापूर्वक (अर्थात् परशुराम की खुशामद कर के) हाथ जोड़ कर, कहने लगे ॥५॥

क्षत्ररोषात् प्रशान्तस्त्वं ब्राह्मणश्च महायशाः ।
बालानां मम पुत्राणामभयं दातुमर्हसि ॥६॥

हे परशुराम जी ! आपका क्षत्रियों पर जो कोप था वह शान्त हो चुका, क्योंकि आप तो बड़े यशस्वी ब्राह्मण हैं। (अथवा आप ब्राह्मण हैं अतः क्षत्रियों जैसी गुस्सा को शान्त कीजिए, क्योंकि ब्राह्मणों को कोप करना शोभा नहीं देता।) आप मेरे इन बालक पुत्रों को अभयदान कीजिए ॥६॥

भार्गवाणां कुले जातः स्वाध्यायव्रतशालिनाम् ।
सहस्राक्षे प्रतिज्ञाय शस्त्रं निक्षिप्तवानसि ॥७॥

वेदपाठ में निरत रहने वाले भार्गववंश में उत्पन्न आप इन्द्र के सामने प्रतिज्ञा कर सब हथियार त्याग चुके हैं ॥७॥

स त्वं धर्मपरो भूत्वा कश्यपाय वसुन्धराम् ।
दत्वा वनमुपागम्य महेन्द्रकृतकेतनः ॥८॥

और सारी पृथिवी का राज्य कश्यप को दे, आप तो महेन्द्राचल के वन में तप करने चले गये थे ॥८॥

मम सर्वविनाशाय सम्प्राप्तस्त्वं महामुने ।
न चैकस्मिन् हते रामे सर्वे जीवामहे वयम् ॥९॥

(पर हम देखते हैं कि,) आप हमारा सर्वस्व नष्ट करने के लिए (पुनः) आये हैं। (आप यह जान रखें कि,) यदि कहीं हमारे अकेले राम ही मारे गये तो हममें से कोई भी जीता न बचेगा ॥९॥

ब्रुवत्येवं दशरथे जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
अनादृत्यैव तद्वाक्यं राममेवाभ्यभाषत ॥१०॥

महाराज दशरथ की इन बातों की अवहेलना कर, अर्थात् कुछ भी उत्तर न दे, प्रतापी परशुराम, श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥१०॥

इमे द्वे धनुषी श्रेष्ठे दिव्ये लोकाभिविश्रुते ।
दृढे बलवती मुख्ये सुकृते विश्वकर्मणा ॥११॥

हे राम! ये दोनों धनुष अत्युत्तम हैं और सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। ये बड़े दृढ़ हैं और ये विश्वकर्मा द्वारा बड़ी सावधानी से बनाये गये हैं ॥११॥

अतिसृष्टं सुरैरेकं त्र्यम्बकाय युयुत्सवे ।
त्रिपुरघ्नं नरश्रेष्ठ भग्नं काकुत्स्थ यत्त्वया ॥१२॥

इनमें से एक तो देवताओं ने महादेव जी को युद्ध करने के लिए दिया था, जिससे उन्होंने त्रिपुरासुर को मारा था और उसी को तुमने तोड़ डाला है ॥१२॥

इदं द्वितीयं दुर्धर्षं विष्णोर्दत्तं सुरोत्तमैः ।
तदिदं वैष्णवं राम धनुः परपुरञ्जयम् ॥१३॥

यह दूसरा भी, जो हमारे पास है, बड़ा मजबूत है। इसे देवताओं ने विष्णु भगवान को दिया था। हे राम! यह विष्णु का धनुष भी शत्रुओं के पुर को जीतने वाला है ॥१३॥

समानसारं काकुत्स्थ रौद्रेण धनुषा त्विदम् ।
तदा तु देवताः सर्वाः पृच्छन्ति स्म पितामहम् ॥१४॥

और महादेव जी वाले धनुष के जोड़ का है। एक बार सब देवताओं ने ब्रह्मा जी से पूछा था कि, ॥१४॥

शितिकण्ठस्य विष्णोश्च बलाबलनिरीक्षया ।
अभिप्रायं तु विज्ञाय देवतानां पितामहः ॥१५॥

महादेव जी और विष्णु भगवान् के धनुषों में कौन सा बढ़कर है? ब्रह्मा जी ने देवताओं का अभिप्राय जान कर ॥१५॥

[विरोधं जनयामास तयोः सत्यवतांवरः ।
विरोधे च महद्युद्धमभवद्रोमहर्षणम्] ॥१६॥

सत्यवानों में श्रेष्ठ (ब्रह्मा जी ने) उन दोनों में बड़ा विरोध उत्पन्न कर दिया। इस विरोध का परिणाम यह हुआ कि, उन दोनों में रोमाञ्चकारी घोर युद्ध हुआ ॥१६॥

शितिकण्ठस्य विष्णोश्च परस्परजयैषिणोः ।
तदा तु जृम्भितं शैवं धनुर्भीमपराक्रमम् ॥१७॥

महादेव और विष्णु एक दूसरे को जीतने की इच्छा करने लगे। महादेव जी का बड़ा मजबूत धनुष ढीला पड़ गया ॥१७॥

हुङ्कारेण महादेवस्तम्भितोऽथ त्रिलोचनः ।
देवैस्तदा समागम्य सर्षिसंघैः सचारणैः ॥१८॥

तीन नेत्रों वाले महादेव जी विष्णु जी के हुंकार करने ही से स्तम्भित हो गये। (अर्थात् विष्णु ने शिव को हरा दिया) तब ऋषियों और चारणों सहित सब देवताओं ने वहाँ पहुँच कर, ॥१८॥

याचितौ प्रशमं तत्र जग्मतुस्तौ सुरोत्तमौ ।
जृम्भितं तद्धनुर्दृष्ट्वा शैवं विष्णुपराक्रमैः ॥१९॥

दोनों से प्रार्थना की और युद्ध बन्द करवाया। विष्णु के पराक्रम से शिव के धनुष को ढीला देख, ॥१९॥

अधिकं मेनिरे विष्णुं देवाः सर्षिगणास्तदा ।
धनू रुद्रस्तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशाः ॥२०॥

ऋषियों सहित देवताओं ने विष्णु को (अथवा विष्णु के धनुष को) अधिक पराक्रमी (अथवा दृढ़) समझा। महादेव जी ने इस पर क्रुद्ध हो, अपना धनुष विदेह देश के महायशस्वी ॥२०॥

देवरातस्य राजर्षेर्ददौ हस्ते ससायकम् ।
इदं च वैष्णवं राम धनुः परपुरञ्जयम् ॥२१॥

राजर्षि देवरात के हाथ में बाण सहित दे दिया। हे राम! मेरे हाथ में यह जो धनुष है, यह विष्णु का है और यह भी शत्रुओं के पुर का नाश करने वाला है ॥२१॥

ऋचीके भार्गवे प्रादाद्विष्णुः सन्न्यासमुत्तमम् ।
ऋचीकस्तु महातेजाः पुत्रस्याप्रतिकर्मणः[1] ॥२२॥

---

१ अप्रतिकर्मणः—स्वहवयंपि शापादिप्रतिक्रियारहितस्य। (रा०)

पितुर्मम ददौ दिव्यं जमदग्नेर्महात्मनः ।
न्यस्तशस्त्रे पितरि मे तपोबलसमन्विते ॥२३॥

पूर्वकाल में विष्णु भगवान् ने यह धनुष भृगुवंशी ऋचीक को दिया। ऋचीक ने अपने सहनशील पुत्र व हमारे पिता-महात्मा जमदग्नि को दिया। जब हमारे पिता, शस्त्रधारण करना त्याग, तप करने लगे ॥२२॥२३॥

अर्जुनो विदधे मृत्युं प्राकृतां बुद्धिमास्थितः ।
वधमप्रतिरूपं तु पितुः श्रुत्वा सुदारुणम् ॥२४॥

तब राजा सहस्रबाहु ने मेरे पिता को गँवारपन कर मार डाला। पिता के इस अयोग्य, और अत्यन्त निष्ठुरतापूर्वक मारे जाने का हाल सुन, ॥२४॥

क्षत्रमुत्सादयन् रोषाज्जातं जातमनेकशः ।
पृथिवीं चाखिलां प्राप्य कश्यपाय महात्मने ॥२५॥

जैसे जैसे क्षत्रिय उत्पन्न होते गये, वैसे ही वैसे हमने क्रोध में भर, कितनी ही बार उनको मारा। सारी पृथिवी का राज्य अपने हस्तगत कर, हमने महात्मा कश्यप को ॥२५॥

यज्ञस्यान्ते तदा राम दक्षिणां पुण्यकर्मणे ।
दत्त्वा महेन्द्रनिलयस्तपोबलसमन्वितः ॥२६॥
स्थितोऽस्मि तस्मिंस्तप्यन्वै सुसुखं सुरसेविते ।
अद्य तूत्तमवीर्येण त्वया राम महाबल ॥२७॥

यज्ञ के अन्त में उस पुण्यकर्म की दक्षिणा-स्वरूप दे दिया और हम तब से सुरसेवित महेन्द्राचल पर तप करते हुए, बड़े सुख से रहते हैं। आज हे महाबली राम! तुम्हारे उत्तम पराक्रम ॥२६॥२७॥

श्रुत्वा तु धनुषो भेदं ततोऽहं द्रुतमागतः ।
तदिदं वैष्णवं राम पितृपैतामहं महत् ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गृह्णीष्व धनुरुत्तमम् ॥२८॥

द्वारा धनुष का टूटना सुन, हम तुरन्त यहां चले आये हैं । अब विष्णु-प्रदत्त हमारे पुरुखों के इस उत्तम धनुष को *क्षत्रिय-धर्म में स्थित हो, लीजिए ॥२८॥

योजयस्व धनुःश्रेष्ठे शरं परपुरञ्जयम् ।
यदि शक्नोषि काकुत्स्थ द्वन्द्वं दास्यामि ते ततः ॥२९॥

इति पञ्चसप्ततमः सर्गः ॥

हे शत्रुओं के पुर को जीतने वाले ! इसे सज्जित कर (रोदे से) इस पर बाण चढ़ाइए । हे काकुत्स्थ ! यदि तुम इस पर बाण चढ़ा सके तो (परीक्षार्थ) मैं तुमसे द्वन्द्वयुद्ध करूँगा ॥२९॥

बालकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

— *: —

षट्सप्ततितमः सर्गः

—:o.—

श्रुत्वा तज्जामदग्न्यस्य वाक्यं दाशरथिस्तदा ।
गौरवाद्यन्त्रितकथः पितू राममथाब्रवीत् ॥१॥

---

* क्षत्रियधर्म में स्थित हो; अर्थात् यद्यपि मैंने क्षात्रधर्म अर्थात् युद्ध करना परित्याग कर दिया है, तथापि इस समय मैं युद्ध से पराङ्मुख नहीं होऊँगा । कहीं यह मत कह देना कि, ब्राह्मण को शान्त रहना ही शोभा देता है ।

परशुराम जी के वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता महाराज दशरथ के गौरव से अर्थात् अपने पिता का अदब कर के मन्द-स्वर (धीरे) से बोले ॥१॥

श्रुतवानस्मि यत्कर्म कृतवानसि भार्गव ।
अनुरुध्यामहे ब्रह्मन् पितुरानृण्यमास्थितः ॥२॥

हे परशुराम जी ! आपने जो जो काम किये हैं, वे सब मैं सुन चुका हूँ । आपने जिस प्रकार अपने पिता के मारने वाले से बदला लिया—वह भी मुझे विदित है ॥२॥

वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव ।
अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥३॥

किन्तु आप जो यह समझते हैं कि, हम वीर्यहीन हैं, हममें क्षात्रधर्म का अभाव है, अतः आप जो हमारे तेज का निरादर करते हैं सो आप अब हमारा पराक्रम देखिए ॥३॥

इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य शरासनम् ।
शरं च प्रतिजग्राह हस्ताल्लघुपराक्रमः ॥४॥

यह कह कर और क्रोध मे भर श्रीरामचन्द्र जी ने परशुराम के हाथ से धनुष और बाण झट ले लिये ॥४॥

आरोप्य स धनू रामः शरं सज्यं चकार ह ।
जामदग्न्यं ततो रामं रामः क्रुद्धोऽब्रवीदिदम् ॥५॥

और धनुष पर रोदा चढ़ा कर उस पर बाण चढ़ा, जमदग्नि के पुत्र परशुराम से श्रीरामचन्द्र जी क्रुद्ध हो यह बोले ॥५॥

ब्राह्मणोऽसीति मे पूज्यो विश्वामित्रकृतेन च ।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम् ॥६॥

हे परशुराम जी ! एक तो ब्राह्मण होने के कारण आप मेरे पूज्य हैं, दूसरे आप विश्वामित्र जी के नातेदार (विश्वामित्र जी की बहिन के पौत्र) हैं। अतः इस बाण को आपके ऊपर छोड़ कर, आपके प्राण लेना तो मैं नहीं चाहता ॥६॥

इमां[१] वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमार्जितान् ।
लोकानप्रतिमान् वा ते हनिष्यामि यदिच्छसि ॥७॥

किन्तु इस बाण से या तो आपकी गति को, (यानी पैरों को) या आकाशगमनादि की आपकी शक्ति को अथवा तपस्या द्वारा प्राप्त आपके लोकों को मैं नष्ट अवश्य कर दूँगा। आप जो पसन्द करें वही किया जाय ॥७॥

न ह्ययं वैष्णवो दिव्यः शरः परपुरञ्जयः ।
मोघः पतति वीर्येण[२] बलदर्पविनाशनः ॥८॥

क्योंकि यह वैष्णव बाण है। यह अपनी शक्ति से शत्रु के बल और अभिमान को नष्ट करने वाला है। यह बिना कुछ किये, तरकस में नहीं जाता। यह अमोघ (अर्थात् निष्फल न जाने वाला) है ॥८॥

वरायुधधरं रामं द्रष्टुं सर्षिगणाः सुराः ।
पितामहं पुरस्कृत्य समेतास्तत्र सर्वशः ॥९॥

---

१ इमां—प्रत्यक्षसिद्धां गतिम्। (रा०) २ वीर्येण—स्वशक्त्या। (गो०)

गन्धर्वाप्सरसश्चैव सिद्धचारणकिन्नराः ।
यक्षराक्षसनागाश्च तद्द्रष्टुं महदद्भुतम् ॥१०॥

श्रीरामचन्द्र जी को उस दिव्य धनुष पर बाण धारण किये हुए देख, गन्धर्व, अप्सरा, सिद्ध, चारण, किन्नर, यक्ष, राक्षस और नाग सब ब्रह्मा जी के पीछे-पीछे इस अद्भुत व्यापार को देखने के लिए वहाँ जमा हो गये ॥६॥१०॥

जडीकृते तदा लोके रामे वरधनुर्धरे ।
निर्वीर्यो[1] जामदग्न्योऽथ रामो राममुदैक्षत[2] ॥११॥

श्रीरामचन्द्र के उस दिव्य धनुष को हाथ में लेने से तीनों लोक स्तम्भित हो गये। परशुराम जी के शरीर से वैष्णव तेज निकल गया, इससे वे विस्मित हुए ॥११॥

तेजोभिर्हतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृतः ।
रामं कमलपत्राक्षं मन्दं मन्दमुवाच ह ॥१२॥

श्रीरामचन्द्र जी के तेज से जब परशुराम जी जड़ के समान वीर्यहीन हो गये, तब वे कमलनयन श्रीरामचन्द्र जी से धीरे-धीरे कहने लगे ॥१२॥

कश्यपाय मया दत्ता यदा पूर्वं वसुन्धरा ।
विषये[3] मे न वस्तव्यमिति मां कश्यपोऽब्रवीत् ॥१३॥

जब यज्ञान्त में हमने सारी पृथिवी कश्यप मुनि को दी, तब उन्होंने हमसे कहा था कि, आज से तुम हमारी भूमि या राज्य में न वसना ॥१३॥

---

१ निर्वीर्य —निर्गतवैष्णवतेजः । (गो०) । २ उदैक्षत विस्मित इति-शेषः । (गो०) ३ विषये—देशे । (रा०)

सोऽहं गुरुवचः कुर्वन् पृथिव्यां न वसे निशाम् ।
तदा प्रतिज्ञा काकुत्स्थ कृता भूः कश्यपस्य हि ॥१४॥

अतः हे काकुत्स्थ ! कश्यप जी के कथनानुसार, या उनकी आज्ञा को मान, मैं रात मे पृथिवी पर नहीं रहता । क्योंकि तब से हमने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार यह पृथिवी* कश्यप ही की कर दी है ॥१४॥

तदिमां त्वं गतिं वीर हन्तुं नार्हसि राघव ।
मनोजवं गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥१५॥

हे राघव ! अतः आप हमारी सर्वत्र की गति (लोकों में आने-जाने की शक्ति को) नष्ट न कीजिए जिससे हमारी वेगवती चाल बनी रहे और हम शीघ्र पर्वतों मे उत्तम महेन्द्राचल पर पहुँच जाया करें। (यदि कहीं यह चली गई तो प्रतिज्ञाभङ्ग करने का पातक और सिर पर चढ़ेगा । प्रतिज्ञा यह कि, काश्यपी पर न रहेंगे) ॥१५॥

लोकास्त्वप्रतिमा राम निर्जितास्तपसा मया ।
जहि तान् शरमुख्येन मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥१६॥

हे राम ! किन्तु हमने तप द्वारा जो लोक जीत रखे हैं (अर्थात् जिनकी प्राप्ति का अधिकार सम्पादन कर रखा है) उनको इस विशेष बाण से हनन कीजिए। अब इसमे विलम्ब न कीजिए ॥१६॥

अक्षयं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरोत्तमम् ।
धनुषोऽस्य परामर्शात्[1] स्वस्ति तेऽस्तु परन्तप ॥१७॥

---

१ परामर्शात्—ग्रहणात् (गो०)

* पृथिवी का दूसरा नाम काश्यपी तभी से पड़ा है ।

हे परन्तप ! आपके द्वारा इस धनुष के ग्रहण किये जाने से, हमने अच्छी तरह जान लिया, कि आप अक्षय (अविनाशी) हैं, मधु दैत्य के मारने वाले हैं और सब देवताओं में उत्तम अर्थात् विष्णु हैं। आपकी जय हो ! ॥१७॥

एते सुरगणाः सर्वे निरीक्षन्ते समागताः ।
त्वामप्रतिमकर्माणमप्रतिद्वन्द्व[1]माहवे ॥१८॥

ये सब देवतागण आपके दर्शन करने आये हुए हैं। आप सब कामों के करने मे चतुर और समर में अपने प्रतिद्वन्द्वी का नाश करने वाले है ॥१८॥

न चेयं मम काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति ।
त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः ॥१९॥

हे राघव ! आप तीनों लोकों के स्वामी हैं। अत. यदि हम आपसे हार भी गये तो इसकी हमें लज्जा नहीं है ॥१९॥

शरमप्रतिमं राम मोक्तुमर्हसि सुव्रत ।
शरमोक्षे गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥२०॥

हे राम ! अब आप इस अद्वितीय बाण को छोड़िए। बाण के छूटते ही मैं पर्वतोत्तम महेन्द्राचल पर चला जाऊँगा ॥२०॥

तथा ब्रुवति रामे तु जामदग्न्ये प्रतापवान् ।
रामो दाशरथिः श्रीमांश्चिक्षेप शरमुत्तमम् ॥२१॥

जब प्रतापी परशुराम ने श्रीरामचन्द्र से इस प्रकार कहा, तब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने उस उत्तम बाण को छोड़ दिया ॥२१॥

---

१ अप्रतिद्वन्द्व—प्रतिभट-रहितं (गो०)

स हतान् दृश्य रामेण स्वांल्लोकांस्तपसाऽऽर्जितान् ।
जामदग्न्यो जगामाशु महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥२२॥

तप द्वारा इकट्ठे किये हुए लोकों* को बाण से नष्ट हुआ देख, परशुराम जी तुरन्त महेन्द्राचल पर चले गये ॥२२॥

ततो वितिमिराः सर्वा दिशश्चोपदिशस्तथा ।
सुराः सर्षिगणा रामं प्रशशंसुरुदायुधम् ॥२३॥

सब दिशाएँ और विदिशाएँ पूर्ववत् प्रकाशमान हो गयीं अर्थात् अन्धकार जो छाया हुआ था, वह दूर हो गया। ऋषि और देवता धनुष-बाण-धारी श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा करने लगे ॥२३॥

रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्यः प्रशस्य च ।
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा जगामात्मगतिं[1] प्रभुः ॥२४॥

इति षट्सप्ततितमः सर्गः ॥

जमदग्नि के पुत्र परशुराम, दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा कर के तथा उनकी परिक्रमा कर, अपने स्थान को चले गये ॥२४॥

बालकाण्ड का छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

---

१ आत्मगतिं—स्वस्थानं। (गो०)

* लोकों से अभिप्राय यहाँ पर तप के उस फल से है, जो तप द्वारा परशुराम जी ने सम्पादन किया था। अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी ने परशुराम की तपस्या का वह फल, जिससे उन्होंने अनेक लोकों की प्राप्ति का अधिकार प्राप्त किया था, नष्ट कर दिया।

सप्तसप्ततितमः सर्गः

—:❀:—

गते रामे प्रशान्तात्मा[1] रामो दाशरथिर्धनुः ।
वरुणायाप्रमेयाय ददौ हस्ते[2] ससायकम् ॥१॥

विगत-क्रोध परशुराम जी के चले जाने के बाद, दशरथनन्दन श्रीराम जी ने अपने हाथ का बाण सहित वह धनुष वरुण जी को, धरोहर की तरह, सौंप दिया ॥१॥

अभिवाद्य ततो रामो वसिष्ठप्रमुखानृषीन् ।
पितरं विह्वलं दृष्ट्वा प्रोवाच रघुनन्दनः ॥२॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने वसिष्ठ आदि ऋषियों को प्रणाम किया और महाराज दशरथ को घबड़ाया हुआ देख, उनसे बोले ॥२॥

जामदग्न्यो गतो रामः प्रयातु चतुरङ्गिणी ।
अयोध्याभिमुखी सेना त्वया नाथेन पालिता ॥३॥

परशुराम जी चले गये । अब आप अपनी चतुरङ्गिणी सेना को अयोध्यापुरी की ओर चलने की आज्ञा दीजिए ॥३॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा राजा दशरथः सुतम् ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य मूर्ध्नि चाघ्राय राघवम् ॥४॥

श्रीराम जी का यह वचन सुन, महाराज दशरथ ने अपने पुत्र श्रीरामचन्द्र को छाती से लगा लिया और उनका माथा सूँघा ॥४॥

---

१ प्रशान्तात्मा—गतक्रोध आत्माचित यस्य । (रा०) २ हस्ते—स्वहस्ते । (रा०)

गतो राम इति श्रुत्वा हृष्टः प्रमुदितो नृपः ।
पुनर्जातं तदा मेने पुत्रमात्मानमेव च ॥५॥

परशुराम जी का जाना सुन महाराज दशरथ परम प्रसन्न हुए और अपना तथा अपने पुत्र का पुनर्जन्म हुआ माना ॥५॥

चोदयामास तां सेनां जगामाशु ततः पुरीम् ।
पताकाध्वजिनीं रम्यां जयोद्घुष्टनिनादिताम् ॥६॥

और सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा दी। महाराज दशरथ बड़ी जल्दी ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित और जयघोष से निनादित अयोध्यापुरी को गये ॥६॥

सिक्तराजपथां रम्यां प्रकीर्णकुसुमोत्कराम् ।
राजप्रवेशसुमुखैः[1] पौरैर्मङ्गलवादिभिः[2] ॥७॥

अयोध्यापुरी की सड़कें जल से छिड़की हुई थीं और उन पर पुष्प बिखरे हुए थे। वे बड़ी रम्य जान पड़ती थीं। महाराज के आगमन से प्रसन्नमुख पुरवासी अनेक प्रकार के आशीर्वादात्मक वचन बोल रहे थे ॥७॥

सम्पूर्णां प्राविशद्राजा जनौघैः समलङ्कृताम् ।
पौरैः प्रत्युद्गतो दूरं द्विजैश्च पुरवासिभिः ॥८॥

ऐसी सजी हुई और बन्धुबान्धवों से भरी पुरी अयोध्यापुरी में महाराज दशरथ ने प्रवेश किया और नगर से आगे बढ़, पुरवासी ब्राह्मणों ने उनकी अगमानी की ॥८॥

---

१ सुमुखैः—विकसनमुखैः । (गो०) २ मङ्गल—आशीर्वचनं वक्तुं शीलमेषामस्तीति मङ्गलवादिभिः । (गो०)

पुत्रैरनुगतः श्रीमान् श्रीमद्भिश्च[1] महायशाः ।
प्रविवेश गृहं राजा हिमवत्सदृशं प्रियम् ॥६॥

महायशा महाराज दशरथ, अपने राजकुमारों और बहुओं सहित हिमालय की तरह विशाल प्रिय राजभवन में गये ॥६॥

ननन्द सजनो[2] राजा गृहे कामैः[3] सुपूजितः ।
कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयी च सुमध्यमा ॥१०॥

वधूप्रतिग्रहे युक्ता याश्चान्या राजयोषितः ।
ततः सीतां महाभागामूर्मिलां च यशस्विनीम् ॥११॥

कुशध्वजसुते चोभे जगृहुर्नृपपत्नयः ।
मङ्गलालेपनैश्चैव शोभितः क्षौमवाससः ॥१२॥

प्रसन्नचित्त हो राजभवन में पहुँचने पर, महलवासी नाते-रिश्तेदारों ने महाराज का फूलमाला-चन्दनादि से भली भाँति सत्कार किया। उधर कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी तथा अन्य रानियाँ बहुओं का परीछा करने में लगीं। रानियाँ महाभागा सीता, यशस्विनी ऊर्मिला और कुशध्वज की दोनों बेटियों को महलों में लिवा ले गयी और वहाँ उनके मङ्गल-लेप अर्थात् ऐपन और कुङ्कुमादि लगाये। फिर उनको अच्छे-अच्छे रेशमी वस्त्र धारण करवा ॥१०॥११॥१२॥

---

१ श्रीमद्भि —दारपरिग्रहादधिकलक्ष्मीवद्भि पुत्रै । (रा०) २ जन —बन्धुजन. । (गो०) ३ कामै.—स्रक्चन्दनादिभिः । (रा०)

देवतायतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन् ।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा ॥१३॥

और तुरन्त देवमन्दिरों में ले जाकर, उनसे देवताओं की पूजा करवायीं। तदनन्तर सब बहुओं ने सासों तथा अन्य बड़ी बूढ़ी स्त्रियों को प्रणाम किया ॥१३॥

[टिप्पणी—१३ वें श्लोक में "देवतायत" शब्द को देख यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि, रामायणकाल में भी देवताओं के मन्दिर बनाये जाते थे और उस समय भी भारतवर्ष में मूर्तिपूजा प्रचलित थी ।]

रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिः सहिता रहः ।
कृतदाराः कृतास्त्राश्च सधनाः ससुहृज्जनाः ॥१४॥

तदनन्तर वे सब अपने अपने पतियों के साथ राजभवन में जा हर्षित हो निवास करने लगीं। उधर श्रीरामचन्द्रादि सब राजकुमार विवाहित हो तथा सब अस्त्रशस्त्र चलाने और रोकने की विद्या में निपुण एवं धनवान् हो, अपने इष्ट-मित्रों सहित ॥१४॥

शुश्रूषमाणाः पितरं वर्तयन्ति नरर्षभाः ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा दशरथः सुतम् ॥१५॥

भरतं कैकयीपुत्रमब्रवीद्रघुनन्दनः ।
अयं केकयराजस्य पुत्रो वसति पुत्रक ॥१६॥

त्वां नेतुमागतो वीर युधाजिन् मातुलस्तव ।
श्रुत्वा दशरथस्यैतद्भरतः कैकयीसुतः ॥१७॥

गमनायाभिचक्राम शत्रुघ्नसहितस्तदा ।
आपृच्छ्य पितरं शूरो रामं चाक्लिष्टकारिणम् ॥१८॥
मातृश्चापि नरश्रेष्ठः शत्रुघ्नसहितो ययौ ।
गते च भरते रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥१९॥

पिता की सेवा करते हुए रहने लगे। कुछ दिनों बाद महाराज दशरथ अपने पुत्र कैकेयीनन्दन भरत जी से बोले। यह तुम्हारे मामा युधाजित् तुम्हें ले जाने के लिए आये हुए हैं। कैकेयीनन्दन भरत जी महाराज दशरथ के यह वचन सुन शत्रुघ्न जी के साथ ननिहाल जाने को तैयार हो गये। तदनन्तर अपने वीरवर पिता और अति कारुणिक भाई श्रीरामचन्द्र तथा कौशल्यादि माताओं से पूछ, वे शत्रुघ्न को साथ ले चल दिये। भरत जी के जाने पर, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ॥१५॥१६॥१७॥१८॥१९॥

पितरं देवसङ्काशं पूजयामासतुस्तदा ।
पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः ॥२०॥
चकार रामो धर्मात्मा प्रियाणि च हितानि च ।
मातृभ्यो मातृकार्याणि रामः परमयन्त्रितः ॥२१॥

अपने देव-समान पिता की सेवा करने और अपने पिता से पूछ-पूछ कर पुरवासियों के प्रिय व हितकर सब कार्य करते थे। इतना ही नहीं, वे माताओं के भी सब काम बड़ी अच्छी तरह किया करते थे ॥२०॥२१॥

गुरूणां गुरुकार्याणि काले काले चकार ह ।
एवं दशरथः प्रीतो ब्राह्मणा नैगमास्तदा[1] ॥२२॥

---

१ नैगमा —वणिज. । गो०)

वे गुरुओं की भी सेवा समय-समय पर करते थे। श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वर्ताव से क्या महाराज दशरथ, क्या ब्राह्मण और क्या बनिए सभी सन्तुष्ट थे ॥२२॥

रामस्य शीलवृत्तेन सर्वे विषयवासिनः[१] ।
तेषामतियशा लोके रामः सत्यपराक्रमः ॥२३॥

श्रीरामचन्द्र जी के शील स्वभाव से सब ही पुरवासी सन्तुष्ट थे। राजकुमारों मे सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी का नाम बहुत अधिक व्याप्त था अर्थात् वे प्रसिद्ध हो गये थे ॥२३॥

स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ।
रामस्तु सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून्[२] ॥२४॥

स्वयम्भू (ब्रह्मा) की तरह वे सब प्राणियों से बढ़ कर गुणवान समझे जाते थे। श्रीरामचन्द्र जी ने बहुत वर्षों (बारह) तक सीता जी के साथ विहार किया ॥२४॥

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति ।
मनस्वी तद्गतमना नित्यं हृदि समर्पितः ॥२५॥

श्रीरामचन्द्र जी को, ब्राह्मविवाह से प्राप्त जानकी जी अति प्यारी थीं और वे उन पर आसक्त थे तथा उनको बहुत चाहते थे ॥२५॥

गुणाद्रूपगुणाच्चापि प्रीतिर्भूयोऽभ्यवर्धत ।
तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते ॥२६॥

रूप, गुण और शील के प्रभाव से प्रीति, सदा बढ़ा करती है और ये सब बातें सीता जी में श्रीरामचन्द्र जी से दूनी थीं ॥२६॥

---

१ विषयवासिनः प्रीता इति शेषः। २ बहूनृतून्—द्वादशवर्षाणीत्यर्थः इति बहवः। (रा०)

तया स राजर्षिसुतोऽभिरामया
समेयिवानुत्तमराजकन्यया ।
अतीव रामः शुशुभेऽतिकामया[1] ।
विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः[2] ॥२८॥

इति सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसहस्रिकायां संहितायां
बालकाण्डः समाप्तः ॥

राजर्षि जनक की दुहिता जानकी जी के साथ श्रीरामचन्द्र जी इस प्रकार अति शोभा को प्राप्त हुए, जिस प्रकार अमरेश्वर (देवताओं के स्वामी) भगवान् आदिविष्णु श्रीलक्ष्मी जी के साथ सुशोभित होते हैं ॥२८॥

बालकाण्ड का सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

|| श्रीः ||

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥१॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥२॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥३॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥४॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥५॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥६॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥७॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपते. ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥८॥

पितृभक्ताय सवत भ्रातृभि सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥९॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥१०॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥११॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामारशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥१२॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥१३॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥१४॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥१५॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥१६॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमै. ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥१७॥

—❀—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥१॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥२॥
लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥३॥
मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥४॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥५॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्य. परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥१॥
काले वर्षतु पर्जन्य, पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥२॥
अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥३॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥४॥

शृण्वन् रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥५॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥६॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे यमभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥७॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥८॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥९॥

अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥१०॥

त्रीन् विक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥११॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥१२॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥१३॥

—※—

मुद्रक—राधेश्याम जायसवाल, श्याम आर्ट प्रेस, इलाहाबाद ।

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥४॥

शृण्वन् रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥५॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥६॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥७॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥८॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥९॥

अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥१०॥

त्रीन् विक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥११॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥१२॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥१३॥

—※—

मुद्रक—राधेश्याम जायसवाल, श्याम आर्ट प्रेस, इला